[illegible]-[illegible]

[illegible]

[illegible] [illegible]

आगामी विज्ञप्ति

—इस अंक के उपरान्त शीघ्र ही सरस्वती संवाद का इण्टर, बी० ए० एम० ए० की कक्षाओं का ध्यान में रखकर (केवल परीक्षोपयोगी लेख) विद्यार्थी अंक मार्च ५८ में प्रकाशित किया जा रहा है। जो कि हमारे यहाँ से ता० १-३-५६ को निश्चय ही भेज दिया जायगा।

मार्च ५८ के उपरान्त हम शीघ्र ही गद्यांक प्रकाशित कर रहे हैं। जिसमें कि गद्य साहित्य का इतिहास होगा प्रमुख २ गद्यकारों की शैलियों पर निबन्ध होंगे तथा निबन्ध कहानी उपन्यास एकांकी—नाटक और आलोचना के क्रमिक विकास पर और सम्बन्धित साहित्यकारों पर निबन्ध होंगे यह अंक भी जयशङ्कर प्रसाद अङ्क की भांति ही प्रकाशित करने की योजना है। जो कि समस्त गद्य साहित्य में पूर्ण होगा। अतः आप इसके प्रचार और प्रसार में सहयोग दीजिए जैसी कि हम सदैव से आपसे निवेदन करते आए हैं। आपके सहयोग पर ही इस अङ्क को भी सफल बना सकेंगे एक पाठक कम से कम दो ग्राहक अवश्य बनाकर भेजें तो निश्चय ही सरस्वती संवाद इस भार को पूरा कर आपकी सेवा अधिकतम करता रहेगा। आपको यह तो ज्ञात ही है कि इसमें न तो अनावश्यक सामग्री ही दी जाती है और न विज्ञापन। केवल ठोस सामग्री ही देना हमारा नियम है। आशा है आप शीघ्र अपना अतुलनीय सहयोग देंगे।

और

आप हमको इस प्रकार भी सहयोग दे सकते हैं

आप अपने पुस्तकालय या कालेज के लिए या जहां आप पुस्तकें खरीदवा सकते हों वहां आप हमारे प्रकाशनों की पुस्तकों के लिए प्रयत्न कर सकते हैं। इससे हमें प्रकाशन में उत्साह और बल भी प्राप्त होगा। आशा है आप अन्तिम पृष्ठ की सूची के अनुसार आर्डर भिजवायेंगे। हमारा सभी उच्चकोटि के लेखकों द्वारा लिखित पुस्तकें हैं। अन्य पुस्तकों को अपेक्षा हमारी पुस्तकों का मूल्य भी कम होता है।

—प्रकाशक

सरस्वती संवाद

(हिन्दी का आलोचनात्मक मासिक पत्र)

[जयशंकर प्रसाद अङ्क]

सम्पादक

डा० शम्भुनाथ पाण्डेय, एम० ए०, पी एच० डी०

प्रबन्ध—सम्पादक

प्रतापचन्द

वर्ष ६] [अङ्क ६ व ७ वाँ

जनवरी ५८ व फरवरी ५८

वार्षिक मूल्य ४)] [इस प्रति का दो रुपया

मकर संक्रान्ति संवत् २०१४ वि०

सम्पादकीय

'प्रसाद अंक' पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने में मुझे हर्ष है। 'संवाद' के प्रकाशक श्री प्रतापचन्द्र के अथक परिश्रम एवं कृपालु लेखकों की उदारता के सघटित परिणामस्वरूप यह अंक प्रसाद जी के व्यक्तित्व एवं उनकी रचनाओं का सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करता है। अंक एक दूसरी दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इसे जहाँ आचार्यकोटि के समीक्षकों ने अपने लेखों द्वारा उपकृत किया है वहाँ नवोदित विवेचकों ने भी अपने योगदान से समृद्ध बनाया है। परिपक्व विचार एवं संतुलित दृष्टि और नवीन कल्पना एवं नई उमंग का यह गंगा यमुनी संगम इस अंक की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता मुझे प्रतीत होती है।

प्रसाद अङ्क के लिए श्रद्धालु एवं उत्साही लेखकों ने इतनी अधिक सामग्री प्रेषित की है उसके द्वारा प्रस्तुत अङ्क जैसे तीन अङ्क तैयार हो सकते थे। हमें खेद है कि अपनी सामर्थ्य के अनुकूल हम कुछ ही लेखों को यहाँ प्रकाशित कर सके। शेष सामग्री को समय-समय पर प्रकाशित करने की चेष्टा की जायगी। स्वर्गीय श्री जयशंकर 'प्रसाद' के प्रति श्रद्धा एवं संवाद के प्रति लेखकों की स्नेहभावना ही इस पुष्कल सामग्री को उपलब्ध-करने में समर्थ हुई है। कुछ लेख तो इतने सुन्दर थे कि उनको प्रकाशित करने के लिए हम अन्त तक लालायित रहे किन्तु वे दीर्घ इतने थे कि हम स्थान-संकोच के कारण सकोच करके ही रह गए। हम आशा करते हैं कि विद्वान लेखक 'संवाद' को अपना समझकर ही अपनाते रहेंगे और इसके कलेवर के अनुकूल छोटे छोटे लेख प्रेषित करेंगे।

हमारे पास लेखकों और पाठकों, दोनों की ही शिकायत आती रहती है कि प्रकाशित सामग्री में अशुद्धियाँ रह जाती हैं। प्रस्तुत अङ्क भी इसका अपवाद नहीं। मैं इस अपराध के लिए केवल क्षमा याचना कर सकता हूँ। निदान मेरी समझ में अभी तक नहीं आया। कहीं कहीं तो पाण्डुलिपि के शुद्ध शब्दों को कुछ और शोध करके इस प्रकार अशुद्ध किया गया है उनको पढ़कर लेखक की अयोग्यता का भ्रम हो सकता है जैसे :—'शाश्वत' को 'शाश्वत्' बना देना। अस्तु।

प्रसाद जी हिन्दी-साहित्य कोष की अक्षय निधि हैं। उनका सम्मान आज भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी है। गत वर्ष प्रसाद जयन्ती के अवसर पर रूस में साहित्यिक गोष्ठी का आयोजन किया गया था जो उनके गौरव का प्रतीक था। इस वर्ष भी उनकी जयन्ती के पावन अवसर पर अनेक रूप में श्रद्धाञ्जलियाँ प्रस्तुत की जायगी। यह अङ्क उसी श्रद्धाजलि का एक तुच्छ फूल है।

—शम्भुनाथ पाण्डे

विषय सूची

पृष्ठ

प्रसाद का जीवन और कृतियाँ—

जयशंकर 'प्रसाद' का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित घराने में माघ शुक्ला दशमी संवत् १६४६ में हुआ था। इनका परिवार 'सुँघनी साहू' के नाम से विख्यात था। इनके पिता का नाम श्री देवीप्रसाद जी साहू था। प्रसाद जी के परिवारजन धनी होने के साथ साथ उदार भी थे। प्रसाद जी के पितामह इतने उदारशील थे कि गंगा स्नान से आते समय अपने पहिनने के वस्त्र भी दान में भिखारियों को दे देते थे। उदार होने के साथ ही साथ प्रसाद जी के व्यक्ति विद्यानुरागी भी थे। उनके घर पर कवियों का समाज सदैव जमा रहता था। बालक प्रसाद के अन्तस में इसी वातावरण ने कवि बनने के संस्कार जमा दिये।

प्रसाद जी की स्कूली शिक्षा बहुत कम थी। स्कूल में उन्होंने अंग्रेजी की आँठवीं कक्षा तक शिक्षा पाई थी, किन्तु घर पर ही उन्हें संस्कृत, हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेजी की खूब शिक्षा मिली थी। बाद में उन्होंने स्वतन्त्र रूप से भी संस्कृत, उर्दू हिन्दी साहित्य का गहन अध्ययन किया। दर्शन का भी गम्भीर अध्ययन उन्होंने किया। किन्तु जिस शिक्षा ने उन्हें इतना महान बनाया वह किताबी शिक्षा मात्र ही न थी अपितु इस दुनिया से मिलने वाली शिक्षा का भी बड़ा हाथ था। प्रसाद जी को जीवन में निरन्तर संघर्ष का सामना करना पड़ा और उन्हीं संघर्षों के बीच में उनका व्यक्तित्व निखर कर महान बन सका था। जैसाकि पाश्चात्य विद्वान (Nicholson) ने एक स्थान पर लिखा है :—

"Personality is a State of tension and can Continue only if that state is maintained"

अर्थात् संघर्षों के बीच में रहने से ही व्यक्तित्व निखरता है। प्रसाद जी का कवि-व्यक्तित्व भी निरन्तर संघर्ष के जूझने से निखर पाया है। अपनी बाल्यावस्था में ही उन्हें बड़े बड़े संघर्षों का सामना करना पड़ा। बारह वर्ष की उम्र में ही प्रसाद जी के पिताजी का देहान्त हो गया और इसके तीन वर्ष पश्चात् ही उनकी माता जी चल बसीं। पिताजी अपने मरने के बाद बहुत बड़ा कर्ज छोड़ गये थे, व्यापार भी बहुत शिथिल हो गया था। घर की बागडोर प्रसाद जी के बड़े भाई ने अपने हाथ में ली किन्तु दो वर्ष बाद उनका भी देहान्त

हो गया। वास्तव में ये ऐसे धक्के थे जिन्हें एक के बाद एक सहना किसी धैर्यवान व्यक्ति का ही कार्य था। प्रसाद जी के ऊपर घर का सारा बोझ आ गया। पैतृक सम्पत्ति के बँटवारे के बारे में पारिवारिक कलह ने उग्र रूप धारण कर लिया था। इसी बीच में प्रसाद जी की दो पत्नियाँ भी एक के बाद एक चल बसीं। इस प्रकार प्रसाद जी का जीवन निरन्तर संघर्षमय रहा है।

प्रसाद जी पन्द्रह वर्ष की अवस्था से ही लिखने लगे थे। संवत् १९६३ में उनकी सबसे पहिली रचना बनारस के पत्र 'भारतेन्दु' में प्रकाशित हुई थी। इसी बीच में उन्होंने अपनी रचना हिन्दी की प्रतिनिधि पत्रिका 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी थी किन्तु उसे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लौटा दी थी। प्रसाद जी इससे खिन्न हो गये और उन्होंने स्वयं 'इन्दु' मासिक पत्रिका का प्रकाशन किया जिसका प्रबंध उन्होंने अपने भानजे अम्बिकाप्रसाद गुप्त को सौंप दिया था। 'इन्दु' में ही उनकी रचनाएँ नियमित रूप से निकलने लगीं। यह पत्रिका सन् १९०९ से १९१९ तक चली और फिर इसके बाद इसे बन्द करना पड़ा। घर के काम काज और दुकान से ही उन्हें बहुत कम अवकाश मिलता था। इतने व्यस्त होने पर भी वे साहित्य सृजन में निरन्तर दत्तचित्त रहते थे। अपने जीवन के अन्तिम काल में उन्हें कुछ अवकाश मिला था और इसलिये वे निश्चित योजना के अनुसार साहित्य का सृजन करना चाहते थे। किन्तु जैसा कि (Menander) ने लिखा है —

'He whom the Gods love, dies young'

'जो यहाँ प्रिय होता है वह ईश्वर को भी प्रिय होता है।' यही प्रसाद जी के बारे में घटित हुआ। ४६-४७ वर्ष की अल्प-आयु में ही उनका स्वर्गवास हो गया। हिन्दी का रवीन्द्र रवीन्द्र की आयु न पा सका और हिन्दीप्रेमियों को बिलखता हुआ छोड़ गया। माँ भारती का वह लाड़ला तो असमय ही अपनी वाणी को मूक करके कैलाशवास के लिये चला गया।

प्रसाद जी उन कवियों में से थे जिन्हें जन्मजात कवि कहा जाता है। डा० राजेन्द्र नारायण शर्मा ने एक स्थान पर लिखा है कि प्रसाद जी जब शिशु थे तब अन्नप्राशन संस्कार के बाद उन्होंने अनेक बच्चों को लुभाने वाली वस्तुओं में से भी केवल वहाँ रखी लेखनी को उठा लिया। उनका लेखनी को उठाना ही उनके कवि होने का परिचायक था। दस वर्ष की छोटी सी उम्र में 'कलाधर' उपनाम से उन्होंने एक कविता रचकर अपने गुरु 'रसमय सिद्ध' को दिखाई थी। १५-१६ वर्ष की उम्र में वे खूब लिखने लगे थे। प्रारम्भ में वे व्रज भाषा

में कविता करते थे किन्तु बाद में वे खड़ी बोली में करने लगे। उनकी ब्रजभाषा की प्रारम्भिक रचनाएँ 'चित्राधार' में संग्रहीत हैं। अपनी साहित्यिक प्रतिभा से उन्होंने हिन्दी साहित्य के प्रत्येक अंग को पुष्ट किया है। कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास, निबंध आदि सभी क्षेत्रों में उनकी देन अद्वितीय है। कवि की दृष्टि से आधुनिक युग के कवियों में वे सबसे आगे दिखाई पड़ते हैं। नाटककार की दृष्टि से हिन्दी नाटककारों में उनका स्थान सर्वोच्च है। कहानीकार की हैसियत से उनकी कहानियाँ हिन्दी में अपना विशेष महत्व रखती हैं। उपन्यास के क्षेत्र में यथार्थवादी धारा के वे प्रवर्तक हैं तथा ऐतिहासिक उपन्यासों का सूत्रपात भी उनके अधूरे उपन्यास इरावती से होता है। निबंधकार की दृष्टि से उनके छायावाद, रहस्यवाद, काव्यकला आदि पर लिखे निबंध उनके गम्भीर अध्ययन के परिचायक हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने चम्पू गीतिनाट्य आदि भी लिखे हैं। उनकी साहित्यिक कृतियों का विवरण निम्न प्रकार है—

कविता—(१) चित्राधार (२) करुणालय (३) प्रेम पथिक (ब्रजभाषा में) (४) प्रेम पथिक (खड़ी बोली में) (५) महाराणा का महत्व (६) कानन कुसुम (७) झरना (८) आँसू (९) लहर (१०) कामायनी।

नाटक—(१) सज्जन (२) कल्याणी परिणय (३) प्रायश्चित (४) राज्यश्री (५) विशाख (६) अजातशत्रु (७) जनमेजय का नागयज्ञ (८) कामना (९) स्कन्द गुप्त (१०) एक घूँट (११) चन्द्रगुप्त (१२) ध्रुव स्वामिनी।

कहानी—(१) छाया (२) प्रतिध्वनि (३) आँधी (४) आकाशदीप और (५) इन्द्रजाल। इसके अतिरिक्त चित्राधार' में भी कुछ कहानियाँ संग्रहीत हैं।

उपन्यास—(१) कंकाल (२) तितली (३) इरावती (अपूर्ण)

निबन्ध—'काव्य कला तथा अन्य निबंध' पुस्तक में संग्रहीत। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'उर्वशी', 'प्रेमराज्य' चम्पू भी लिखे हैं।

उनकी इतिहास सम्बन्धी खोजें 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', अजातशत्रु' नाटकों की भूमिकाओं में और 'इन्द्र' नामक निबंध में संग्रहित हैं। प्रसाद जी जीवन पर्यन्त संघर्षों से जूझते रहे, अंतिम समय में उन्हें कुछ अवकाश मिल सका था और इसी के फलस्वरूप वे एक निश्चित योजना के अनुसार साहित्यिक कृतियों को देखा चाहते थे। इस योजना के बारे में उनके मित्र वाचस्पति पाठक ने लिखा है— लिखने पढ़ने का काम उनका अव्यवस्थित ही रहा। कभी जमकर कुछ लिखा ही नहीं। आज लिखा तो महीनों नहीं। चीज पूरी हो जाये यह भाग्य की ही बात है। लोग इसके लिये बराबर याद दिलाते—'इसे पूरा कर दीजिए,

यह लिख दीजिये।' और वह हूँ, हाँ करके बात खत्म कर देते। अपनी अन्तिम बीमारी से पूर्व एक ऐसी ही बातचीत चलने पर उन्होंने मुझ से कहा "तुम बहुत तंग करते हो तो अब हमने भी निश्चय किया है कि 'इन्द्र' महाकाव्य (जिसको चार भागों में लिखने की तैयारी वह बहुत दिनों से कर रहे थे, और सच तो यह है कि 'कामायनी' उसी के बीच से निकल पड़ी एक चीज थी) के साथ साथ मैं तुम्हें प्रतिमाह एक सामाजिक नाटक और एक उपन्यास देता चलूँगा।" इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि वे इस वर्ष भी और जीवित रहते तो अनेक बहुमूल्य कृतियाँ हिन्दी-साहित्य को भेंट करते। यदि प्रसाद जी कवीन्द्र रवीन्द्र की उम्र पाते तो निश्चय ही वे रवीन्द्र के समकक्ष आ जाते। वैसे भी हिन्दी में यदि कोई रवीन्द्र हो सकता है तो वह प्रसाद जी हैं। प्रसाद जी ही आधुनिक हिन्दी कविता में ऐसे कवि हुए हैं जिन्हें हम आसानी से विश्व के अन्य कवियों के समकक्ष रख सकते हैं। उनका महाकाव्य 'कामायनी' विश्व के महाकाव्यों की पंक्ति में आसानी से रखा जा सकता है।

'प्रसाद' का व्यक्तित्व और कृतित्व

—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

स्वर्गीय 'प्रसादजी' हिन्दी के युग निर्माता कवि और साहित्यकार हुए हैं। उनका निधन १५ नवम्बर सन् १९३७ को हुआ था, परन्तु इन बीस वर्षों में उनकी कीर्ति लेशमात्र मलिन नहीं हुई है। इन वर्षों के उनके सम्बन्ध में अनेकानेक निबंध और पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। उनके साहित्य के विविध अंगों पर तथ्यपूर्ण अनुशीलन हुए हैं। कतिपय विश्वविद्यालयों में उन पर तथा छायावादी युग पर, जिसके वे एक प्रधान प्रतिनिधि थे, साहित्यिक शोधकार्य भी किया गया है जिससे उनकी रचनाओं और उनके व्यक्तित्व का महत्व प्रकाश में आया है। यह ठीक है कि अभी हम प्रसाद जी के जीवन और व्यक्तित्व के इतने समीप हैं कि अपने देश की साहित्यिक परंपरा और इतिहास में उनको वास्तविक देन का निरूपण और निश्चय करना हमारे लिए कठिन कार्य है, परन्तु प्रसाद के जीवन और कृतित्व के संबंध में जितनी भी प्रामाणिक सामग्री एकत्र की जा सके, की जानी चाहिए। समय बीत जाने पर उनकी प्रत्यक्ष जानकारी संबंधी संस्मरण नहीं मिल सकेंगे, न इस संपूर्ण व्यक्तित्व और वातावरण का ही आँखों देखा उल्लेख किया जा सकेगा जिसके भीतर से प्रसाद की प्रतिभा प्रस्फुटित और विकसित हुई थी। अतएव इस विषय की जितनी भी सामग्री एकत्र की जा सके करली जानी चाहिए। आगे चलकर उसका उचित उपयोग हो सकेगा। ध्यान इतना ही रखना है कि वह सामग्री जो हम एकत्र करें, यथासंभव सर्वांगीण हो, साथ ही वह तटस्थ और तथ्यान्वेषिणी दृष्टि से संग्रह की जाय।

श्री जयशंकर प्रसाद एक असाधारण व्यक्तित्व सपन्न पुरुष थे। वे अधिक ऊँचे न थे, किन्तु उनका पुष्ट और सुगठित शरीर था। गोरे मुख पर मुसकान प्रायः सदैव खेला करती थी। मित्र मंडली में उनके समक्ष अनावश्यक गंभीरता, विषण्णता या दिखावट तो रह ही नहीं सकती थी। प्रसाद जी मित्रों का स्वागत बड़ी आकर्षक और आत्मीय नेत्रगति से करते थे; अक्सर मित्रों के कंधे पकड़कर हल्के ढंग से झकझोर देते थे जिससे यदि कहीं खिन्नता या उपालंभ का भूत सवार हो तो तुरत उतर जाय। रहा सहा अवसाद उनके ठहाकों से दूर हो जाता था।

प्रसाद जी के ठहाकों में उदारता और घनिष्ठ मैत्री के भाव व्यंजित होते थे। यह कहना सत्य है कि प्रसाद जी की गोष्ठी में कृत्रिमता के लिए कोई स्थान न था, यह भी सच है कि उनकी गोष्ठी से लोग प्रसन्न और हँसते हुए ही निकलते थे।

प्रसाद जी के पतले ओठों में सरल आत्मीय मुसकान खूब फबती थी। पान की हलकी रंग उनके ओठों को लाली और चमक दिए रहता था। प्रसाद जी घर पर प्रायः खद्दर के कुर्ते और धोती में रहा करते थे, परन्तु बाहर निकलने पर रेशमी कुर्ता, रेशमी गांधी टोपी महीन खद्दर की धोती, रेशमी चादर या दुपट्टा फुलस्लीपर जूते और एक छड़ी हाथ में रहती थी। प्रसाद जी को छड़ी रखने का विशेष शौक था, यद्यपि वह पूरी तरह अलंकार का ही काम देती थी। एक बार जब आचार्य श्यामसुन्दर दास जी ने उन्हें मसूरी से लाकर एक सुंदर छड़ी भेंट की तब प्रसाद जी बड़े प्रसन्न हुए थे और सभी मित्रों को बारी बारी से दिखा कर ही उन्हें सतोष हुआ था।

मंदिर, फुलवारी और अखाड़ा प्रसाद गृह के तीन सर्वप्रिय अंग रहे हैं। प्रसाद जी अपने मित्रों को जब वे अकेले दुकेले आते थे, अपने साथ ले जाकर फुलवारी में ही बैठालते थे वहां बातचीत चलती थी। अधिक संख्या होने पर वे मित्रों के लिए बैठक खुलवाते थे। फुलवारी में ही अखाड़ा था और उसी के एक छोर पर शिव मंदिर था। अखाड़े की सबसे अधिक स्मरणीय वस्तु वे मुगदर थे जिनका वजन देखकर यह अनुमान करना कठिन हो जाता था कि प्रसाद जैसे कलाकार भी उसे भाजते रहे होंगे। परन्तु बात सच थी, प्रसाद जी बतलाते थे कि वे मुगदर उन्हीं के भाजने के लिए बनवाए गए थे और एक पहलवान उन्हें इसकी शिक्षा देने आया करता था।

मंदिर में पूजा तो नित्य होती थी, परन्तु उत्सव आयोजन वर्ष में एक ही दो बार हुआ करते थे। प्रसाद जी शैव थे और बड़ी श्रद्धा से शंकर जी की भावना करते थे। उन्हें शिव संबंधी भारतीय दर्शन की निष्पत्तियाँ बड़ी प्रिय थीं। शंकर से संबंध रखने वाले पौराणिक प्रतीकों को वे बड़ी रुचि और मनोयोग से समझने और समझाने की चेष्टा करते थे। शंकर जी के बाद ही वे कृष्ण के चमत्कार पूर्ण चरित्र के प्रशंसक और श्रद्धालु थे। पिछले दिनों में वे इन्द्र के चरित्र की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे और इस पर एक नाटक लिखने का विचार करते थे। यह कार्य वे पूरा न कर पाए। परन्तु अपने निबंधों में उन्होंने इस बात की स्पष्ट सूचना दी है कि आनन्दवादी और शक्तिवादी विचारधारा

के प्राचीनतम प्रतिनिधि इन्द्र ही थे और वर्तमान भारतीय जीवन में इन्द्र के उस स्वरूप का, देश की रक्षा का दायित्व रखने वाले नवयुवकों के लिए विशेष उपयोग है।

अखाड़े और मंदिर से भी कदाचित अधिक प्रिय प्रसाद जी को उनकी फुलवारी थी जिसमें एक न एक नई चीज बोने और दिखाने का शौक उन्हें अन्त तक रहा। प्रसाद जी की वाटिका बहुत बड़ी न थी और न विशेष सज्जित ही, फिर भी इनके प्रति उनका एक अनोखा अनुराग था। कदाचित् इस वाटिका से उनकी कतिपय मनोरम जीवन स्मृतियाँ सम्बद्ध रही हैं। प्रायः प्रसाद जी अपनी लिखने की कापी लेकर यहीं आ जाते थे और यहाँ बैठकर जब तक इच्छा करती थी, लिखा करते थे। उनकी अधिकांश काव्य रचनायें या तो इस फुलवारी में हुईं या रात्रि के समय मकान की दूसरी मंजिल पर। 'कामायनी' का मुख्य भाग नए घर और नई बैठक में रात्रि के पिछले पहरों में लिखा गया था।

अस्तु, यह तो प्रसाद जी को घर की चौहद्दी में देखने की चेष्टा की गई। उनके पारिवारिक और सामाजिक जीवन की भी थोड़ी सी चर्चा की जा सकती है। प्रसाद का परिवार बहुत बड़ा न था—पत्नी भाभी और एक ही पुत्र रत्नशंकर। यह मैं उनके प्रौढ़ काल की चर्चा कर रहा हूँ। उनकी बाल्यावस्था में उनका परिवार काफी भरा पूरा था। किन्तु क्रमशः यह घटता और क्षीण होता चला गया। कदाचित् प्रसाद जी का शेष कुटुम्बियों के प्रति घनिष्ठ स्नेह हो गया था। भाभी के प्रति अपने समादर की वे कभी कभी चर्चा करते। पुत्र के लिए उनके मन में एक हल्का आवेग भरा किन्तु ऊपर से सौम्य और संयत स्नेह था। पत्नी के प्रति उनकी भावना का पता उनके पुत्र के 'मां' स्वर से ही लगाया जा सकता था क्योंकि वे उनके संबंध में, भारतीय शालीनता के अनुसार कभी कुछ कहते न थे। प्रसाद का पारिवारिक जीवन सामान्य रूप से सुखी था, यह कहा जा सकता है।

परिवार और मित्रमंडली के बाहर एक सार्वजनिक या सामाजिक व्यक्ति के रूप में प्रसाद जी कम ही आते थे। उन्हें अपने साहित्यिक और गार्हस्थिक कार्य से अवकाश नहीं मिलता था। प्रायः सन्ध्या समय वे बनारस चौक के समीप गली वाली अपनी सुंघनी साहू की दुकान पर बैठते थे जहाँ जाने-अनजाने सभी प्रकार के लोग उनसे मिलने आते। मित्रों में प्रसाद जी जितने खुले रहते थे, अपरिचितों से उतने ही शालीन और मितभाषी थे। कुछ थोड़े से चुने हुए वाक्यों में वे उनके प्रश्नों का उत्तर दे देते। यदि कहीं किसी वाद विवाद की संभावना

दसते, तो मौन ही रह जाते। परन्तु यदि मित्रों का जमघट रहता तो दिल खोल कर बातें करते, फब्तियां भी कसते और कभी किसी का रहस्योद्घाटन करते। परन्तु इन समस्त चर्चाओं में प्रसाद जी के खुले दिल की प्रसन्न भावना ही काम करती, वैमनस्य या ईर्ष्या द्वेष के लिए उनके व्यक्तित्व में स्थान न था।

सभा-सोसाइटियों अथवा भाषण-व्याख्यानों से प्रसाद जी को बहुत कम रुचि थी, परन्तु विस्मय या कौतूहल पूर्ण वार्ता, देश विदेश के अनुभव, और यात्रा वर्णनों से वे विशेष आकृष्ट रहते थे। कभी कोई ऐसा व्याख्याता आ गया तो प्रसाद जी उसे सुनने अवश्य जाते। मुझे स्मरण है एक बार तिब्बत यात्रा संबंधी राहुल जी का भाषण सुनने के लिए वे दूर तक पैदल चलकर गए थे, और मुझे भी इसे सुनने का आग्रह किया था। कवि सम्मेलनों को प्रसाद जी नापसन्द करते थे; पर छोटी गोष्ठियों में कविता सुनना और सुनाना उन्हें प्रिय था। एक ही बार नागरी प्रचारिणी सभा के बड़े समारोह में मैंने उन्हें 'आँसू' की पंक्तियों का सस्वर पाठ करते सुना था। सारी सभा उनके कविता-पाठ से मुग्ध हो गई थी।

प्रसाद के साहित्यिक जीवन का आरम्भ एक कवि के रूप में हुआ था। उनके आरम्भिक पद्यों में अतीत की सुखद स्मृतियों की एक हल्के विषाद से भरी प्रतिक्रिया दिखाई दी, साथ ही उनमें यौवन और शृंगार की अतृप्त अतिशयता भी लगी हुई थी। 'चित्राधार' और 'कानन कुसुम' के छाया संकेतों में इन्हीं दबी भावनाओं का आभास मिलता है और 'झरना' को 'छिड़ो मत यह सुख का कण है' 'उत्तेजित कर मत दौड़ाओ यह करुणा का थका चरण है' आदि पंक्तियों में इसकी गूंज है। 'आंसू' में कवि का यह वैयक्तिक पक्ष पूरी तरह उभर आया है। परन्तु इसी के साथ कवि की एक अभिनव दार्शनिकता उतनी ही प्रभावशालिता के साथ काव्य का अंग बन गई है। उद्दाम शृंगारिक स्मृतियों के साथ सम्पूर्ण समाधान कारक दार्शनिकता 'आंसू' की विशेषता है। भावनाओं के असाधारण उद्वेग के साथ उतनी ही प्रगाढ दार्शनिक अनुभूति का योग रचना में एक अपूर्व मार्मिकता और सन्तुलन ले आता है। यह दर्शन शासित प्रेम गीति नई कल्पना तथा नए काव्याभरण का योग पाकर युग की एक प्रतिनिधि कृति हो गई है। अनेक कवियों ने इस छन्द और इसी भावधारा की अनुकृति करनी चाही। इससे केवल इतना ही लक्षित होता है कि इस रचना के प्रति साहित्यिक क्षेत्र में असाधारण आकर्षण रहा है। 'आंसू' के अनन्तर प्रसाद जी के प्रगीतों में वह उद्वेग नहीं मिलता। 'लहर' में अधिक परिष्कृत सौन्दर्य चित्रण और

संयमित भावनाधारा है। दो चार गीतों में अतीत की मनोरम स्मृतियाँ भी आई हैं, पर उनमें 'आँसू' की सी अभाव या शून्यता की व्यंजना नहीं है। अब तो वे मनोरम क्षण जगत में नया सौन्दर्य लाने की चेष्टा में संलग्न हैं। 'ओ सागर संगम अरुण नील' जैसे कुछ गीत प्रसाद जी की पुरी यात्रा के स्मारक हैं और प्राकृतिक सौन्दर्य की अनोखी झाँकी से समन्वित हैं। प्रेम और करुणा की तात्विक भावना का चित्रण 'लहर' में महात्मा बुद्ध के जीवन-प्रसंग और उनकी दार्शनिकता की पार्श्व भूमि पर किया गया है। शेरसिंह का 'शस्त्र समर्पण' और 'प्रलय की छाया' के रूप में दो नाटकीय आख्यानक गीतियाँ भी 'लहर' में हैं। उनमें क्रमशः पराजित वीरत्व' और सौन्दर्य गर्व का विवरणपूर्ण मनोवैज्ञानिक चित्रण है। प्रसाद जी की रेखाएं इन चित्रणों में पर्याप्त पुष्ट हैं, जो उनकी कलात्मक समृद्धि का प्रमाण कही जा सकती है। इसी 'लहर' में 'बीती विभावरी जागरी' शीर्षक वह जागरण गीत है, जो कदाचित् प्रसाद जी के सम्पूर्ण काव्य प्रयास के साथ उनकी युग-चेतना का परिचायक प्रतिनिधि गीत कहा जा सकता है।

'कामायनी' प्रसाद जी के कृतित्व का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है। जिसमें सर्वाङ्गपूर्ण जीवन दर्शन नारी पुरुष का सम्पूर्ण चित्रण और नई जीवन परिस्थितियों का व्यापक निरूपण है। नए ज्ञान का विस्तृत उपयोग उसमें किया गया है। 'कामायनी' में कवि प्रसाद ने आदि मानव का आख्यान लिया है और उसे प्राचीन कथा तन्तु का सहारा लेकर नए उपकरणों से सज्जित किया है। कथानक में मनोविज्ञान के साथ मानव सभ्यता के विकास का वैज्ञानिक चित्र भी दिखाया गया है। इस प्रकार काव्य का कथानक तो नए विज्ञान का उपयोग करता है, उसे गति और विस्तार देता है, और इस विज्ञान समन्वित विकास को सार्थकता और आलोक देने के लिए कवि ने भारतीय दर्शन का सुन्दर उपयोग किया है। 'कामायनी' के कथानक या वस्तु संघटन में जिस प्रकार पश्चिम की नई वैज्ञानिक सम्पत्ति के साथ भारतीय दर्शनों की प्राचीन निधि का उपयोग किया गया है, उसी के अनुरूप 'कामायनी' में दो नारी चरित्र भी हैं—एक श्रद्धा 'भारतीय भावना और दर्शन की प्रतिनिधि, और दूसरी 'इड़ा' नए वैज्ञानिक विकास का प्रतीक। इन दोनों का सन्तुलन और समन्वय नवीन भारतीय संस्कृति को 'कामायनी' के कवि की नई देन है।

प्रसाद जी ने नाट्य क्षेत्र में नाटक को नए चरित्र, नई घटनाएं, नया ऐतिहासिक देशकाल नया आलाप संलाप, संक्षेप में सम्पूर्ण नया समारंभ दिया है। हिन्दी नाटकों में नया युग प्रवर्तन होने लगा। प्रसाद के नाटक ऐतिहासिक हैं,

इसलिए घटना और चरित्र का स्वतंत्र निर्माण और जीवन समस्याओं या संघर्षों की योजना उनमें इतिहास की पाबंदी के भीतर हुई है, पूर्ण स्वतंत्रता के साथ नहीं। इस दृष्टि से प्रसाद जी के नाटक उनके 'कामायनी' काव्य की भांति पूर्ण निर्माणात्मक मौलिकता लेकर नहीं आए हैं। पर ऐतिहासिक नाटक के इस प्रारंभिक प्रतिबंध को स्वीकार कर लेने पर इतिहास की पाबंदी के भीतर, घटनाओं की नाट्योपयोगी योजना, चरित्रों और परिस्थितियों का संघर्ष और द्वंद्व और नाटक में ऐतिहासिक देशकाल के समुचित प्रसार के साथ शिष्ट और सौम्य भाषा में कहीं कुछ काव्यात्मकता लिए हुए और कहीं विनोद के हल्के पुट से अनुरंजित संवादों की सृष्टि प्रसाद जी ने की है। उनके नाटकों में कई प्रकार की त्रुटियां लोगों ने देखी हैं और संभव है भविष्य में भी देखें पर हिन्दी नाटकों को नवीन स्वरूप और नया जीवन देने में प्रसाद जी का कार्य ही सर्वोपरि है। इतिहास की घटनाओं को नाटकीय वस्तु के रूप में ढालकर सजीव पात्रों की सृष्टि करना और अतीत के उन व्यक्तियों और परिस्थितियों के प्रति आज के पाठक और नाट्य दर्शक का मन रमा लेना प्रसाद जी की विशेषता है। उनके नाटकों में घटनाओं के आकर्षण की अपेक्षा चरित्रों की विविधता और उनकी मनोभावनाओं का उन्मेष और प्रदर्शन अधिक है। प्रसाद के नाटक इतिहास के रूखे अस्तित्व को नाटकीय कौतूहल प्रभावशाली दृश्य विधान और कला की चमत्कारिता देने में समर्थ हुए हैं।

प्रसाद जी की कहानियां कल्पना प्रधान हैं और प्राकृतिक वातावरण का बड़ा सुंदर उपयोग करती हैं। उनकी अधिकांश कहानियों की रंगभूमि प्रकृति के खुले प्रसार में है। प्रस्तुत वायु मंडल में विस्मय कारक और साहसिक घटनावली के बीच मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक चित्रण प्रसाद की कहानियों की विशेषता है। उनके प्रेमकथानकों में भी मनोवैज्ञानिक और प्राकृतिक पार्श्वभूमियां रहा करती हैं और प्रसंगानुरूप देशप्रेम या कोई ऐसी ही सांस्कृतिक भावना या आदर्श जुड़ा रहता है। प्रसाद की कहानियों में वातावरण का चित्रण विशुद्ध कहानी के लिए कुछ अधिक हो जाता है। उसमें वस्तु अंकन की प्रवृत्ति अधिक है, जिसके कारण कहानियों की गति में किंचित शिथिलता भी दिखाई पड़ती है। अतीत को सजीव करने की चिंता प्रसाद जी को अधिक रहती है और संपूर्ण कहानी असाधारण काव्यत्व के साथ प्रस्तुत होती है। उसमें भाषा की पर्याप्त आलंकारिता रहती है। प्रसाद की कहानियां सांस्कृतिक और भावात्मक रचना की दृष्टि से अनुपम हैं। 'पुरस्कार', 'आकाशदीप', 'गुंडा', 'ममता', 'सालवती' आदि उसकी

कहानियों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। प्रसाद के उपन्यास मध्यमवर्गीय सामाजिक समस्याओं, व्यवहारों और परिस्थितियों को लेकर आरम्भ हुए थे। 'कंकाल', उनका प्रथम उपन्यास, विचार प्रधान है। उसमें प्रसाद जी ने उच्च जातीयता और आभिजात्य की भावनाओं पर एक बड़ा प्रश्न चिन्ह लगाया है। हमारे आदर्शवादी चरित्र को भी सात्विक परिस्थितियों में परख कर कच्चा सिद्ध किया है। 'कंकाल' की अपेक्षा 'तितली' उनकी अधिक कलात्मक कृति है। इसमें प्रसाद जी ने किसानों और मजदूरों के जीवन चित्र उपस्थित किए हैं। किसान-बालिका 'तितली' उपन्यास की प्रमुख पात्र है। वह स्वल्प शिक्षित किन्तु महान अध्यवसायी लड़की है। उसके चित्रण द्वारा प्रसाद जी ने ग्रामीण परिस्थिति में नया उत्साह भरने की चेष्टा की है। उन्होंने ग्रामीण नवनिर्माण सबंधी अपने सुझाव भी रक्खे हैं, जो सहयोगिता और सहकारिता के आदर्शों पर आधारित हैं। प्रसाद का तीसरा उपन्यास 'इरावती' ऐतिहासिक आधार पर लिखा जा रहा था। उसका जितना अंश लिखा गया है उतने से ही उसके एक श्रेष्ठ सांस्कृतिक कृति होने का प्रमाण मिलता है। किन्तु प्रसाद जी की असामयिक मृत्यु से उनकी यह कृति अधूरी रह गई।

प्रसाद जी की समस्त रचनाओं को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार तो थे ही, बड़े मनस्वी और चिन्तनशील लेखक भी थे उनकी रचनायें क्रमशः प्रौढ होती गई हैं, जो उनके व्यक्तित्व के विकास की परिचायक हैं। प्रसाद जी ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में कुछ निबंध भी लिखे थे जो उनके साहित्यिक और शास्त्रीय ज्ञान तथा अन्तर्दृष्टि का प्रमाण देते हैं। यदि वे सहानिक रोग द्वारा समय के पूर्व ही हमसे विच्छिन्न न कर लिए जाते, तो हिन्दी साहित्य और भारतीय जीवन उनकी अन्य उत्तमोत्तम कृतियों से भी विभूषित होता। उनकी अन्तिम कृतियों को देखने से यह लक्षित होता है कि उनकी प्रतिभा लेशमात्र भी कुंठित नहीं हुई थी, वरन् उनका मानसभंडार अनेक सुन्दर और मूल्यवान रत्नों की भेंट भारती के चरणों में करने की तैयारी कर रहा था।

व्यक्तित्व का द्वन्द्व और प्रसाद

—डा० प्रेमशङ्कर

साहित्य में व्यक्तित्व का प्रकाशन किस सीमा तक होता है, इस विषय में विचारकों ने पूर्णतया विरोधी, विचार भी प्रकट किए हैं। साहित्य व्यक्तित्व का प्रकाशन है अथवा यह उससे पलायन है, ये दोनों वाक्य स्थूल दृष्टि से परस्पर विरोधी प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु यदि 'व्यक्तित्व' की व्यापक परिधि पर दृष्टि रक्खी जाय तो इनका अन्तर अपेक्षाकृत कम हो जायगा। मानव का क्रियाशील उत्कृष्ट व्यक्तित्व अखण्ड इकाई के रूप में हमारे समक्ष आता है, किन्तु उसके अनेक पटल होते हैं जो साहित्य में अनावृत हो सकते हैं। कृतिकार अपने व्यक्तित्व के महत्त्वपूर्ण पटल ही प्रस्तुत करता है। शेष पर उसे नियन्त्रण रखना पड़ता है। उसका यह व्यक्तित्व किस प्रकार अनावृत होता है, यह प्रश्न सृजन प्रक्रिया से सम्बन्ध रखता है। अपने ऊर्ध्वमान चेतन को अभिव्यक्ति देने के अतिरिक्त महान् लेखक अनेक प्रकार के व्यक्तित्व गढ़ते भी हैं।

प्रसाद में व्यक्तित्व सम्बन्धी ये दोनों ही स्वरूप मिलते हैं। यह निश्चित है कि अधिकांश लेखकों की भांति उनके लेखन की आरम्भिक प्रेरणा व्यक्तिगत जीवनानुभूति है। 'झरना' के अनेक गीतों में कवि का यह व्यक्तिगत स्वर अनालङ्कृत रूप में झलक आया है। किन्तु कोई भी महत्त्वपूर्ण साहित्यकार अधिक समय तक स्वयं से उलझ कर नहीं रह सकता। उसे अपनी अनुभूतियों का क्षेत्र व्यापक करना पड़ता है, जिसके लिए विभिन्न प्रकार की पद्धतियाँ अपनाई जा सकती हैं। किसी दर्शन अथवा सिद्धान्त का आवरण उन पर चढ़ाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में दर्शन, राजनीति आदि का आश्रय लेना होगा। अनुभूतियों के नियमन, नियन्त्रण की नवीनतम प्रणाली बौद्धीकरण की है। इस प्रकार की प्रक्रिया में एक खतरा यह रहता है कि कहीं साहित्य आत्म-वंचना न बन जाय। क्योंकि अनुभूति के पल्लवन-पोषण की ये प्रणालियाँ अधिक स्वाभाविक नहीं कही जा सकतीं। प्रसाद ने भाव नियमन के लिए किसी बाह्य उपचार का आश्रय अपेक्षाकृत कम ही ग्रहण किया है। इसे हम उनका आत्मानुशासन कह सकते हैं, जिसकी सहायता से उन्होंने अपनी भावनाओं

का उदात्तीकरण किया। यह उनके विकासशील व्यक्तित्व का परिणाम है, उ
उन्हें 'चित्राधार' की साधारण अभिव्यक्ति से 'कामायनी' जैसी प्रौढ़कृति तक
ले गया। आत्मानुशासित लेखक साधारण प्रवचनकर्ता होने से बच जाता है
क्योंकि वह बाह्य प्रचलित जीवन सिद्धान्तों को साहित्य में रूपान्तरित कर दे
मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो जाता। प्रसाद ने अपने व्यक्तित्व का विकास किया
जीवन को अपनी जिज्ञासु और जागरूक दृष्टि से देखा और उस रससिक्त अभि
व्यक्ति देने का प्रयत्न किया। 'कामायनी' के अन्तिम सर्ग दर्शन के भार
बोझिल दिखाई देते हैं, पर उनसे नीरसता की शिकायत ज्लदी नहीं की ज
सकती। श्रेष्ठ साहित्य विशेषतया काव्य की यही सार्थकता है—कि वह सा
कुछ अपनी रसवती पगडंडी से गुजार दे। जैसा प्रसाद ने स्वयं कहा है—'छि
छिप किरणें आती जब, मधु से सींची गलियों में।'

प्रसाद अपने व्यक्तित्व को अधिक छिपा नहीं पाए। संगोपन में उ
आंशिक सफलता ही प्राप्त हुई है। मेरी धारणा है कि व्यक्तित्व से पलायन
वृत्ति लेकर चलने वाला लेखक कभी-कभी एक संकीर्ण दायरे की ओर बढ़
चला जाता है। वह 'विशिष्ट वर्ग' का स्वर बन कर रह जाता है। एक आद
सिद्धान्त की ओट में खरा-खोटा सभी कुछ चला देने की कोशिश की जाती
और कभी-कभी इस प्रकार के लेखक आत्म प्रवंचना तथा बाह्याडम्बर के शिक
हो जाते हैं। उनमें ईमानदारी और सचाई क्रमशः कम होती जाती है,
साहित्य के लिए सबसे अधिक घातक है। प्रसाद ने अपने व्यक्तित्व को वाण
दी है, बिना अधिक दुराव अथवा संकोच के। हाँ, उसमें शालीनता औ
संयम अवश्य है। भाव-क्षेत्र में हम इसे उदात्तीकरण और शिल्प-क्षेत्र में लाक्षणि
अभिव्यक्ति कह सकते हैं, तुलसी के श्रृंगार-वर्णन में विशेषतया राम सीता
सम्बन्ध को लेकर शील तथा मर्यादा दिखाई देते हैं पर दोनों कवियों के का
कारण में बड़ा अन्तर है। एक में प्राचीन भक्त कवि की आध्यात्मिक नैतिक
है, दूसरे में आधुनिक मानव-वादी साहित्यकार के गुरु दायित्व की भावना
जीवनी और व्यक्तित्व में जो सूक्ष्म अन्तर है, उसे हिन्दी में निराला के अनन्त
संभवतः प्रसाद ने सबसे अधिक जाना-पहिचाना था। निराला की निर्वैयक्तिक
यद्यपि प्रसाद में नहीं मिलती, किन्तु उन्होंने अपने व्यक्तित्व को छिपा कर
ही उसे अभिव्यक्ति दी। 'आँसू' इसी व्यक्तित्व का प्रकाशन है, यद्यपि जी
की किसी घटना विशेष को उसका प्रमुख प्रेरणा स्वीकार किया जा सकता
इन दोनों के मध्य ऐसा अन्तराला रख दिया गया है कि पाठक, समीक्षक अनु

धान करते रह जाते हैं, और कुछ को तो उस प्रेम-काव्य में रहस्यवाद के भी दर्शन होने लगते हैं। महान साहित्यकारों की यह असाधारण विजय है।

साहित्य में व्यक्तित्व-प्रकाशन की एक नई प्रणाली प्रसाद में देखी जा सकती है, जो किंचित जटिल होते हुए भी मौलिक है। उन्होंने व्यक्तित्व के द्वन्द्व को अभिव्यक्ति दी है। इसे किंचित स्पष्टता के साथ कहूँ तो यह स्वीकार करना होगा कि स्वयं लेखक में जो व्यक्तित्व का द्वन्द्व था, उसने साहित्य में अभिव्यक्ति प्राप्ति की है। पर प्रसाद ने इस द्वन्द्व का लाभ उठाया, एक सन्तुलन स्थापित करने में। वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि जब दो समान भार की शक्तियों में पारस्परिक तनाव होता है तब उनमें सन्तुलन बना रहता है। प्रसाद के संघर्ष और द्वन्द्व भरे व्यक्तित्व की यही विशेषता है—कि उसमें विकर्षण, दिग्भ्रम, कुण्ठा कम है। वह द्वन्द्व विरोधी शक्तियों के मिलन से जीवन का एक नया आसन तैय्यार करता है। इसे हम उनकी समीकरण अथवा समन्वय की शक्ति कह सकते हैं। प्रश्न है—कि यह द्वन्द्व किस स्तर पर अंकित हुआ है? आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक बौद्धिक किस बिन्दु पर उसका परिपाक हुआ है? सम्भवतः इनमें से किसी एक वर्ग के भीतर उसका आकलन नहीं किया जा सकता? हैमलेट जैसे मानसिक द्वन्द्व के पात्र मनोविज्ञान के निकट हैं और इसके सर्वोत्तम उदाहरण कहे जा सकते हैं। आध्यात्मिक संघर्ष पुण्य-पाप, सत्य-असत्य, स्वर्ग नरक की नैतिक विवेचना से सम्बन्धित हैं। राजनैतिक, बौद्धिक स्तर के द्वन्द्व रूस और अमेरिका के कथा साहित्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। प्रसाद के अपने जीवन में जो स्थिति थी उसे अनुभूति और अभिव्यक्ति का द्वन्द्व भी कहा जा सकता है जो प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण रचनाकारों में देखा जा सकता है। प्रसाद प्रेषणीयता की समस्या खड़ी करने के पक्ष में नहीं थे। आत्म विश्वास से परे लेखक इसकी अधिक चिन्ता भी नहीं करते। द्वन्द्व की स्थिति में प्रसाद का विकास होता रहा, जैसे पाषाणों का घर्षण अग्नि को जन्म देता है। इस विकास के प्रति वे पूर्ण सजग थे। 'आँसू' का नवीन संस्करण, जिसमें निराशा को आशा में परिवर्तित किया गया, इसका प्रमाण है। कवि का अपना पंथ निश्चित था। वे शक्ति और कर्म के उपासक, समन्वयवादी, आनन्द-मार्गी, रस परम्परा के कवि थे। उनका व्यक्तित्व द्विधात्मक नहीं था, उसे हम दुरूहपूर्ण तथा जटिल कह सकते हैं। प्रेमचन्द का जीवन पारदर्शी था, इसी कारण वे सीधी सादी, सपाट राह पर चले, बड़ी शक्ति और निष्ठा के साथ। इस दिशा में वे अप्रतिम हैं। प्रसाद का आन्तरिक जीवन आन्दोलित था। वह

उनके साहित्य में एक नया व्यक्तित्व बनकर प्रतिफलित हुआ, द्वन्द्व के रूप में। वह द्वन्द्व भाव क्षेत्र का नियमन तो करता ही रहा, शिल्प को भी उसने प्रभावित किया। 'कामायनी' महाकाव्य की रूपरेखा में भी किंचित गीतात्मक हो गई। नाटक पूर्णतया रंगमंच के अनुकूल नहीं हो पाए। उनमें गीतों का बाहुल्य हो गया। कहानियां कथाएं जैसी हैं। वास्तव में द्वन्द्व भरे व्यक्तित्व के लेखक को अधिक सावधानी से कार्य करना पड़ता है। प्रसाद सोद्देश्य रचनाकार हैं। कहा जा सकता है—कि उनमें भाव शिल्प का द्वन्द्व जो किसी सीमा तक है, व्यक्तित्व के द्वन्द्व के ही कारण है, जिसमें अन्त में भाव की उचित शिल्प में प्रतिष्ठा हुई।

व्यक्तित्व के द्वन्द्व का स्पष्ट रूप मिलता है—प्रसाद की चरित्र सृष्टि में। उनके नाटकों की कथा-वस्तु ऐतिहासिक है, किन्तु पात्रों की रूपरेखा इतिहास के अनुकरण मात्र पर आधारित नहीं है। इतिहास के अतिरिक्त भी इन पात्रों का एक व्यक्तित्व है, जिसमें द्वन्द्व की स्थिति मिल जाती है। शेक्सपियर का नाटक 'जूलियस सीजर' एक बहुश्रुत वीर को उसकी कतिपय दुर्बलताओं के साथ प्रस्तुत करता है। इसके माध्यम से नाटककार एक महत्त्वाकांक्षी के उस अतिशय आत्मविश्वास पर विचार करना चाहता है- जो उसके आगे में किसी की चिन्ता नहीं करता। प्रभुता कितने शत्रुओं को जन्म दे सकती है, यह भी इससे प्रकट है। इसी प्रकार प्रसाद अपने पात्रों के प्रसिद्ध व्यक्तित्व से आगे बढ़ कर विचार कर सके हैं। कल्पना का आश्रय ग्रहण करने के अतिरिक्त कहीं कहीं उन्होंने इतिहास की सीमाओं का अतिक्रमण भी किया है। उदाहरणार्थ 'चन्द्रगुप्त' नाटक में चन्द्रगुप्त अलक्षेन्द्र सेल्यूकस आदि को परास्त कर भाग निकलता है। व्यक्तित्व का द्वन्द्व अधिकांश पात्रों में सन्निहित है। चाणक्य को इतिहास एक कुशल कूटनीतिज्ञ, विलक्षण बुद्धि के ब्राह्मण रूप में जानता है। पर 'चन्द्रगुप्त' नाटक का चाणक्य एक दूसरे ही रूप में आता है। उसमें कोमल भावनाओं का समावेश भी किया गया है। किन्तु परिस्थितियों के कारण उनमें भावना परिवर्तन होता है। चाणक्य ने यौवन के आरम्भिक प्रहर में सुवासिनी से प्रेम किया था। पर वह राक्षस की प्रेमिका हुई, नन्द की राजनर्तकी बनी। कौन कह सकता है कि प्रतिशोध-ज्वाला में इस घटना ने हृदय का कार्य नहीं किया? जब सुवासिनी लौटकर चाणक्य के पास आती है तब वह उसे स्वीकार भी नहीं कर पाता—राजनीति से उलझ जाने के कारण। वह उदार ब्राह्मण चन्द्रगुप्त का विजय देखकर

प्रसन्न होता है। पुरस्कार-रूप में कुछ भी नहीं चाहता। 'महत्त्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है' यह जानकर वह आगे बढ़ता है, पर कभी निरंकुश अत्याचारी नहीं हो जाता। सुवासिनी की स्मृति आने पर वह कहता है 'समझदारी आने पर यौवन चला जाता है, जब तक माला गूँथी जाती है, फूल मुरझा जाते हैं।' इस सम्पूर्ण उद्धरण में द्वन्द्व की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है। चाणक्य में व्यक्तित्व का जो द्वन्द्व अंकित हुआ है, उसमें हृदय, बुद्धि भीतर ही भीतर पारस्परिक संघर्ष करते हैं पर प्रखर व्यक्तित्व का प्राणी गतिमान होता जाता है। द्वन्द्व उसे निष्क्रिय अथवा जड़ नहीं कर पाते। इसी नाटक का दूसरा पात्र चन्द्रगुप्त भी द्वन्द्व की स्थिति से गुज़रता है। मालविका, कल्याणी, कार्नेलिया उसके प्रति प्रेम प्रदर्शन करती है, पर वह अपने दायित्व में बन्दी, कठोर गुरु से नियन्त्रित, भावनाओं से अधिक नहीं उलझ पाता। जब चाणक्य कहता है 'छोकरियों से बात करने का समय नहीं' तब उसे किंचित दुःख होता है। नाटक के अन्त में चाणक्य और चन्द्रगुप्त में जो क्षणिक मनोमालिन्य होता है, उसे नाटक शिल्प की दृष्टि से जिज्ञासा, कुतूहल की सृष्टि कहा जा सकता है, पर इसका प्रेरक है—व्यक्तित्व का वह द्वन्द्व जो चन्द्रगुप्त में है, जिसके कारण वह अन्त में असहनशील हो उठा।

प्रसाद व्यक्तित्व के द्वन्द्व में इतना विश्वास क्यों रखते हैं? इसका कारण केवल शिल्प मोह नहीं है। वे तिलस्म और जासूस के लेखक भी नहीं हैं कि जिज्ञासा का एक वातावरण रच दें। उसका केवल मनोवैज्ञानिक आधार भी नहीं स्वीकार किया जा सकता। मानव को उसके मानवीय परिवेश में रखने का जो अभियान साहित्यकार में होता है, वह प्रसाद में पर्याप्त मात्रा में है। व्यक्तित्व का द्वन्द्व मानव की एक स्वाभाविक वृत्ति है जिसका प्रकाशन अन्तर्भेदिनी सूक्ष्म दृष्टि रखनेवाला उदार साहित्यकार ही कर सकता है। नाटकों में ऐसे पात्र कम मिलेंगे, जिनकी केवल सिद्धान्त-पालन के लिए सृष्टि की गई है। लक्षण ग्रन्थों के आधार पर उनकी सृष्टि नहीं हुई। उनके नायक 'धीरोदात्त' की परीक्षा में पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। 'कामायनी' नायिका प्रधान प्रबन्धकाव्य है, और उसके नायक मनु पर तो पुरातनपंथी आलोचकों ने किसी समय अनेक आक्षेप किया थे। मनु का द्वन्द्व अपने रूपक में मानसिक स्तर का हो सकता है, उसे मनोवैज्ञानिक संघर्ष की संज्ञा दी जा सकती है, किन्तु वस्तुतः यह द्वंद्व व्यक्तित्व का है। देवताओं के उत्तराधिकारी मनु में जो असंख्य जिज्ञासाएँ हैं वे बारम्बार आपस में टकराती हैं और यह स्थिति इस

समय तक बनी रहती है जब तक उनका उचित समाधान नहीं हो जाता। इस आदि मानव के समक्ष केवल यही प्रश्न नहीं है कि वह क्या करे, क्या न करे किन्तु बुद्ध की भाँति वह जानने के लिए व्यग्र है कि जीवन का तात्पर्य क्या है ?' इड़ा से उसने कहा था—'हे देवि, बता तो जीवन का क्या सहन मोल ?' मनु में व्यक्तित्व का द्वन्द्व अपनी उत्कृष्टतम सीमा पर पहुँच गया है और उन्हें हम प्रसाद की सर्वोत्तम चरित्र-सृष्टि कह सकते हैं, जिसमें अनेक प्रकार के द्वन्द्व समाहित होकर उसके व्यक्तित्व को असाधारण गरिमा प्रदान करते हैं। प्रसाद के पात्रों का द्वन्द्व भरा व्यक्तित्व पथ का अन्वेषक है, इसी कारण वह अधिक सार्थक है और उसे मानसिक संघर्ष मात्र की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। इलाचन्द्र जोशी अथवा अज्ञेय के पात्रों से उनकी तुलना करने पर अन्तर स्पष्ट हो जायगा। प्रसाद के जो कतिपय चरित्र केवल मानसिक झंझावात से गुजरते हैं, उनके व्यक्तित्व का निर्माण अत्यन्त सावधानी से किया गया है। दो प्रसिद्ध कहानियाँ 'पुरस्कार' और 'आकाशदीप' का आधार मनोवैज्ञानिक है। उनमें मानसिक द्वन्द्व का चित्रण है। दोनों की नायिकाएँ मधूलिका और चम्पा में एक अन्तर्द्वन्द्व की प्रमुखता है, यद्यपि 'पुरस्कार' 'आकाशदीप' की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय बन सकी है। वातावरण को प्रधानता देने के कारण 'आकाशदीप' में कल्पना अधिक बलवती है। मधूलिका में प्रेम और कर्त्तव्य का द्वन्द्व है। और प्रसाद ने कथा को ऐसा मोड़ दिया है कि नारी दोनों ही परीक्षाओं में उत्तीर्ण होती है। कहानी के अन्त में कोशलराज उससे पुरस्कार माँगने के लिए कहते हैं। वह चाहती तो कह सकती थी कि बन्दी अरुण को मुक्त कर दिया जाय। किन्तु इसमें फिर प्रेम के लिये उसका बलिदान ही क्या होता ? इसी कारण जब वह कहती है—'तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले' तब वह इस भावना से परिचालित है कि राजनियम की अवहेलना न हो। 'आकाशदीप' की चम्पा प्रेमी जलदस्यु को अपने पिता का हत्यारा मान लेती है, और इस सन्देह में वह सदैव के लिए उसे खो देती है। अपने द्वन्द्व को स्पष्ट करते हुये वह कहती है कि मैं तुम्हें घृणा करती हूँ फिर भी तुम्हें प्रेम करती हूँ। अन्धेर है जलदस्यु, मैं तुम्हारे लिए मर सकती हूँ। ये दोनों नारियाँ मानसिक द्वन्द्व का उत्कृष्ट उदाहरण हैं, पर यहाँ भी यह द्वन्द्व उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की गरिमा बनकर ही आया है। जहाँ कहीं प्रसाद ने सिद्धान्त रूप में अपना शिल्प की दृष्टि से द्वन्द्व समन्वित पात्रों की सृष्टि की है, वहाँ उनकी रूपरेखा दूसरी है। 'स्कन्दगुप्त' में विजया छलना है और चटक एक चंचल बुद्धि का प्राणी।

चरित्रों में व्यक्तित्व का जो द्वन्द्व निहित है, उसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह द्विमुखी है। इस प्रकार के, आत्म प्रवचना से भरे हुए पात्रों की संख्या प्रसाद में नगण्य है। द्वन्द्व के मध्य जाते हुए पात्र जीवन में एक समरसता स्थापित कर कर लेते हैं। इससे उनके व्यक्तित्व की अपार क्षमता का परिचय प्राप्त होता है। वास्तव में व्यक्तित्व के द्वन्द्व की अभिव्यक्ति मात्र दे देना प्रसाद का उद्देश्य नहीं था। वे इसके माध्यम से पात्रों के व्यक्तित्व को एक असाधारण गरिमा प्रदान करना चाहते थे। आरम्भ से ही स्कन्दगुप्त में जीवन के प्रति उदासीनता और विराग का भावना है। 'अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है'—इन शब्दों से उनके वीतरागता का बोध होता है। किन्तु स्कन्द की यह उदासीनता निवृत्तिमूलक नहीं है। वह राज्य का सेनानी बनकर दस्युओं से उसकी रक्षा करता है। पुरगुप्त के लिए निष्कंटक राज्य छोड़ने की उसकी इच्छा है। अपने प्रेम के जिस आन्तरिक द्वन्द्व से होकर उसे गुजरना पड़ता है वह उसके व्यक्तित्व में किसी प्रकार की कुंठा को जन्म नहीं दे पाता। यह इसी कारण सम्भव हो सका क्योंकि प्रसाद ने अपने पात्रों को जो व्यक्तित्व का द्वन्द्व प्रदान किया है, उसमें इतनी शक्ति भी दी है कि वह इन द्वन्द्वों से संघर्ष करता हुआ इनसे ऊपर उठ सके। साथ उनमें भी यह असाधारण क्षमता थी, तभी वे भाव और शिल्प की महत्तर ऊँचाइयों पर जा सके। पात्रों के द्वन्द्व भरे व्यक्तित्व को देखकर कतिपय समीक्षक उन पर शेक्सपियर आदि का प्रभाव देखते हैं और उन्हें नाटकों में भारतीय रस निष्पत्ति और पाश्चात्य चरित्र चित्रण का मिलन प्रतीत होता है। उच्च कोटि के साहित्य में इस प्रकार का गठबन्धन सम्भव है, इसमें मुझे सन्देह है। चरित्र चित्रण का जो बाहुल्य नाटकों में है उसका प्रमुख कारण यही है कि नाटककार अपने पात्रों के व्यक्तित्व का द्वन्द्व प्रकाश में लाकर उन्हें एक मानवीय वैशिष्ट्य प्रदान करना चाहता था। मानवीय जीवन दृष्टि के सहारे लेखक अधिक गहराई में उतर जाता है। भारतीय रसनिष्पत्ति को हम नाटकों में पात्रों के व्यक्तित्व की विजय रूप में पा जाते हैं। कतिपय नाटकों को लेकर सुखान्त दुखान्त का जो वाद विवाद है उसका कारण यही है कि हमने स्वयं प्रसाद की दृष्टि को, उनके प्रेरणा स्रोत को ठीक से जाना-पहिचाना नहीं है। ये नायक सुखान्त, दुखान्त की सीमाओं में बन्दी नहीं किए जा सकते, क्योंकि इनकी सृष्टि लक्षण ग्रन्थों को आधार मानकर नहीं की गई। नाटककार की दृष्टि समग्र जीवन पर रही है, जिसमें सुख, दुख इसी प्रकार विद्यमान है, 'चन्द्रिका अँधेरी मिलती, मालती कुंज में जैसे।' प्रसाद के नाटक न सुखान्त हैं न दुखान्त वे स्वाभाविक

सम्मान्य अन्न पर आश्रित है। इस तथ्य को अरस्तू भी स्वीकार करता है कि सम्भव आश्चर्य किसी रोमांचकारी असंभावना से बेहतर है। इन संक्षिप्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यक्तित्व का द्वन्द्व प्रसाद साहित्य की एक प्रमुख प्रेरणा है और जिज्ञासु विद्यार्थी को उससे समुचित परिचय होना चाहिए। जैसा कहा जा चुका है कवि का आन्तरिक, व्यक्तिगत जीवनानुभूति से इसका श्रीगणेश होता है। समर्थवान कवि ने इसका उदात्तीकरण किया, उसे विकास दिशा दी। व्यक्तित्व का यह द्वन्द्व प्रसाद को एक पृथक् साहित्यिक व्यक्तित्व प्रदान करता है।

प्रसाद में व्यक्तित्व के द्वन्द्व की सीमाओं को भी संक्षेप में देख लेना होगा, ताकि उनका उचित मूल्यांकन हो सके। प्रसाद मुख्यतया मानव की कोमल भावनाओं के शिल्पी हैं। जीवन का बहुत व्यापक अनुभव उन्हें नहीं था। भ्रमण के नाम पर दो-चार यात्राएँ भी उन्होंने की थी। वे एकान्त, साधक थे। यह स्वीकार करना होगा कि उनका व्यक्तित्व द्वन्द्व सीमित है। बाह्य यथार्थ जीवन का पूर्ण अंकन उसमें नहीं हो सका। प्रगतिशील विचारकों को उनसे भारी शिकायत हो सकती है। जीवन में जो सामाजिक, राजनैतिक संघर्ष होते हैं, उनका अभाव प्रसाद में है। उनकी दृष्टि वस्तुपरक नहीं थी, यह भी इसका एक कारण है। यशपाल का 'दिव्या' उपन्यास बाह्य आन्तरिक, वस्तुगत, भावगत द्वन्द्व का एक सफल उदाहरण कहा जा सकता है। सामाजिक संघर्ष का अधिक अन्दाज न होने के कारण ही 'कामायनी' में सारस्वत प्रदेश का संघर्ष किंचित हल्की रेखाओं से हुआ है। उसमें कवि की अनुभूति का पूर्ण योग नहीं है। पर इन कतिपय सीमाओं को स्वीकार करते हुए भी यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि प्रसाद में व्यक्तित्व का जो द्वन्द्व उभरकर आया है, वह केवल मनोविश्लेषण की कुण्ठाओं पर आधारित है, अथवा उसमें अहंप्रधान आत्मरति की भावना है। वे अन्तर्मुखी (इण्ट्रोवर्ट) लेखक नहीं हैं। प्रसाद के साहित्य में व्यक्तित्व का द्वन्द्व सम्पूर्ण जीवन की पीठिका पर आश्रित है, और इसे उन्होंने एक कुशल शिल्पी की भाँति अभिव्यक्ति दी है, इसे ध्यान में रखकर ही उनके साथ उचित न्याय किया जा सकता है।

प्रसाद जी की चिन्तनधारा

बाबू गुलाबराय एम० ए०, डी० लिट्

प्रत्येक कवि में एक विशेष मादकता रहती है जो कि उसके हृदय के मधु से उत्पन्न होती है। उसके हृदय की हाला उफन उफन कर काव्य धारा में प्रवाहित होने लगती है और पहले वह उसे मस्त कर दूसरों में मदकता उत्पन्न करती है। प्रसादजी में भी एक मादकता है किन्तु उनकी मादकता में एक गति-विधि है, उनके हृदय की हाला का उफान उन्मत्त का सा प्रलाप नहीं है। व अकाण्ड ताण्डव नहीं है। उसमें गति और लय है। वे कवि हैं, उनमें कल्पना है और भाव हैं किन्तु भावना के साथ विचार भी हैं। उनके काव्य मे कामायनी की कथावस्तु की भाँति मन का कामायनी अर्थात् भावना के साथ परिणय तो है ही किन्तु उससे सारस्वत प्रदेश पालिनी इडा (बुद्धि) का भी सहयोग है। वह श्रद्धाहीन सहयोग नहीं है जिससे कि विनाश और ससार की क्षति होती है वरन् ज्ञान, कर्म और इच्छा से समन्वित हिमाञ्चल की उच्च भूमि म वास करने वाले श्रद्धासयुक्त मन का सेवा करने वाली कल्याणमयी बुद्धि का सहयोग है जिसस कि शाश्वत आनन्द की उत्पत्ति होती है। विचारहीन भावना अन्धी है और भावनाहीन विचार पगु रह जाते हैं। कवि की अमर वाणी म भाव और विचार का समन्वय होता है। प्रसादजी भी उन्ही सिद्ध हस्त कवियों में हैं जिनकी भावना सारहीन भागों में नहीं उड जाती वरन् उससे विचार की सरस धारा भी बहती है।

कवि की विचार धारा और दार्शनिक की विचार धारा में इतना अन्तर है कि वह भाव शून्य नहीं होती, उसके उपदेश भी शुष्क और नीरस नहीं होते वरन् कान्ता के से हित और मनोहरता युक्त होते हैं। हम उनके काव्य में रत्नों को पा सकते हैं किन्तु उनमें दार्शनिक के युक्तिवाद की कुदाली के अङ्क नहीं दिखलाई पड़ते हैं। जिन लोगों का तोष युक्तिवाद रूपिणी कुदली के आघात बिना नहीं होता उनको कवि की वाणी में अधिक सार न दिखलाई पड़ेगा किन्तु सरस हृदयों म उनकी वाणी अपना चमत्कार दिखलाए बिना न रहेगी। मैं इतनी बात और कह देना चाहता हूँ कि कवि दार्शनिक व उपदेशक की भाँति

अपने विषय का प्रतिपादन नहीं करता है। उसके भाव उसकी वाणी में स्वयं ही अभिव्यञ्जित हो जाते हैं। वास्तव में यदि हम कुछ सार पाना चाहते हैं तो उसकी पंक्तियों से झंकृत ध्वनि में ही मिल सकता है। कभी-कभी तो कवि अपने आप कुछ नहीं कहते हैं वरन् उनके रचे हुए नाटकों या कथाकाव्यों के पात्र ही उनके भावों की व्यंजना करते हैं और बहुत सी जगह तो यह भी पता नहीं चलता कि कवि किन भावों को अपनाता है और किन भावों को जनता के वकील की हैसियत से कहता है। तो भी उसके विषय के चुनाव तथा नाटक के अन्त से उसके विचारों का कुछ पता चल जाता है।

सबसे पहले हम प्रसादजी के दार्शनिक विचारों को लेंगे। कवि दर्शन शास्त्र के अन्तिम तत्वों की ओर जा भी नहीं सकता। उसका सम्बन्ध जीवन से है और हम उसके दार्शनिक विचारों को भी जीवन के सम्बन्ध में ही देख सकते हैं। सृष्टि के सम्बन्ध में प्रसादजी का विचार है कि यह सृष्टि उस परमब्रह्म का ही विराट शरीर है। यह वेदान्तियों की भाँति मिथ्या नहीं, अपितु 'सत्य, सतत, चिरसुंदर' है। जैसा कि उन्होंने 'कामायनी' में लिखा भी है —

> "अपने सुख दुख से पुलकित,
> यह मूर्त विश्व सचराचर,
> चिति का विराट वपु मंगल,
> यह सत्य सतत चिर सुन्दर।"

उनके सृष्टि सम्बन्धी विचारों पर काश्मीर के प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रभाव है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रसिद्ध आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने तन्त्रालोक में अकाट्य तर्कों द्वारा ब्रह्म के साथ साथ सृष्टि की भी सत्यता सिद्ध की है और इस विश्व को उस परमब्रह्म का 'आभास' बतलाया है। प्रसादजी की निम्नलिखित पंक्तियों में भी यही बात दृष्टिगोचर होती है —

> नव मुकुट नीलमणि फलक अमल,
> ओ पारदर्शिका ! चिर चचल,
> यह विश्व बना है परछाई।

इसके अतिरिक्त उनके प्रकृति के वर्णनों में मानव भाव ओत प्रोत मिलते हैं।

हिम शैल बालिका कलरव संगीत सुनाती अतीत युग की गाथा गाती हुई सागर से मिलने जाती है और अनन्त मिलन के उपलक्ष में फेनिल खील बिखराती

है। चन्द्र सूर्य और ऊषा सब प्रेम की पुकार करते हैं। ऊषा नागरी अम्बर पनघट में ताराघट डुबाती है और लतिका में मुकुल नवल रस भर लाती है।

उनके प्रियतम भी उनसे प्रकृति द्वारा ही आँखमिचौनी का खेल खेलते हैं, देखिए—

निज अलकों के अंधकार में
तुम कैसे छिप आओगे।
इतना सजग कुतूहल! ठहरो,
यह न कभी बन पाओगे?
आह चूम लूँ जिन चरणों को
चाप चाप कर उन्हें नहीं—
दुख दो इतना, अरे अरुणिमा
ऊषा सी वह उधर बही।
वसुधा चरण चिन्ह सी बनकर
यहीं पड़ी रह जावेगी।
प्राची रज कुंकुम ले चाहे
अपना भाल सजावेगी।
देख न लूँ इतनी ही तो इच्छा!
लो सिर झुका हुआ।
कोमल किरन—उँगलियों से
ढँक दोगे यह दृग खुला हुआ।

भगवान् के अस्तित्व को मानते हुए वे इस बात की विवेचना नहीं करना चाहते हैं कि वे कैसे हैं किन्तु उनसे वे चिर मिलन चाहते हैं। कबीर या दादू का नमक की पुतली का समुद्र में व्यक्तित्व को खो देने वाला मिलन नहीं वरन् जलधि और क्षितिज का सा देखिए—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ?
इनमें क्या है धरा सुनो।
मानस जलधि रहे चिर चुम्बित—
मेरे क्षितिज उदार बनो।

प्रसादजी प्राचीनता के उपासक और भारतीय संस्कृति के भक्त हैं। वे बौद्ध-धर्म से भी बहुत प्रभावित हैं। 'लहर' में बौद्ध धर्म सम्बन्धी दो बड़ी सुन्दर कविताएँ मिलती हैं।

'अरी वरुणा की शान्त कछार' से आरम्भ होने वाली कविता में बौद्ध-धर्म का सार बड़े सुन्दर शब्दों में दिया है। देखिए—

छोड़कर जीवन के अतिवाद,
मध्य पथ से लो सुगति सुधार।
दुःख का समुदय उसका नाश,
तुम्हारे कर्मों का व्यापार।
विश्व मानवता का जय-घोष,
यहीं पर हुआ जलद-स्वर मन्द्र।
मिला था वह पावन आदेश,
आज भी साक्षी है रवि चन्द्र। (लहर)

बौद्ध धर्म की विश्वमानवता, करुणा, और दुःखवाद से वे जरूर प्रभावित हैं, किन्तु वे उसके शून्यवाद को नहीं मानते। वे उसके शून्यवाद में उपनिषदों की 'नेति-नेति' की झलक देखते हैं।

"अहङ्कार मूलक आत्मवाद का खण्डन करके गौतम ने विश्वात्मावाद को नष्ट नहीं किया ''उपनिषदों के नेति नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है''' व्यक्ति रूप से आत्मा के सदृश कुछ नहीं है।"

वे दुःखवाद और क्षणिकवाद दोनों को ही मानते हैं किन्तु उतने पर ठहर नहीं जाते। वे क्षणिक के भीतर शाश्वत सौन्दर्य के दर्शन करते हैं और विश्वात्मा की पुकार सुनते हैं। वे उसमें अपनी वीणा के स्वर को मिला देना चाहते हैं। इस परिवर्तनशील विश्व में वे एक अटल सत्ता का परिचय पाते हैं।

छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए
तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए
सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ;
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?
हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता

कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता ।
हे विराट ! हे विश्व देव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान
मन्द गम्भीर धीर स्वर-संयुक्त
यही कर रहा सागर गान ।

(कामायनी)

प्रसादजी दुखवादी अवश्य हैं क्योंकि दुख के अस्तित्व को आशावाद में भुला नहीं सकते किन्तु उनका दुखवाद सुखवाद से विमुख नहीं है। संसार में दुख-सुख दोनों का ही अस्तित्व है। यद्यपि सुख क्षणिक है। तथापि वह इसलिये उपेक्षणीय नहीं है--

"अन्धकार का जलधि लाँघ कर
आवेंगी शशि - किरणें,
अन्तरिक्ष छिड़केगा कन - कन
निशि में मधुर तुहिन को।
इस एकान्त सृजन में कोई
कुछ बाधा मत डालो,
जो कुछ अपने सुन्दर से हैं
दे देने दो इनको ।"

× × × ×

मानव - जीवन वेदी पर
परिणय है विरह मिलन का
दुख - सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का

वास्तव में सुख दुख ममत्व का खेल है यदि मनुष्य अहंकार भाव को मिटा दे तो उसके लिये न दुख रहता है और न सुख ।

हो उदासीन दोनों से
दुख-सुख से मेल कराए
ममता की हानि उठा कर
दो रूठे हुए मनाए (आँसू)

यही गीता का भी उपदेश है। वास्तव में मनुष्य अहङ्कार को छोड़ दे तो सुख-दुख न रहे। संसार में सुख-दुख का मेल है। इसलिये सुख में दुख को भूलना नहीं चाहिये।

प्रसादजी का दुखवाद अतृप्त वासना का दुख नहीं है। सुख की अतिशयता स्वयं दुख में परिणत हो जाती है। मिलन में विच्छेद लगा रहता है। जीवन में मृत्यु की छाया का मिश्रण रहता है, इसलिये एक के हर्षोल्लास में दूसरे को न भूलना चाहिये। प्रेम में कुछ मिलना होना हो नहीं है। प्रेम के अभाव को सारा संसार पुकार रहा है किन्तु प्रसादजी कहते हैं कि उसका पाना नहीं होता उसमें देना ही होना है। जब उसकी स्थिति ही ऐसी है तब उसमें निराशा या असन्तोष के लिये कहाँ गुंजायश है।

पागल रे! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन-कन से गिन कर
यह विश्व लिए है ऋण उधार
तू क्यों फिर उठता है पुकार?
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

प्रसादजी ईश्वर के सम्बन्ध में अनीश्वरवादी नहीं है। उनकी कविता में पूर्ण आस्तिकवाद की झलक है। इतना ही नहीं वे राम कृष्ण आदि के लिए भी बड़े श्रद्धा के भाव रखते है। 'कंकाल' में वर्णित भारतसंघ के सम्बन्ध में कहे हुए स्वामी कृष्णशरण के वचनों में उनके धार्मिक विचारों की कुछ झलक मिल सकती है। उन विचारों में धर्म के ढोंग और आडम्बर के लिए स्थान नहीं। वास्तव में मानवता ही उनका धर्म मालूम पड़ता है। राम कृष्ण भी उसी मानवता की मूर्ति होने के कारण उपास्य बने थे। प्रसादजी अपनी कविताओं में तो कुछ द्वैतवाद की ओर भुके मालूम होते हैं, किन्तु नाटकों में अद्वैतवाद की झलक मिलती है—

हम सब में जो खेल कर रहा प्रति सुन्दर परछाईं-सा
आप छिप गया आकर हम में फिर हमको आकार दिया
पूर्णानुभव करता है जो 'अहमस्मि' नित सत्ता का
'तू मैं ही हूँ' इस चेतन का प्रणवमध्य गुञ्जार किया।

प्रसादजी यह मानते हुए मालूम पड़ते हैं कि जो कुछ होता है ठीक होता है। यह बात 'जनमेजय के नाग-यज्ञ' में दिखलाई पड़ती है। जनमेजय के नाग-यज्ञ

में वेदव्यासजी को नियतिवादी दिखलाकर प्रसादजी ने इस ओर अपना झुकाव दिखलाया है। यही नहीं कहा जा सकता कि स्वयं उनके विचार क्या हैं।

उनके धर्म में कर्मकाण्ड को एक गौण स्थान मिलता है। कामायनी में कर्म को श्याम चित्रित किया है। कर्म में वे हत्याकाण्ड के तो घोर विरोधी हैं। बलिदान के विरुद्ध बड़े जोर की आवाज़ उठाई गई है। स्कन्दगुप्त में भी बलिदान का घोर विरोध किया गया है। जनमेजय के नाग यज्ञ में यहीं का युग समाप्त किया गया है। कामायनी में भी श्रद्धा और मनु का बलिदान के ऊपर ही मन मैला हुआ। इड़ा भी जन-संहार के सम्बन्ध में क्या सुन्दर उपदेश देती है—

'क्यों इतना आतंक ठहर जा ओ गर्वीले
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले"

"Live and let live" इस उपदेश को यदि रूस और अमरीका वाले अपने हृदय में धारण कर सकें तो संसार का कितना कल्याण हो।

प्रसादजी के सामाजिक विचार बड़े उदार मालूम होते हैं। वर्ण व्यवस्था को वे मानते हैं किन्तु वे उसको दूसरों पर अत्याचार करने का साधन नहीं बनाना चाहते। वे स्वामी कृष्णशरण के मुख से कहलाते हैं—

'वर्ण भेद सामाजिक जीवन का क्रियात्मक विभाग है। यह जनता के कल्याण के लिये बना, परन्तु द्वेष की सृष्टि में, दम्भ का मिथ्या गर्व उत्पन्न करने में, यह अधिक सहायक हुआ है। जिस कल्याण-बुद्धि से इसका आरम्भ हुआ वह न रहा, गुण कर्मानुसार वर्णों की स्थिति नष्ट होकर, आभिजात्य के अभिमान में परिणत हो गई।"

स्त्रियों के अधिकारों के पूर्ण पक्षपाती हैं। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' में आप पूर्ण विश्वास रखते मालूम पड़ते हैं। ध्रुवस्वामिनी में नारीत्व का बड़ा ओजपूर्ण प्रतिपादन मिलता है। स्त्रियाँ पुरुष की सम्पत्ति नहीं हैं। वे दाम्पत्य सम्बन्ध को सहज में ठुकरा देने की वस्तु नहीं मानते। किन्तु यदि पुरुष अपने उत्तरदायित्व को भूल जाय, माँगी हुई शरण न दें, स्वेच्छाचार करें तो आपत्ति धर्म में स्त्रियाँ ध्रुवस्वामिनी की भाँति अपना पथ निश्चित कर सकती हैं। इसी के साथ साथ वे स्वतन्त्र प्रेम के भी पक्षपाती नहीं मालूम पड़ते। एक घूँट में स्वच्छन्द प्रेम के प्रचारक आनन्द जी प्रेमलता के हाथ से शरबत का एक घूँट पीकर विवाह के सम्बन्ध में बँध जाते हैं।

-प्रसादजी पारिवारिक जीवन में सबसे हिल मिल कर रहने और सम्मिलित परिवार के पोषक प्रतीत होते हैं। वे सुखी परिवार का आदर्श 'अजातशत्रु' में किन सुन्दर शब्दों में वासवी के मुख से कहलाते हैं—

> बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में,
> कुल-लक्ष्मी हों मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में।
> बन्धुवर्ग हों सम्मानित, हों सेवक सुखी प्रणत अनुचर,
> शान्तिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर ॥

प्रसादजी के राजनीतिक विचार बड़े उदार हैं। वे गान्धी जी की भाँति राजनीति को धर्मनीति के आधीन रखना चाहते हैं। उनमें सन्तोष की मात्रा अधिक है। जियो और जीने दो के मानने वाले मालूम होते हैं, किन्तु मान मर्यादा के साथ। मानहीन जीवन से वे मरना ही भला समझते हैं। वे मर जाने को तो अच्छा समझते हैं किन्तु संहार के विरोधी हैं।

महाराज अशोक की चिन्ता में इस बात को उन्होंने भली प्रकार बतलाया है—

> दूरागत क्रन्दन-ध्वनि फिर, क्यों गूँज रही है अस्थिर
> कर विजयी का अभिमान भंग, यह महा दम्भ का दानव—
> पीकर अनंग का आसव—कर चुका महा भीषण रव
> सुख दे प्राणी को मानव, तज विजय पराजय का कुढंग।

वे उस महत्वाकांक्षा के पक्षपाती नहीं जिसमें संहार हो। वे राजाओं के अबाधित अधिकार के भी हिमायती नहीं। इड़ा कहती है—

> आह प्रजापति यह न हुआ है कभी न होगा,
> निर्बाधित अधिकार आज तक किसने भोगा

× × × ×

प्रसादजी की रचनाओं में स्थल-स्थल पर सुन्दर विचार भरे पड़े हैं। वे आज कल के यन्त्रवाद के भी विरुद्ध मालूम होते हैं—

> प्रकृत शक्ति तुमने यन्त्रों से सबकी छीनी
> शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

विस्तार भय से लेख को यहीं समाप्त करना पड़ता है।

प्रसाद का युग संदेश

—डा० शम्भुनाथ पाण्डेय

एक महाकवि की प्रतिभा में जहाँ मानव जीवन की पहिचान, उदात्त-कल्पना और प्राञ्जल शैली आदि अनेक कार्योचित, गुणों की अपेक्षा है वहाँ उस में युग वेदना को ग्रहण करने की तथा वेदना का उपचार प्रदान करने की क्षमता भी अनिवार्य है। जो कवि जन जीवन में व्याप्त वेदना और निराशा के विषमज्वर और उसके कारणों का ठीक ठीक निदान नहीं कर सकता एवं उस वेदना में तपकर समाज को उससे मुक्त करने का उपचार प्रदान नहीं कर सकता वह कवि प्रतिभा के अन्य गुणों से युक्त होने पर भी महाकवि नहीं कहा जा सकता। वह जब तक द्रष्टा नहीं है तब तक स्रष्टा नहीं बन सकता। कबीर, जायसी, तुलसी, सूर आदि सतकवि महाकवि कहलाए क्योंकि उन्होंने अपने युग में व्याप्त वेदना और निराशा के क्षयरोग को पहचाना तथा पहचान कर अपना-अपना उपचार प्रस्तुत किया। और वह उपचार ही उनका युगसंदेश है जो युगसंदेश होते हुए भी उन्हीं परिस्थितियों में युग-युग का संदेश बन सकता है।

१६ वीं० शती के उत्तरार्द्ध तथा २० वीं० शती के पूर्वार्द्ध ने भारतीय जीवन के सम्मुख जिन विषम परिस्थितियों का सृजन किया था उन विषमताओं की वेदनाओं का अनुभव भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, निराला आदि महाकवियों ने किया और अपनी-अपनी दृष्टियों से उनका समाधान प्रस्तुत किया। भारतेन्दु की दृष्टि आर्थिक और सामाजिक पराभव पर जमी और उन्होंने सामाजिक जाग्रति एवं राष्ट्रीय संगठन को मुक्तिमार्ग ठहराया। मैथिलीशरण गुप्त की दृष्टि भी आर्थिक एवं सांस्कृतिक पराभव पर विशेष रूप से जमी और उनका समाधान भी भारतेन्दु के समाधान से पृथक् नहीं कहा जा सकता। निराला का विद्रोही स्वर ध्वंस और शक्ति की उपासना की ओर गया किन्तु उसमें सामाजिक कलुष पर वज्र के समान टूट पड़ने की अथवा उस कलुष पर निर्मम व्यंग्यात्मक अट्टहास करने की जितनी क्षमता थी उतनी क्षमता समाज के सम्मुख कोई भावात्मक आदर्श प्रस्तुत करने की नहीं थी। जयशंकर प्रसाद की प्रतिभा आधुनिक कवियों में अन्यतम है। वे न तो भारतेन्दु अथवा मैथलीशरण

युग के मार्ग पर चल सके और न निराला के समान उद्दाम शक्ति और विध्वंस की उपासना कर सके। कारण यह था कि प्रसाद जी जितने महान कवि थे उतने ही महान द्रष्टा भी थे। जीवन की मूल समस्याओं के चिन्तन और मनन में उनकी दृष्टि जितनी गहराई में जा सकी उतनी गहराई में आधुनिक युग के और किसी कवि की दृष्टि नहीं। विद्वान समीक्षक उनको शैव आनन्दवादी, अथवा शैव सामरस्यवादी घोषित करते हैं किन्तु वे यह भी संकेत करते हैं कि शैव दर्शन जहाँ व्यक्तिवादी है—व्यक्ति की दृष्टि से सोचता है एवं व्यक्ति की दृष्टि से ही उपचार खोजता है—वहाँ जयशङ्कर प्रसाद की चेतना समष्टिवादी है। मैं यह नहीं कहता कि प्रसाद की दृष्टि व्यक्तिवादी नहीं है, यदि वैसा होता तब तो उनको छायावादी कवि की श्रेणी में परिगणित ही नहीं किया जा सकता था किन्तु प्रसाद जी जहाँ युग-जीवन की वेदना और निराशा पर दृष्टिपात करते हैं तथा उसका उपचार खोजते हैं वहाँ वे निश्चितरूप से समष्टिवादी बनजाते हैं। प्रसाद जी के युग संदेश का विवेचन करने के पूर्व मैं उस युगव्यापी निराशा और वेदना का निर्देश करना चाहता हूँ जिससे युग के सामान्य कवि मग्न हो रहे थे।

छायावादी युग की यदि कोई सवमान्य भावगत विशेषता स्वीकार की जा सकती है तो वह उसकी व्यक्तिवादी दृष्टि है। व्यक्तिवादी दृष्टि इस युग को अपने पूर्व और परवर्ती युगों—द्विवेदी युग और प्रगतिवादी से पृथक् कर देती है। द्विवेदी-युग 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उद्घोष करते हुए भी भारतीय राष्ट्रीयतावाद से जहाँ प्रायः ऊपर नहीं उठ पाया है वहाँ प्रगतिवादी युग मानववाद का दम भरते हुए भी सर्वहारा वर्ग को ही अपना समवेदना का दान कर सका है, सम्पूर्ण मानव को दृष्टि में रख कर इन दोनों में से कोई भी युग चिन्तन नहीं कर पाया फिर भी छायावादी व्यक्तिवाद से भेद करते हुए हम इन युगों को समष्टि वादी ही कहेंगे क्योंकि इनके चिन्तन का विषय समाज है व्यक्ति नहीं और इसके विपरीत छायावादी युग को चिन्तन का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति है समाज नहीं। फलतः छायावादी युग की वेदना और निराशा अनुभूति व्यष्टिवादी है समष्टिवादी नहीं इसीलिए वह अधिक कटु और तीव्र है। सब के साथ दुःख का अनुभव करने में जो एक प्रकार का परितोष प्राप्त होता है व्यष्टिवादी होने के कारण छायावादी कवि उस परितोष का अनुभव नहीं कर पाता इसलिए वह क्षोभ, भय, ग्लानि और निराशा से चीख उठता है—

"कितना अकेला आज मैं।"

क्षीणशक्ति और दुर्बल स्नायुओंवाला व्यक्ति जीवन की विषम परिस्थितियों से पराजित होकर पराजय की आत्मग्लानि से त्राण पाने के लिए निराशा को दार्शनिक रूप देने लगता है। वह जगज्जीवन को ही दुखद एवं हेय मानकर जीवन से पलायन करने को प्रस्तुत हो जाता है। जीवन की सम्पूर्ण दुर्बलताएँ जरा मरण आदि उस दर्शन का केन्द्रबिन्दु बन जाती हैं। वह जीवन के सुखद पक्ष की ओर या तो दृष्टिपात करता ही नहीं और यदि करता भी है तो तुरन्त ही उसकी चित्तवृत्ति उसके अन्तिम परिणाम—मृत्यु अथवा विनाश की सम्भावना का चिन्तन करने लगती है। छायावादी कवियों की यही दयनीय दशा थी जिस समय कामायनीकार अपनी अमर कृति का सृजन कर रहा था। कतिपय उद्धरण वाञ्छनीय होंगे। अप्रेल १९२४ में अपनी 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में सुमित्रानन्दन पंत ने लिखा था —

हाय! सब मिथ्या बात!—
　　　　आज तो सौरभ का मधुमास
　　　　शिशिर में भरता सूनी सांस!

×　　　×　　　×　　　×

　　　　अखिल यौवन के रंग उभार
　　　　हड्डियों के हिलते कंकाल,
　　　　कचों के चिकने, काले व्याल
　　　　केंचुली, कांस, सिवार,
　　　　　　गूंजते हैं सबके दिन-चार,
　　　　　　सभी फिर हाहाकार!

यह 'सभी फिर हाहाकार!' का स्वर निराशावाद का स्वर है जिस को शाश्वत् जीवन दर्शन का रूप देदिया गया है। सन् १९३३ में 'रूपराशि' शीर्षक गीत संग्रह में रामकुमार वर्मा ने इसी 'हाहाकार' को दूसरे शब्दों में व्यक्त किया था —

　　　　इन्द्र धनुष सा यह जीवन
　　　　　　दुख के काले बादल में
　　　　　　　　अंकित है इस क्षण या उस क्षण।

'दुख का काला बादल' पंत जी के 'हाहाकार' का ही पर्याय है और जीवन की क्षणिकता पर दोनों कवियों का समान बल है। जीवन के शाश्वत् रूप को—

संतति परम्परा या पुनर्जन्म के रूप में—सब दोनों कवियों में से कोई भी हृदयंगम नहीं कर पाया था, कारण उनका मानस निराशावाद के क्षयरोग से पीड़ित था। सन् १६३५ में 'रेणुका' नामक गीत-संग्रह के 'जीवन-संगीत' एवं 'परदेशी' शीर्षक गीतों में दिनकर ने भी जीवन की निराशा को एक दार्शनिक रूप दिया है। आप लिखते हैं :—

> सृष्टि बाद जाने को बैठी निर्भय मौत अकेली
> जीवन की नाटिका भ्रमात ! है जग में एक पहेली
> यहाँ देखता कौन कि यह नत मस्तक, वह अभिमानी
> उठती एक हिलोर, डूबते पंडित औं' अज्ञानी
>
> × × × ×
>
> हरा भरा यह सरा यहां पर नहीं किसी का बाग सजो
> यहां सदा जलती रहती है सर्वनाश की आग सजो !"

यह 'सर्वनाश की आग' सचमुच निराशावाद की आँच थी जो परिस्थितियों की विषमता के कारण कवि मानस में सुलग रही थी तथा जिसके विषैले धुँए से हिन्दी-काव्य का क्षितिज धुँधला एवं वातावरण दम घोंटने वाला बन रहा था। व्यक्तिगत निराशा जहाँ दार्शनिक आभा नहीं ओढ पायी वहाँ समाज से उदासीनता एवं अतिवैयक्तिकता, हताशा और पराजय, पश्चात्ताप एवं विषाद, आत्म-सदेश एवं आत्मग्लानि यहाँ तक कि मृत्युकामना जैसी घातक प्रवृत्ति के रूप में परिणत होगई है। इस छोटे से निबंध के अंक में न तो सब प्रवृत्तियों का निवेचन करने का अवकाश है और न अपेक्षा। फिर भी युगव्याप्त निराशा का आपको आभास देने के लिए एक दो भीषणतम मनोवृत्तियों की ओर संकेत अवश्य करूंगा क्योंकि इस निराशा की गहराई का आभास पाए बिना आप प्रसाद के युग-दर्शन की गरिमा का अनुमान भी न कर सकेंगे।

सन् १६३६-३८ में बीच बच्चन जी सोच रहे थे—"आओ, सो जाएँ, मर जाएँ" अथवा 'जल जाऊँगा अपने कर से रख अपने ऊपर अँगारे !" जैसे मर जाना अथवा अपने ऊपर रखना कोई गुड़ियों का खेल हो। यह भीषण संकल्प नहीं था अपितु निराशावाद रूपी मृगी का एक फिट था या यूँ कहना चाहिये कि मानसिक क्षयरोग की वह ठकार थी जो वातावरण को दूषित करके बीमारी के कीटाणुओं को समाज में संक्रमित करती है। नरेन्द्र शर्मा भी इसमें अपनी भीषण स्थिति का इन शब्दों में उद्घाटन कर रहे थे—

एक, हृदय की कायरता है,
और दूसरी छलना मन की,
इन दोनों के संग सहारे
चलती जाती गति जीवन की !

× × × ×

कई बार सोचा, मर जाऊँ
किन्तु कहाँ वह साहस पाऊँ
ऐसी शक्ति कहाँ से लाऊँ
जाऊँ अपने लिए सजाऊँ
सुख की सेज अगर चन्दन की।

जिस युग में जिन परिस्थितियों की प्रेरणा से छायावादी कवि मरने तक का साहस नहीं पा रहे थे उसी युग में, उन्हीं परिस्थितियों में छायावादी कवि प्रसाद "शक्तिशाली हो, विजयी बनो' का उद्घोष कर रहे थे। और यह घोषणा उन्होंने क्षणिक आवेश म आकर नहीं की थी अपितु एक सुनिश्चित जीवन दर्शन के रूप में अपना युग-सदेश समस्त राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित किया था और इस दर्शन का उल्लेख उन्होंने सम्पूर्ण श्रद्धा सर्ग में किया है।

सन् १६२१ तथा १६३१-३२ के राष्ट्रीय संग्राम की विफलता के रूप में निराशा और पस्तहिम्मती की तो हिमानी लहर भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक बही थी, कवि ने उसका अनुभव किया था और श्रद्धा सर्ग तक मनु का मनोवृत्ति मानो पराजित राष्ट्र की मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है। श्रद्धा सर्ग के पश्चात् 'कामायनी' का एक 'प्लॉट' समाप्त हो जाता है और कवि मानव मनोजगत की अन्य दुर्बलताओं का चित्रण प्रारम्भ करता है। सच पूछा जाय तो श्रद्धा सर्ग तक वे मनु वह मनु रहते ही नहीं जिनको 'अपार ऊर्जस्वित वीर्य से दीप्त व्यक्तित्वयुक्त तरुण तपस्वी के रूप मे 'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर' देखा था। श्रद्धा सर्ग तक के मनु एक नष्ट प्रायः राष्ट्र के भग्नावशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो अपने स्वर्ण अतीत के विनाश की चिन्ता में मग्न हैं—विवश तथा निरुपाय हैं। मनु के इस व्यक्तित्व की समीक्षा यदि आधुनिक युग की पीठिका पर की जाय तो उनकी चिन्ता और निराशा साम्राज्यवाद से आक्रान्त भारतीय समाज की चिन्ता और निराशा है, जिसका अनुभव तत्कालीन अन्य कवि कर रहे थे। एक

सामान्य कवि और महाकवि में यही अन्तर है कि प्रथम की दृष्टि जहाँ नीहारपूर्ण वर्तमान का भेद न करके भविष्य का स्वर्णिम प्रकाश का साक्षात्कार नहीं कर पाती वहाँ द्वितीय की दृष्टि वैसा करने में समर्थ होती है। प्रसाद जी के हृदय में जीवन के प्रति आस्था ही थी और वह आस्था ही श्रद्धा का रूप धारण करके हमारे सामने उपस्थित हुई है। श्रद्धा सर्ग के मनु और श्रद्धा का वार्तालाप पराजित मनोवृत्ति और जीवन की आस्था का वार्तालाप है। जीवन की आस्था किसी भी भीषण परिस्थिति से हार नहीं मानती। उसका उदय निराशा और पराजित मनोवृत्ति के कुहासे का भेदन कर डालता है। श्रद्धा सर्ग में यही हुआ है। दूसरे शब्दों में श्रद्धा के द्वारा मनु को दिया गया स्निग्ध उपदेश प्रसाद के कोमल हृदय के द्वारा राष्ट्र को दिया गया युग-सदेश है। जिस प्रकार किसी घातक रोग से पीड़ित रोगी को किसी कोमल वाणी, दुलार वात्सल्य और सहानुभूति की अपेक्षा होती है उसी प्रकार निराश हृदय को जीवन-क्षेत्र में पुन प्रेरित करने के लिए कान्ता सम्मित कोमल वाणी की ही अपेक्षा थी। इसीलिए कवि ने मनु की निराशा और ग्लानि को दूर करने के लिए श्रद्धा का सृजन किया है किसी देव या ऋषि का नहीं।

श्रद्धा के मनोहर और उदार व्यक्तित्व को पाकर मानो मनु की वेदना उमड़ पड़ती है और वे अपने जीवन की सम्पूर्ण विवशता एक ही साँस में उसके सामने व्यक्त कर देते हैं। और कवि (प्रसाद) के कोमल हृदय की कान्त कल्पना की दिव्य लघु लहरी' श्रद्धा मनु की व्यथा का अनुभव के उनको दुलार भरे शब्दों में समझाने लगती है :—

> 'तपस्वी ! क्यों इतने हो क्लान्त ?
> वेदना का यह कैसा वेग ?
> आह ! तुम कितने अधिक हताश
> बताओ यह कैसा उद्वेग !'

श्रद्धा मनु से प्रश्न करती है केवल शिष्टाचारवश अन्यथा वह जानती है कि मनु के हृदय में जीवन से क्यों ग्लानि उत्पन्न हो उठी है। वह स्वयं ही एक कुशल वैद्य के समान वास्तविक रोग को पहचान लेती है :—

> 'दुःख के डर से तुम अज्ञात
> जटिलताओं का कर अनुमान,

काम से झिझक रहे हो आज
भविष्यत् से बनकर अनजान।'

विस्तार भय से श्रद्धा का सम्पूर्ण कथन यहाँ उद्धृत नहीं किया जा सकता। उसे न तो संक्षिप्त ही किया जा सकता है न उसके किसी अंश को छोड़ा ही जा सकता है। अतः मैं पाठकों से अनुरोध करूँगा कि वे श्रद्धा सर्ग को पुनः पढ़ें। श्रद्धा के मुख से निकला हुआ एक एक शब्द जयशंकर प्रसाद का भग्न और भग्न हृदय राष्ट्र को आशा और जीवन का युग संदेश है इसमें किसी प्रकार का तर्क वितर्क प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, और संदेश शाश्वत संदेश है जिससे किसी भी युग का कोई भी राष्ट्र या व्यक्ति जीवन की प्रेरणा पा सकता है।

प्रसाद-साहित्य में प्रेम और सौन्दर्य

—डा० रामेश्वर लाल खंडेलवाल 'तरुण'

प्रेम और सौंदर्य का विषय अपने मूल रूप में काम—सृष्टि की मूल प्रेरणा से प्रगाढ़ आलिंगन रूप में आबद्ध है। इस नाते प्रस्तुत विषय की जड़ तथा स्नायुजाल को समझने के लिए 'काम' तथा उसके साहित्यिक रूपान्तर 'रतिभाव' अथवा उसके चरम विकास 'शृंगार रस' की विवेचना अथवा प्रसंग प्राप्त है, किन्तु यह विस्तार प्रस्तुत लेख की सीमित परिधि को कदाचित् असह्य हो उठे अतः 'प्रसाद' की प्रेम सम्बन्धी धारणा, जिसमें सौंदर्य का विषय भी स्वभावतः समाविष्ट है, की विवेचना से ही प्रस्तुत लेख का प्रवर्तन समीचीन होगा। 'प्रसाद' की उक्त धारणा को, जो उनके ध्वनित, वर्णित व संकेतित तथ्यों से ही हमें संकलित करनी है, हृदयंगम किये बिना उनकी प्रेम सौंदर्य-सृष्टि का निर्भ्रांत महत्त्व बोध व मूल्यांकन असंभव ही है।

साहित्यकार का सत्य व्यापक सत्य होना है—आंशिक अथवा खण्डित नहीं। समस्त जीवन, समस्त अंतःसत्ता, और समस्त जगत्—इन तीनों के पूर्ण समन्वय अथवा समाहार से ही उसका शाश्वत सत्य (केवल सामयिक नहीं) तैयार होता है। कवि के सत्य में सत्, चित् और आनन्द, सत्यं शिवं और सुन्दरम् तथा शक्ति, शील, और सौन्दर्य—ब्रह्म के तीनों स्वरूपों तथा भगवान् की विभूतियों का—संगम हो जाता है। जब इस व्यापक सत्य की उपेक्षा करके किसी व्यक्ति, सम्प्रदाय अथवा संस्था द्वारा किसी आंशिक सत्य का अनुभव, प्रतिष्ठा अथवा प्रचार का दुराग्रहपूर्ण उपक्रम होता है तो व्यक्ति अथवा समाज के जीवन में वैषम्य व असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है, और फिर इनके विकारों से मुक्ति, निर्ग्रंथ, स्वच्छ व स्वाभाविक जीवन की स्थापना के लिए आवश्यक हो जाती है। मानव-जीवन का सत्य मानवीय अनुभवों, परिस्थितियों व सीमाओं की नितान्त उपेक्षा करके नहीं चल सकता। जहाँ इस प्रकार का प्रयत्न किया जाता है वहाँ छद्म व दम्भ का प्रवेश हो जाता है। ('प्रसाद के 'इरावती' नामक उपन्यास, 'देव रथ' नामक कहानी तथा विशाख, स्कन्दगुप्त आदि नाटकों में ह्रासोन्मुख बौद्ध-काल से सम्बन्धित चित्र इस बात के प्रमाण हैं।) मानवीय दुर्बलताओं से ऊपर

उठकर—प्रकृति पर विजय पाकर—जीवन की उच्च भूमियों को प्राप्त करने का अर्थ, हठ, दुराग्रह, आत्म वंचना या मिथ्याचार कभी नहीं होता। दुर्भाग्य से बड़े बड़े साधक व विचारक भी इन दुर्गुणों से न्यूनाधिक रूप से ग्रस्त हो जाते हैं और वास्तविक मानवीय सत्यों की उपेक्षा कर अपनी एक विशेष दुराग्रहशील प्रवृत्ति की कठोर प्रेरणा से जीवन के भयंकर दार्शनिक व धार्मिक अतिवादों की सृष्टियाँ कर बैठते हैं। इसीलिए एक ओर घोर विलासिता का प्रतीक 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ' वाला जीवन दर्शन तैयार हो जाता है तो दूसरी ओर पचाग्नि तप कर कुनत से देह विरवाकर हठपूर्वक ब्रह्मानुभव का। ये दोनों ही अतिवाद न्यूनाधिक रूप से असन्तुलित, अस्वस्थ व केन्द्रच्युत मस्तिष्क के दुष्परिणाम कहे जा सकते हैं।

साहित्यकार अथवा कवि इन दोनों ही अतिवादों को बचाते हुए मानवीय परिस्थितियों के अनुरूप स्वस्थ जीवन का दृष्टिकोण तैयार करता है और उसके द्वारा जीवन के सब विरोधों में अन्विति (Unity) व सामंजस्य (Harmony) स्थापित करने का प्रयत्न करता है। कवि की साधना मधुर साधना है। उसका गौरव भी उसकी इसी स्वरूप वाली साधना में निहित है। 'प्रसाद' का समस्त साहित्य प्रेम से आत्म स्फूर्त, सनाथ, प्राणवान्, मधुर,—स्निग्ध व ऐश्वर्यशाली है। प्रेम के विस्तृत व व्यापक निरूपण के द्वारा ही 'प्रसाद' ने मानवीय सीमाओं में आबद्ध मानव जीवन के इस महान्, व्यापक गम्भीर व मौलिक अनुभव में ही देवत्व का प्रतिष्ठान किया है। यही 'प्रसाद' के प्रेम साहित्य का गौरव व महत्व है। भक्ति का सरसता, उच्चकोटि के वेदान्त (अनसमझों के द्वारा संसार केवल माया है, क्षणभंगुर है, तुच्छ है—आदि की तोतारटती बातों वाला नहीं) की आनंदवादी भावना व गीता का निष्काम कर्मयोग—इन तीनों के जीवन रस से प्रसाद साहित्य सरस, सजल, उर्वर व पन्नामणि के समान हरा है।

> तप नहीं केवल जीवन सत्य करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,
> तरल आकांक्षा से है भरा सो रहा आशा का आह्लाद।
> (कामायनी)

पृथ्वी ने जीवों के लिए नितान्त सहज स्वाभाविक इस प्रोज्ज्वल मानवीय दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा के लिए प्रसाद ने जीवन भर कितना संघर्ष किया! 'प्रसाद' साहित्य के चौड़े पाटवाली इस ब्रह्मपुत्र के तट पर खड़े होकर जरा

नजर तो डालिये ! जीवन को सुखा कर कङ्काल बना डालने वाले शुष्क दर्शनों के लौह पंजों से मुक्त कर मानव जीवन को सरस व मंगल हरियाली से लहलहाना बनाने का प्रयत्न करने वाला 'प्रसाद' साहित्य हम मिट्टी के कीड़ों के लिए कितने काम की चीज है।

'प्रसाद' ने अपने सारे साहित्य में इस प्रेम सम्बन्धी दर्शन अथवा विचारधारा के द्वारा जीवन के उक्त अतिवादी अथवा आत्यन्तिक विरोधों का सामञ्जस्य घटित करके दिखाया है और इस प्रकार मानवीय परिवेश में ही प्रेम व सौन्दर्य का उज्ज्वल सांस्कृतिक स्वरूप उद्घाटित किया है।

प्रेम सौन्दर्य का विषय अत्यन्त विस्तृत व विशाल है। शृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' प्रेम के सभी रूपों (प्रणय भक्ति, श्रद्धा वात्सल्य, देशप्रेम, प्रकृति प्रेम, सूक्ष्म प्रकृति प्रेम आदि) के मूल में है किन्तु प्रणय या दाम्पत्य रति (मनोविज्ञान शास्त्र की सुप्रतिष्ठित स्थापनाओं के अनुसार) सब प्रेम सम्बन्धों के मूल में है अतः शृंगार रस के केन्द्र अथवा मर्मबिन्दु तक ही इस विषय को सीमित रखा गया है। इसी प्रकार सौन्दर्य का प्रपञ्च भी विस्तृत व विशाल है। प्रेम का स्वरूप ही हमारी सौन्दर्य दृष्टि व सौन्दर्यानुभव का नियमन किया करता है अतः प्रस्तुत लेख की सीमित परिधि में आई सौन्दर्य चर्चा में प्रणयजनों के अनुभव पथ में आने वाले सुन्दर पदार्थ, सौन्दर्य बोध अथवा सौन्दर्य की अनुभूति ही निहित है। सौन्दर्य की दृष्टि से प्रकृति का अपना स्वतन्त्र महत्व भी है, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु प्रस्तुत लेख में प्रकृति का सौन्दर्य शृंगार रस की दाम्पत्य प्रणयानुभूति के व्यापक सन्दर्भ में ही निहित समझा जाना चाहिये। इस प्रकार प्रस्तुत लेख की अपनी स्पष्ट सीमाएँ हैं।

'प्रसाद' का प्रेम-दर्शन—

प्रसाद' का प्रेम सम्बन्धी धारणा और भावना अत्यन्त उच्च है। देवत्व और पशुत्व के दो कूलों के बीच बहने वाली 'प्रसाद' की यह मानवीय प्रेम धारा परम गंभीर तरंगवती स्निग्ध निर्मल, शीतल प्रसादायिनी व सतत् गतिवान् है। 'प्रसाद' ने मानव जीवन की विराट् पटी पर अंकित मानवीय क्रिया-कलापों की भव्य दृश्यावलियों के बीच, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रेम सम्बन्धी जो तथ्य हमारे लिए छोड़े हैं, उनका संकलन व संयोजन करके 'प्रसाद' का एक भरा पूरा व सुव्यवस्थित प्रेम दर्शन सहज ही खड़ा किया जा सकता है। उनकी धारणा में प्रेम ही दो आत्माओं का सच्चा परिचय है, वही सच्चा सम्बन्ध है। (झरना)। उसके लिए सब

पपीहे सी पुकार लगा रहे हैं पर वह मिलता नहीं। बस, वह तो केवल दिया जाता है। (लहर) यदि वह मिलेगा भी तो केवल आत्म विसर्जन से ही। (लहर)। देना हो जितना दे दे तू, लेना कोई यह न करे' । (कामायनी)। प्रेम यौवन में आता है—इतना उन्माद, विकास प्रफुल्लता व स्फूर्ति लिये—मानों साक्षात् मधुऋतु पथ भूलकर जीवन में आ गई हो (लहर)। यौवनोदय के साथ ही सरल हृदय में उत्कट इच्छा होती है कि कोई भी सुन्दर मन अपना साथी हो। प्रत्येक नवीन परिचय में उत्सुकता रहती है और मन में एक बार तो सर्वस्व लुटा देने की सन्नद्धता रहती है, (चन्द्रगुप्त)। जो कुछ भी सुन्दर अपने पास होता है, वह भेंट में चढ़ा दिया जाता है, (लहर)। बुद्धिमानी अथवा समझदारी से प्रेम की ऋतु—यौवन—चली जाती है। यौवन। मानो स्वर्गीय उल्लास का नद सा उमड़ पड़ता है। हृदय सुन्दर हो जाता है। किन्तु हाय री विडम्बना यह कठोर संसार हमारे प्रेम को खिलने और लहलहाने नहीं देता। "अकस्मात् जीवन कानन में एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसंत घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल—'कौन ?' कहकर सबको रोकने टोकने लगता है, पुकारने लगता है। फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरंद सी उसमें छिपी रहती हैं।"—'हृदय नीरव अभिलाषाओं का नीड़ हो जाता है। जीवन के प्रभात का मनोहर स्वप्न विश्व भर की मदिरा बनकर उन्माद की सहकारिणी कोमल कल्पनाओं का भंडार हो जाता है, (चन्द्रगुप्त)। हृदय अपने प्रिय को अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्द्धरात्रि में आलोकपूर्ण नक्षत्रलोक से कोमल हीरक कुसुम के रूप में आते देखता है। विश्व के असंख्य कोमल कंठों की रसीली तानें पुकार बनकर प्रिय का अभिनंदन करने उसे सँभालकर उतारने के लिए, नक्षत्र लोक को जाती हैं। शिशिर कणों से सिक्त पवन उसके उतरने की सीढ़ी बनता है। उषा स्वागत करती है, —चाटुकार मलयानिल परिमल की इच्छा से परिचारक बनता है और बरजोरा मल्लिका के एक कोमल वृन्त का आसन देकर उसकी सेवा करने लगता है।" (अजातशत्रु) कुसुम मकरन्द की वर्षा होने लगती है, प्राण पपीहा आनन्द से बोल उठता है। बाल अरुण सी प्रिय की छवि प्रकट होकर शून्य हृदय को नवल राग से रंजित कर देता है। मन प्रेम तीर्थ में स्नान करके पवित्र व उत्साहपूर्ण हो जाता है। जीवन के इस प्रथम प्रभात में विश्व विमल आनन्द भवन सा हो जाता है। फिर प्रिय से मिलन होता है। मानों स्वर्ग और पृथ्वी मिल गये हों। (झरना) प्रकृति के सातों तार एक लय में गूँज उठते हैं। चारों ओर प्रफुल्लता, शान्ति, रंगिनी,

स्फूर्ति व प्रेरणा का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। दृष्टि पथ में सृष्टि आलोकमयी हो उठती है। सारा विश्व वैभव सम्पन्न हो उठता है, (झरना)। ऐसे प्रेमानुभूति के मधुर प्रहर में यदि प्रियतम से हम बिछुड़ भी जाये तो प्रिय का यों स्मरण करते हैं—"अमृत के सरोवर में स्वर्ण कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल पहल थी। सवेरे सूर्य की किरणें जो चूमने को लोटती थीं, सन्ध्या में शीतल चांदनी उसे अपनी चादर से ढँक देती थी, उस मधुर सौंदर्य, इस अतीन्द्रिय जगत् की साकार कल्पना की ओर मैंने हाथ बढ़ाया था, वहीं स्वप्न टूट गया'। (स्कन्दगुप्त)।

ऐसी दिव्य अनुभूतियों वाला प्रेम इस जीवन में किसे स्पृहणीय नहीं? कौन अभागा जीवन के इस महान् अनुभव से वंचित होकर अपनी संसार-यात्रा निरर्थक करना चाहेगा! जो इस अनुभव से वंचित होकर केवल रुदन स्वयं ही लेकर लौटा उस अभागे के लिए कवि केवल यही कहकर आह भर उठता है—

"सौंदर्य-जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल पात्र।"

(कामायनी, इड़ा सर्ग)

ऐसे प्रेम की प्राप्ति के लिए किया गया रुदन व हाहाकार भी संगीत बन जाता है (आँसू)। ऐसे उत्कट प्रेम के पथ का ताप व ज्वाला जीवन को खरा कंचन बना देती है (झरना)। ऐसे तत्वों से बना हुआ यह प्रेम जीवन को उदात्त पवित्र, शान्तिपूर्ण व मधुर बना देता है (आँसू)।

किन्तु जहाँ प्रेम ये स्वर्गीय विभूतियाँ लाता है वहां वह इस महान् प्रेम की रक्षा, पोषण व संवर्द्धन के लिए हमारे यत्नों की कड़ी परीक्षा भी लेता है। (प्रेम पथिक) प्रेम केवल भोग नहीं है। वह एक ऐसे पथ की यात्रा है जहाँ ऊपर छाया है तो नीचे सर्वत्र काँटे बिछे हैं। प्रेम में स्वार्थ और कामना का पूर्ण हवन कर देना पड़ता है। प्रेम एक पवित्र पदार्थ है जिसमें कहीं कपट की छाया नहीं होती। यह प्रभु का स्वरूप है। प्रेम के पथ का उद्देश्य श्रांत भवन में टिककर पड़ जाना नहीं है अपितु पूर्ण आत्मानुभूति के लिए उस सीमा पर पहुँचना है जिसके आगे कोई और राह नहीं होती। मोह तो रूपजन्य होता है, किन्तु प्रेम उदार व अनन्त है। *इसीलिए कवि कहता है*—'मेरे हृदय उदार बनो' (लहर)। प्रेम जगत का चालक है। इसके आकर्षण में खिंचकर ब्रह्मांड का

अणु-परमाणु सक्रिय है। इसी के बल से वृक्ष पुराने पत्ते झाड़कर नया वसंत पाते हैं। प्रेम का एकमात्र सिद्धान्त है—अपना सभी अस्तित्व मिटा देना तथा सारे संसार में अपने प्रियतम को ही देखना। ऐसी स्थिति में विरह का कोई भय नहीं रहता। फिर तो किसी से द्वेष भी नहीं हो सकता क्योंकि सारा विश्व तो प्रियतममय हो ही चुका। संयोग वियोग जैसी स्थिति ही नहीं रहती। इतना ही नहीं स्थूल जगत की सब सत्ताएँ ही मिट जाती हैं केवल सूक्ष्म सत्य सत्व प्रेममात्र का ही अखण्ड साम्राज्य हो जाता है। (प्रेम पथिक)। यही महान् अमर व आदर्श प्रेम है। फिर ऐसी पुकार लगाने को जीवन में आवश्यकता ही नहीं रहती कि—'मुझको न मिला रे कभी प्यार!' (लहर)। प्रेम ही मुक्ति है, प्रेम ही शक्ति है। प्रेम से ही हृदय शुद्ध सुवर्ण बनता है। प्रेम ही हृदय तथा जीवन को सौन्दर्य प्रदान करता है। (झरना) प्रेम की इसी मंगल विधायिनी एवं लोककल्याणकारिणी शक्ति का अनुभव करके कवि सर्वत्र प्रेम की पताका फहराना चाहता है—

'प्रलय प्रभंजन भलय मचा हो, फहरे प्रेम पताका!' (झरना)

इस प्रकार 'प्रेम' जीवन की कुछ छिपी हुई गहरी बात है (झरना)। तुमुल कोलाहल कलह में हृदय की बात है (कामायनी)। यह केवल भौतिक जन्म-मरण के दो बिन्दुओं के बीच की ही बात थोड़े ही है! यह तो अनंत जीवन और अनन्त पथ की कहानी है। (झरना) सारी प्रकृति व मानव-जीवन प्रेम के बिना जड़ है। प्रेमका आलोक लेकर, अनन्त जन्मों की यात्रा करते हुए, अनन्त पथ से हम इस संसार में आते हैं और चिति का दीप जलाकर सारी प्रकृति को कृपापूर्वक आलोकित कर देते हैं (झरना)। यह सृष्टि पर मानों हमारा उपकार है। ऐसा महान् प्रेमानुभव जिस प्रेमालंबन के सहारे होता है वह भी कोई भौतिक व्यक्ति थोड़े ही है। वह तो मानों प्रकाश व सौरभ के बादलों पर से किसी अमरलोक से आता है। (झरना)। ऐसी प्रिया विश्व मंदिर की मणिदीप है और कल्याणमयी शीतल ज्वाला है। ऐसे प्रिय से विछोह हो ही कैसे सकता है। यदि भौतिक जगत् में बिछुड़ भी गये तो अनन्त जीवन पथ पर कहीं न कहीं मधु-पथ में फिर टकरा जायेंगे। यही इस प्रेम की शक्ति, अमरता व अनन्तता है (आँसू)। प्रिय और प्रेमी, आत्मा के नाते, देखते ही चिर परिचित से लगते हैं क्योंकि प्रिय तो हमारे जन्म-जन्म का जीवन है (आँसू)। ऐसा है

यह दिव्य प्रेमानुभव तभी तो अचानक किसी सुन्दर मोर में उसको अनुभूति होती है—उसको कहते प्रेम—अरे अब जाना (झरना)। ऐसे दिव्य प्रेमका इस संसार में प्रचार होता है केवल अनन्य श्रद्धा के द्वारा—

यह लीला जिसकी विकस चली वह मूल शक्ति थी प्रेमकला।
उसका संदेश सुनाने को संसृति में आई वह अमला।
(कामायनी)

इस प्रकार भौतिक परिवेश में ही कवि की कल्पना व अनुभूति प्रेम का अत्यन्त उदात्त, भव्य उज्ज्वल व आदर्श स्वरूप संघटित करती है।

इन भावनाओं के द्वारा 'प्रसाद' की प्रेम धारणा अवश्य पर्याप्त स्पष्ट हो जाती है।

प्रेम की सरणियां अथवा कोटियां—

पर क्या इस कर्म-कोलाहल पूर्ण त्रिगुणात्मक संसार में ऐसे दिव्य प्रेम का अनुभव सामान्यतः सब कर पाते हैं! नहीं। पाशविक भोग लिप्सा और दिव्य प्रेम—इन दो कूलों के बीच में ही मानवों का प्रेमानुभव सचरण करता रहता है। व्यापक दृष्टि से 'प्रसाद'—साहित्य में प्रेमानुभव के पाँच निश्चित सोपान किये जा सकते हैं जो निम्न प्रकार हैं :—

(१) सूक्ष्मतम, आत्म प्रधान, आदर्शवादी रहस्योन्मुख अतीन्द्रिय प्रेम : जो 'प्रसाद' की आदर्श प्रेम-कल्पना का विश्राम-नीड़ है,

(२) परिष्कृत व ऊर्ध्वगामी प्रेम—जो मिलनाभिमुख प्रेमी हृदयों की आशा है।

(३) औसत या सामान्य प्रेम जो सद्‌गृहस्थों के द्वारा सामान्य अनुभव का विषय है और जो सात्विक व राजसिक की संधि रेखा पर स्थिति कहा जा सकता है।

(४) राजसिक विलास प्रेम जो वीरों का पुरस्कार है व जगत् के तमस् को फाड़ने वाले शस्त्र-व्यवसायियों अथवा बाहुबलियों का अधिकार है।

(५) अधम विलास-पंक में सड़ा गला प्रेम—जो मरणोन्मुख है, और सूखी पत्ती की तरह अपने नाश के लिए हवा की एक तरंग की प्रतीक्षा में अपनी साँस पर भूल रहा है।

इन पाँचों प्रकारों अथवा कोटियों में 'प्रसाद' के समस्त प्रेम-पात्र व

उनके जीवन व्यापार समाविष्ट किये जा सकते हैं। प्रथम व पंचम प्रकार—ये 'प्रसाद' के प्रेम के दो छोर हैं, जिनके बीच में द्वितीय तृतीय व चतुर्थ प्रकार का प्रेम न्यूनाधिक रूप में जीवन में देखने सुनने में आता रहता है। इन सब पर थोड़ा विस्तार से विचार किया जाय—

(१) प्रथम कोटि का प्रेम मानो 'प्रसाद' के आदर्श प्रेम की कसौटी है।

यह प्रेम अनाघ्रात कुसुम सा पवित्र व गंगा सा पावन है। इस में व्यावसायिकता या वणिग्वृत्ति कहीं भी नहीं। उज्ज्वल मौन विसर्जन है। इसमें हृदय के समस्त भाव वैभव अथवा अस्तित्व के समस्त गुणों का बड़ा ही चमत्कारपूर्ण व रोमांचकारी उन्मेष दिखाई पड़ता है। यह प्रेम निष्कामता की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ सा दिखाई पड़ता है (हाँ, मनोविज्ञान तो पवित्रतम व पूर्ण निष्काम प्रेम के मूल में भी इच्छा का बीज बनाये बिना अपना अस्तित्व सफल व सार्थक न कर पायगा।) चाहे यह निष्कामता रो धोकर प्राप्त हुई हो चाहे हँसी-खुशी से। विरुद्धक का मल्लिका के प्रति प्रेम (अजातशत्रु) अभिव्यक्ति के आधार पर इसी कोटि का जँचता है। मातृगुप्त (स्कन्दगुप्त) का अपनी अलौकिक प्रणयिनी के प्रति प्रेम इसी उच्चता को पहुँचा हुआ दिखाई पड़ता है। 'प्रेम पथिक' का किशोर भी इस स्थिति को पहुँच चुका है। चन्द्रगुप्त की मालविका इसी प्रेम की वेदी पर नीरव विसर्जन करके हमें चमत्कृत कर देती है। 'आँसू' का प्रेम भी इसी धरातल का है। आकाशदीप, प्रलय, कला, हिमालय का पथिक, समुद्र सन्तरण आदि कहानियाँ इसी उच्च प्रेम की भव्य स्मारक हैं।

आध्यात्मिकता या रहस्योन्मुखता की सबसे अधिक गुंजाइश इसी कोटि के प्रेम में दिखाई पड़ती है। कल्पना और भावुकता का अपार ऐश्वर्य भी यहीं बिखरा हुआ मिलता है (यद्यपि आगामी कोटि के प्रेम में भी ये तत्व पर्याप्त रूप में उपलब्ध होते हैं)।

(२) प्रथम व द्वितीय दोनों ही कोटियों के प्रेम अपने स्वरूप व मार्मिकता में पर्याप्त समानता रखते हुए भी कुछ भिन्न दिखाई पड़ते हैं। पहले में प्रेम मानवीय परिवेश में संभव निर्विकारता, शुभ्रता व निर्द्वंद्वता की सीमा को पहुँचा हुआ सा जान पड़ता है। उसमें आध्यात्मिकता की स्थापना हो जाती है या होने की पूर्ण संभावना है किन्तु द्वितीय कोटि के प्रेम में उतनी उच्चता की संभावना नहीं दिखाई

पड़ती। काम-व्याधि अथवा इच्छा अन्य प्राणों का हा हाकार ही अधिक रहता है। हाँ विरहोचित स्निग्धता व पावनता के कारण उसमें भी ईश्वरीयता का हल्का सा आभास अवश्य अनुभूत होता है। 'आँधी' कहानी की ईरानी-नायिका, देवसेना, कार्नेलिया, कल्याणी, चाणक्य, ध्रुवस्वामिनी, स्कन्दगुप्त तथा आकाश-दीप कहानी के नायक-नायिका आदि पात्रों का प्रेम इस कोटि के प्रेम में रखा जा सकता है।

(३) तृतीय कोटि के प्रेम में धर्माचरण में रत व मर्यादा प्रेमी सभी सद्गृहस्थ, वानप्रस्थी, विवेकी, निस्पृही, साधुवृत्ति से आजीविका का अर्जन करने वाले, मदाशयी, सुधीर साध्य समीर सी गति वाले दार्शनिक आदि पात्र रखे जा सकते हैं।

(४) इस कोटि में हम प्रायः उन सभी वीरभोग्या वसुन्धरा के प्रिय वरेण्य व आदर्श नृपतियों तथा वीरों को रख सकते हैं जो "एक कान से तलवारों की और दूसरे से नूपुरों का झनकार सुनते हैं" (स्कन्दगुप्त)। राजसिक अथवा सात्विक विलास मात्र उनके कण्टकाकीर्ण जीवन-पथ पर चलने और विश्व को तामसिक शक्तियों से मुक्त व निरापद रखने का पारिश्रमिक है। चन्द्रगुप्त (ध्रुवस्वामिनी), चन्द्रगुप्त मौर्य व कुमारगुप्त जैसे पात्र इस कोटि में रखे जा सकते हैं।

(५) स्वेच्छाचारी विलासी व नराधम शासकों और अमर्यादित व उच्छृंखल श्रीमन्तों, अनुत्तरदायी युवक-युवतियों, अत्याचारी जमींदारों, परपीड़क आततायियों व सूदखोर महन्तों, प्रमदाओं, विलासिनियों, महत्व-कांक्षिणी प्रणय वंचिताओं, वार-वनिताओं का प्रेम इस कोटि में रखा जा सकता है।

ध्यान देने पर इस प्रकार के प्रेम के निरूपण की एक विशेष सार्थकता भी दिखाई पड़ती है और वह यह कि इस तमस् की पृष्ठभूमि में पावन प्रेम की आभा अन्त में बड़ी दीप्ति व कान्ति के साथ फूटती दिखाई पड़ती है। 'प्रसाद' साहित्य में सर्वत्र अनर्गल व उच्छृंखल विलास का भयकर या शोचनीय परिणाम दिखाया गया है। रामगुप्त, नन्द तथा अन्य विलासी शासक नष्ट हो जाते हैं। देवनिरंजन पथ भ्रष्ट होकर, निष्प्रभ होकर मारा मारा फिरता है। मुलदेव चौबे, अनवरी, श्यामलाल, महन्त (तितली), फिलिप्स (चन्द्रगुप्त); श्रीचन्द्र, बॉथम (कंकाल), विलास, लालसा, कामना, महत्वाकांक्षा (कामना), सब भयंकर परिणाम भोगते हैं। देवनिरंजन का किशोरी के प्रति और मंगल का तारा के

प्रति ऐसा ही प्रेम है। पर्वतेश्वर कल्याणी के हाथों धमघात लगता है। रूप-गर्विता विलास प्रेमिनी कमला (लहर) तुच्छ रूप की ज्वाला में जल मरती है। विजया आत्मग्लानि आत्म-हत्या करती है। दामिनी (जनमेजय का नाग-यज्ञ) भी भाग्य के फल भोगती है किन्तु अन्त में आत्म-संशोधन करके शान्ति पाती है।

इस प्रकार इस विलास सृष्टिका अपना निजी महत्व है। इसी की पृष्ठ-भूमि में प्रसाद ने उज्ज्वल, महान् व आदर्शवादी प्रेम की कनकाभा दिखाकर माननीय प्रेम को महिमावान बना दिया है। प्रेम को यह शुभ्रता व औज्वल्य देने के प्रयत्न में 'प्रसाद' कालिदास के समकक्ष दिखाई पड़ते हैं। कालिदास ने मेघदूत में कर्त्तव्य विमुख यक्ष को दण्डित व 'कुमार संभव' में काम को भस्मीभूत दिखाकर प्रेम की इसी दिव्यता की प्रतिष्ठा की है। वस्तुतः विलास के इस दुष्परिणाम में ही 'प्रसाद' की उच्च प्रेम सम्बन्धी धारणा स्पष्ट हो जाती है। एक घूँट व 'कामना' में प्रसाद ने क्रमशः मर्यादित प्रेम व सद्विवेक की नितान्त आवश्यकता बताकर प्रेम को दृढ़ता, सुशीलता, व निष्कलुषता प्रदान की है।

सौन्दर्य का स्वरूप विवेचन

प्रेम का सौन्दर्य से घनिष्टतम सम्बन्ध है। प्रेममयी आँखें सर्वत्र सौन्दर्य का प्रसार देखने लगती हैं। जिस 'आलम्बन' के आधार पर प्रेम स्फुटित, विकसित तथा परिपुष्ट होता है, वह अभिनव सौन्दर्य-सुषमा से जगर-मगर हो उठता है। सौन्दर्य का मुख्य गुण है—आकर्षण। यह आकर्षण शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार का होता है। प्रेम जीवन की पूर्णता की अनुभूति है अत: वह अपने पात्र में सर्वांगपूर्णता की प्रतिष्ठा करना चाहता है। प्रेमियों का अनुभव है कि परिपक्व, सुस्वादु रस-पेशल और स्निग्ध-सुदृढ़ प्रेम-सम्बन्ध का मूलाधार तभी स्थापित होता है जब बाह्यावरण को भेद कर हृदय हृदय को देखने लग जावे। जहाँ गम्भीर प्रेम स्थापित हो जाता है वहाँ बाह्य सौन्दर्य नगण्य ही रह जाता है।

सामान्यत: यही समझा जाता है कि सौन्दर्य से प्रेम उत्पन्न होता है। प्रारम्भिक अवस्थाओं में यह बात सत्य भासित हो किन्तु कभी-कभी क्रम उलट-पुलट भी जाया करता है। संसर्ग या साहचर्यजन्य प्रेम और भी गहरा और टिकाऊ होता है जो कोयले में सोना उपजा लेता है या मेंढकी को पद्मिनी बना

देता है। अतः रूपाकर्षण-जन्य प्रेम को ही प्रेम मानने में सहृदय झिझके बिना न रहेंगे। जो हो, प्रेम-सौन्दर्य की इस अन्तर्मीमांसा में न पड़ कर 'प्रसाद' के सौन्दर्य पर ही विचार किया जाय।

सौन्दर्य चार प्रकार का होता है—(१) शारीरिक सौन्दर्य (२) मानसिक-आत्मिक सौन्दर्य अथवा शील, (३) प्राकृति सौन्दर्य, और (४) शैलीगत सौन्दर्य या कलात्मक सौन्दर्य। 'प्रसाद' साहित्य में चारों प्रकार के सौन्दर्य का रंगोत्सव हो गया है। स्थूल आधार शारीरिक सौन्दर्य ही है। उसी के सहारे मानसिक सौंदर्य का कुसुम-वैभव फूट पड़ा है। प्रणयानुभूति के बीच प्रणयी प्रायः अनेक सहगामिनी लघु लघु भाव तरंगों का अनुभव करते रहते हैं। साहित्य शास्त्र में ३३ संचारी भाव प्रसिद्ध ही हैं। 'प्रसाद' ने कई रंगों को घोल कर उन्हें हल्का-गाढ़ा कर के जो अनेक गाढ़-तरल, सूक्ष्म पुष्ट, कोमल-कठोर भाव रंगों की सृष्टि की है वह मनोमोहिनी है। प्रकृति का सारा सौन्दर्य इस मेले में दल-बल सहित आ गया है। और फिर इस समस्त सौन्दर्य की जो कलात्मक—अभिव्यक्ति (अभिव्यक्ति सौन्दर्य) हुई है वह तो 'प्रसाद' की अपनी खेती है, जिसकी हरियाली व तरावट का क्या कहना!

'प्रसाद' की सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणा बहुत ही उच्च है। वस्तुतः उनका आदर्श सौन्दर्य स्थूल वस्तु न रह कर सूक्ष्म भावना ही हो गया है। सौन्दर्य तो जीवन सत्व है, सुधा है जो प्राणों को जीवन दान करता है—'सौन्दर्य-सुधा बलिहारी, चुगता चकोर अंगारे।' (आँसू) यह सौन्दर्य अपनी चरम सीमा व परिणति में परम रहस्यपूर्ण है। सौंदर्य ही उस ईश्वर या परम प्रियतम का जरीदार आवरण या परदा है जो रहस्यमय से सवधित होने के कारण स्वयं ही रहस्यपूर्ण होगया है। जितना भी सौन्दर्य दिखलाई पड़ रहा है वह सब उस परम प्रियतम को रहस्यमय बना कर हमारी जिज्ञासा, लालसा, उत्कण्ठा व कौतूहल पर सान चढ़ा रहा है। अतः यह सौंदर्य सत्ता परम रमणीय व रहस्यमयी है।

> हे अनन्त रमणीय! कौन तुम? यह मैं कैसे कह सकता!
> कैसे हो? क्या हो? इसका तो भार विचार न सह सकता।
>
> (कामायनी : आशा सर्ग)

× × × ×

सौन्दर्यमयी चंचल कृतियाँ बन कर रहस्य हैं नाच रहीं;
मेरी आँखों को रोक वहीं आगे बढ़ने में जाँच रहीं।
मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी, वह सबका छाया उपक्रम है ?
सुन्दरता के इस परदे में क्या अन्य धरा कोई धन है ?
सब कहते हैं 'खोलो खोलो छवि देखूँगा जीवन धन की,
आवरण स्वयं बनते जाते हैं भीड़ लग रही दर्शन की।
चाँदनी सदृश खुल जाय कहीं अवगुंठन आज सँवरता सा;
जिसमें अनन्त कल्लोल भरा लहरों में मस्त विचरता सा—
अपना फेनिल फन पटक रहा मणियों का जाल लुटाता सा,
उन्निद्र दिखाई देता हो उन्मत्त हुआ कुछ गाता सा।

(कामायनी : काम सर्ग)

सुन्दरता की यह उदात्त अनुभूति कदाचित् सर्वसुलभ नहीं। 'उस दिन तो हम जान सके थे सुन्दर किसको हैं कहते तब यह पहचान सके किसके हित प्राणी यह सुख दुख सहते' (कामायनी : निर्वेद सर्ग) से प्रकट है कि 'प्रसाद' की दृष्टि में सुन्दरता की वास्तविक अनुभूति तो जीवन की किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों, अनुभूतियों तथा वातावरणों के एक विशिष्ट संयोग में अनायास तथा अकस्मात् ही किसी क्षण में हो जाया करती है। 'उज्ज्वल वरदान चेतना का—सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं' (कामायनी : लज्जा सर्ग) के द्वारा वास्तविक सौन्दर्य का पावित्र्य व अलौकिकता (जैसी कि कालिदास के शाकुन्तल व कुमारसंभव में सुलभ है।) और भी स्पष्ट है। वस्तुतः प्रेम की पावनता, प्रगाढ़ता व व्यापकता के अनुमान में ही सौन्दर्य की अनुभूति उच्च व गंभीर होती है। 'प्रसाद' हमें क्षणभंगुर सौन्दर्य की नहीं किन्तु शाश्वत सौन्दर्य के दर्शन की ही प्रेरणा करते हैं—

क्षण भंगुर सौन्दर्य देख कर रीझो मत, देखो ! देखो !!
उस सुन्दरतम की सुन्दरता विश्वमात्र में छाई है—
छोटे छोटे कुसुम श्यामला धरणी में किस का सौन्दर्य
इतना लेकर खिलते हैं, जिन पर सुन्दरता का गर्वी—
मानव भी मधु लुब्ध मधुप सा सुख अनुभव करता फिरता।

(प्रेम पथिक)

कवि इस महान् व आदर्श सौन्दर्य की परिभाषा मात्र देकर व उसका

स्वरूप निर्धारित करके ही अपने कर्त्तव्य की इति श्री नहीं कर देता, वरन् सौन्दर्य की इस उच्च भावना को हृदयंगम कराने के लिए वह मानव जीवन के बीच बड़ी गम्भीर, चमत्कारपूर्ण व रोमांचकारिणी–दृश्यावलि भी हमारे सामने प्रस्तुत करके सौंदर्य सम्बन्धी अपनी इस प्रिय धारणा को बड़ी मार्मिकता से उदाहृत व चरितार्थ करता है। रूपगर्विता कमला (लहर : 'प्रलय की छाया,') के स्थूल रूप का अभिमान चटनी की तरह पिस जाता है। इस ऐन्द्रिक रूप के पराभाव की पृष्ठ भूमि में पद्मिनी के महान आत्म त्याग व बलिदान की सुंदरता कैसी गरिमा व स्निग्धता के साथ हमारी आँखों के सामने लाल कर उठती है! उधर, नये ढंग के आभूषण, सुन्दर वसन, भरा हुआ यौवन और पुरुष फँसाने के चटपटे व्यजनों और विलास के उपकरणों से सुसज्जित उज्जयिनी की श्रेष्ठि कन्या विजया (स्कन्दगुप्त) ग्लानि से आत्मा हत्या करके ही सुखानुभव करती है। यहाँ भी नाटककार ने स्थूल सौन्दर्य के दर्प की धज्जियाँ उड़ा दी हैं। और प्रतिशोध मूर्ति, प्रणय वंचिता, दिग्भ्रांत रूपगर्विता, रूप की टोकर वाली सैठानी 'अजातशत्रु' की मागन्धी, जो यह चैलेंज फेंकती है—'दिखला दूँगी कि स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं। सुन्दर स्त्रियाँ भी संसार में कुछ अपना अस्तित्व रखती हैं।" मरुस्थल के जेठ के लू के झोंके की तरह भटक कर जीवन में क्या पाती हैं—केवल ज्वाला, अशांति और असफलता! उसे शान्ति मिलती है। अन्त में केवल आत्मचिंतनपूर्ण पश्चाताप की इस भावना में—"इस बुद्धिमता का क्या ठिकाना है। वास्तविक रूप के परिवर्तन की इच्छा मुझे इतनी विषमता में ले आयी! अपनी परिस्थिति को संयत न रख कर व्यर्थ महत्त्व का ढोंग मेरे हृदय ने किया, काल्पनिक सुख लिप्सा ही में पड़ी—उसी का यह परिणाम है। स्त्री-सुलभ एक स्निग्धता, सरलता की मात्रा कम हो जाने से जीवन में कैसे बनावटी भाव आ गये।" और वह इडा! जिसके वक्ष स्थल पर संसृति के सब ज्ञान-विज्ञान एकत्र धरे थे—ऐसा रूपयौवन व ऐश्वर्य की साकार प्रतिमा! जिसने हृदय नहीं पाया और सदा सिर चढ़ी रही!—उसकी भी क्या स्थिति रही—

हाँ इडा आज भूली थी, पर क्षमा न चाह रही थी,

× × × ×

भगवति! समझी मैं सचमुच कुछ भी न समझ थी मुझको,
सब को ही भुला रही थी अभ्यास यही था मुझको!

(कामायनी : आनन्द सर्ग)

इस प्रकार स्थूल रूप की निःस्सारता लेखक ने हमारे हृदय पर, मुहर पर मुट्ठी का ठप्पा देकर, बड़ी गहराई से अंकित की है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सौन्दर्य की यह उच्च प्रतिष्ठा, जिसमें प्रेम की समानान्तर उच्चता निहित है, 'प्रसाद'—साहित्य के गौरव का मेरू दड है।

यद्यपि 'प्रसाद' आत्मिक सौन्दर्य अथवा शील सौन्दर्य को ही सौन्दर्य का मूल मानते हैं किन्तु वे आत्मा के सरक्षण अथवा अध्यक्षता में परिवर्द्धमान रूप सौन्दर्य के प्रति भी अभिनन्दन-तुर एव अभिवादनशील हैं। ('श्रद्धा' का सौन्दर्य वर्णन इस प्रसग में द्रष्टव्य है।) ऐसा बाह्य सौन्दर्य भी 'प्रसाद' की दृष्टि में हृदय की ही अनुकृति है—'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार, एक लम्बी काया उन्मुक्त' (कामायनी श्रद्धा सर्ग)। उन्होंने आत्मा से सपृक्त और संसिक्त, प्रकृति के वरदान, नेत्रों के कल्याण, मानव के शारीरिक सौन्दर्य का बड़े उत्साह, आयोजन व मनोयोग के साथ चित्रण किया है—शिरीष सुमन के तन्तुओं सी स्निग्ध-महीन तूलिका से। ('पंत' की 'मानव' शीर्षकिनी कविता भी इस क्षण अनायास ही ध्यान में आ रही है)। मानो यह विभूति किसी को अनायास पथ चलते ही नहीं मिल गई है। *इस निधि का अर्जन भी सौन्दर्यशाली ने अपने* पुरुषार्थ से पूर्व जन्म में (कालिदास के 'शाकुन्तल' म यह भावना वर्तमान है) तप करके किया है। अत इसका उचित श्रेय उसे मिलना ही चाहिए। 'प्रसाद' की 'सालवती' तथा 'कला' नामक कहानियों म यह प्राचीन यूनानियों की सी सौन्दर्य भावना प्रकट हुई है। जहाँ शारीरिक सौन्दर्य व आत्मिक सौन्दर्य का सुमधुर सामजस्य हो गया है वहाँ सोने म सुगन्ध आ गई है। किन्तु जहाँ सौंदर्य 'पुण्य ज्योतिहीन कलुषित सौंदर्य' अथवा 'एक सौंदर्यमयी वासना की आँधी' सा है जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नहीं वहाँ वह केवल स्थूल मासाचार की लीलास्थली है अत नितान्त हेय व घृणास्पद है। "नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है।" (प्रलय की छाया)—ऐसा कह कर 'प्रसाद' ने शील सौंदर्य की चिकनाई से रहित सौंदर्य की विडम्बना का सकेत करके तत्सम्बन्धी समस्त शकाओं को धराशायी कर दिया है। कमला का रूप सौंदर्य अद्वितीय है—'मेरे उस यौवन के मालती मुकुल म' से ले कर जीवन सुरा की वह पहली ही प्याली थी।' तक की पंक्तियों में सौंदर्य चित्रण की पराकाष्ठा है किन्तु कमला म मोती की आभा न होने से वह सौंदर्य कङ्कालमात्र दिखाई गई है।

आत्मा के आलोक में प्रफुल्लित इन्द्रियों के रस-व्यापार 'प्रसाद' ने एक सच्चे जीवनवादी, रसवादी, व यथार्थवादी साहित्य-स्रष्टा की तरह दिखाये हैं—और खूब खुल कर, हाँ पूर्ण साहित्यिक शालीनता व मर्यादाओं के साथ। डील-डौल, गठन, रूप, वर्ण, तेज-कांति, स्वास्थ्य-सौकुमार्य, वस्त्राभूषण, पुष्पहार, मणि-मुक्ता, अनुलेपन-अलक्तक, गंध द्रव्य, ताम्बूल-सुरा, अंजन अंगराग, विभ्रम मुद्रा, हास-अश्रु—सभी कुछ तो हैं। सारी सौंदर्य सृष्टि कितनी जीवित, भरी-पूरी, चहकती-महकती, मांसल, रंगीन और पॉजिटिव। ग्रामीण और नागरिक, शारीरिक मानसिक, कोमल-कठोर—सभी प्रकार का सौंदर्य न्यूनाधिक रूप से सर्वत्र उपलब्ध है। कलामय रूप चित्रण व सौंदर्य के व्यापक प्रभाव की दृष्टि से मनु, श्रद्धा, इरावती, रोहिणी ('ग्राम गीत' कहानी), गुंडा, ईरानी युवती ('आँधी' नामक कहानी), देवदासी (आकाशदीप), बेला ('इन्द्रजाल' नामक कहानी), आँसू की नायिका, मातृगुप्त की प्रणयिनी (स्कन्दगुप्त) मल्लिका, (अजातशत्रु), पद्मावती (अजातशत्रु), 'अमिट स्मृति' कहानी की नायिका, 'समुद्र सन्तरण' कहानी की नायिका, गाला (कंकाल) 'तितली, देवसेना, मालविका, अलका, ध्रुवस्वामिनी, कोमा, मणिमाला (जनमेजय का नागयज्ञ), किशोर (प्रेम पथिक), मधुवन—तितली, रामजस मलिया (तितली) आदि पात्र 'प्रसाद' की भव्यतम सौंदर्य सृष्टियाँ हैं, और कोमल सौंदर्य के महीन चित्रण का तो क्या बखान किया जाय! प्रभातकालीन दूब पर दमकते शुभ्र हिम कण से कौंधती सतरंगी कान्ति किरण की स्निग्ध लेखनी से लिखी गई ये पंक्तियाँ नये सिरे से जीने की प्रेरणा करती हैं—

> प्रणय-धूप की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से,
> व्याकुलता लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से।
>
> × × × ×
>
> माधव सुमनों में गूँथ रहा तारों की किरण अनी।...
> हँसती सी सुरभि सुधार रही, अलकों की मृदुल अनी।
> सजे, यह प्रेममयी रजनी!
>
> (चन्द्रगुप्त)

× × × ×

उन नृत्य-शिथिल निश्वासों की कितनी है मोहमयी माया,
जिनसे समीर छनता छनता बनता है प्राणों की छाया।

× × × ×

किस इन्द्रजाल के फूलों से लेकर सुहाग कण राग भरे;
सिर नीचा कर हो गूँथ रही माला जिससे मधु धार ढरे ?

(कामायनी)

जहाँ सौंदर्य स्थूल से सूक्ष्म सूक्ष्मतर होता गया है वहाँ रहस्य व अध्यात्म भी आ घुले हैं। सूफियों के मसाले—जलन, छाले, मधु, मधुशाला, मधुबाला, परदा आदि—भी छिड़क दिये गये हैं। ऐसे स्थलों पर प्रतीकों—लहर, रजनी, वसंत, चन्द्र, दीपक, किरण, इन्द्रधनुष, पिक, मधुप, ऊषा आदि—के बिना कैसे काम चलता। अलंकार-विधान के लिए प्रकृति के सामान्य व परम्परागत सभी पदार्थों, दृश्यों व व्यापारों का उपमान रूप में स्मरण किया गया है। इस प्रकार प्रकृति के द्वारा उद्दीपन की भी भरपूर व्यवस्था की गई है।

शैली—

प्रेम सौन्दर्य के विषय का शैली से भी घनिष्ठतम सम्बन्ध होता है। प्रेम का विषय मानव के अस्तित्व के मूल का विषय है। प्रेम भावना की तीव्रता व गंभीरता प्रेमानुभवी की वाणी में सहज ही वैदग्ध्य, लावण्य व वक्रता ला देती है। ताप-तरल प्राणों की चाशनी सहस्रधारा की तरह फूट फैल कर, विविध वक्र व्यञ्जनाओं, गीतों व छंदों के साँचों में ढल जाने को तड़प उठती है। अनुप्रासादि की नूपुर-क्वणनी धारण करने, लक्षण व्यञ्जना की सौ सौ भंगिमाओं में वह थिरक उठती है। भावनाएँ अर्थालंकारों के घूँघट में से मर्म मधुर संकेत करती हैं। मानवीकरण, प्रतीक, विरोधाभास, विपरीत लक्षण, पुनरावृत्तियाँ भावोद्वेल सूचक पुनरावृत्तियाँ, विरामादि चिह्नों के भावोत्कर्ष सूचक प्रयोग, लय, छंद-विधान, विशेषण विपर्यय, सर्वनामों के विशिष्ट प्रयोग आदि उपकरण प्रेम-सौन्दर्य की महाप्राण अभिव्यक्ति में बांकपन ला ही देते हैं। 'प्रसाद' साहित्य में ये शैली सम्बन्धी गुण इतनी प्रभूत मात्रा में विद्यमान हैं कि यहाँ उनकी विस्तृत विवेचना की आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

प्रेम : व्यक्ति और समाज के संदर्भ में—

स्वस्थ व नित-नूतन प्रेम के लिए आत्मा की मुक्ति व स्वतन्त्रता प्रथम आवश्यकता है। 'प्रसाद' ने अपने समस्त प्रेम साहित्य में यह विवेचित व ध्वनित किया है। वह प्रेम जो सुख-दुख की भावमयी तरंग उपजाये बिना स्निग्ध-समतल गति से ही चलता रहे उससे जीवन में पूरा-पूरा लोच, ताज़गी व प्रफुल्लता नहीं रहती। 'प्रसाद' का प्रेम अपने मूल रूप में स्वछन्द प्रेम (Romantic Love) है जिसके लक्षण हैं—हृदयों का स्वस्थ व निश्छद्म आदान प्रदान, स्वास्थ्य मन की दीप्ति, सौंदर्य के प्रति भावुकतापूर्ण आकर्षण व सजग कुतूहल, स्वछन्द जीवन-कल्पना, प्रकृति का सामीप्य—साहचर्य, सामाजिक रूढ़ियों व अन्ध विश्वासों परम्पराओं से मुक्ति, जीवनोचित स्वप्न-आशा, भावुकता सरसता, सजल सुधियाँ, रंगीन थिरक, मदिर चितवन आदि। उदार नैतिकता या सहज शील मर्यादा के हरे कूलों में लहराते हुए ही इस प्रेम का रसास्वादन हो सकता है। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से 'प्रसाद' का प्रेम तीन प्रकार का है—(१) विवाहित प्रेम, (२) अविवाहित प्रेम, और (३) विधुर प्रेम। तीनों प्रकार के प्रेम विकृति और औदात्य के बीच विकास-ह्रास के क्रम से चढ़ते-उतरते दिखाई पड़ते हैं। इन तीनों प्रकार के प्रेम को, प्रेम के उत्कृष्टतम स्वरूप तक पहुंचने में जितनी भी रंगतों की व्यक्तिगत व सामाजिक समस्याएँ उठ सकना सम्भावित है, उन सबको 'प्रसाद' ने प्रसंगवशात् उठाया है और उनका निदान-विश्लेषण करके यथाशक्ति उनका प्रचार भी दिया है।

सामाजिक स्वास्थ्य व स्वच्छता (कंकाल में!) की दृष्टि से विवाह-संस्था 'प्रसाद' को प्रिय व इष्ट है। अनियन्त्रित व उच्छृंखल प्रेम पर उन्होंने बाँध बाँधा है: 'एक घूँट' में आनन्द, जो स्वच्छन्द प्रेम की आड़ में वासना के कीटाणु फैलाता फिरता है, प्रेमलता के साथ विवाह बंधन में बाँध दिया जाता है। मधुबन-तितली, अलका सिंहरण तथा ऐसे ही अन्य युग्म मर्यादापूर्ण दम्पती हैं। 'कानन कुसुम' में कवि ने पूरे विश्व-रहस्य को नमस्कार किया है तथा अनेक स्थलों पर (जैसे 'आँधी' नामक कहानी में) गृहस्थी के सरस सात्विक चित्र अङ्कित करके गृहस्थ का सौंदर्य सौरभ प्रकट किया है। विवाह तो दो आत्माओं का मेल है। जहाँ विवाह सफल नहीं हुए हैं वहाँ कारणों का विश्लेषण करके समाज तथा

व्यक्ति दोनों में मेल कराने का प्रयास किया गया है। कहीं-कहीं 'प्रसाद' ने वेद मंत्रों के साथ सम्पन्न विवाह की निस्सारता जताते हुए स्मृतियों की व्यवस्था में भी आमूलचूल क्रांतिकारी परिवर्तन करके हिन्दू-न्याय की लाठी पकड़ कर उसे रास्ता दिखाया है—ध्रुवस्वामिनी को रामगुप्त से मुक्ति कराकर उससे चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) का वामाङ्ग भराना इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। मंगल तारा (कंकाल) के विवाह के प्रसंग में मंत्रों के खोखलेपन पर अच्छा व्यंग किया गया है। अस्तु, सब मिला कर देखने पर 'प्रसाद' मर्यादापूर्ण गृहस्थ जीवन के ही पूर्ण समर्थक दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने कहीं भी अनैतिक उच्छृंखलता व अधोमुखी विलास को स्वतन्त्रता देते हुए उनको प्रश्रय नहीं दिया है। जहां व्यक्ति की आत्मा ने अपने एकांत निजी कारणों से अविवाहित रह कर ही काल-यापन करने का निर्णय किया है वहाँ उन्हें पूरी स्वतन्त्रता दे दी गई है। लेखक मानो व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा में समाज व न्याय का कोई हस्तक्षेप नहीं चाहता। विवाहित प्रेम का फल प्रायः वृद्धावस्था में ही पकता हुआ और स्वाद्र होता हुआ दिखाया गया है—यथा, वासवी—बिम्बसार आदि के जीवन में। युवावस्था में गर्मी है, अधड़ है, गर्जन तर्जन है।

अविवाहित पात्रों का प्रेम उत्कृष्ट व निकृष्ट दोनों ही स्तरों का दिखाई पड़ता है। कई दार्शनिक अथवा अत्यधिक भावुक मनोवृत्ति के पात्र आजीवन कौमार व्रत का पालन करते हुए दिखाये गये हैं—विवशतापूर्वक भाग्य न अभिशाप से, प्रेम की चौसर में हार कर—घायल होकर, अथवा किसी आदर्श, विश्वास, या अन्य शुद्ध व्यक्तिगत कारण से। जो हो, ऐसे पात्रों से समाज विकृत होता हुआ नहीं दिखाई पड़ता। प्रत्युत ये पात्र प्रेम महाकाश के उज्ज्वलतम नक्षत्र के रूप में ही दिखाई पड़ते हैं। 'पुरस्कार' व 'आकाशदीप' नामक कहानियों के प्रमुख पात्र, स्कन्द, देवसेना, चाणक्य (कपोल से झरती आँसू की बूँदों अथवा व्योम से झरती दो उज्ज्वलतम तारिकाओं कल्याणी व मालविका को कैसे भूले!) आदि का नाम इस प्रसंग में पर्याप्त होगा। कुछ अविवाहित पात्र प्रेम की बड़ी खोले नीड़ वाली लगाते ही रह जाते हैं, जैसे आँधी कहानी का सिंहली बौद्ध भिक्षु प्रज्ञासारथि। 'कंकाल' का अविवाहित देवनिरंजन (ब्रह्मचारी!) का प्रेम अविवाहित प्रेम की निकृष्ट श्रेणी में ही माना जायगा।

विधुर जीवन व्यतीत करने वाले पात्रों में कई तो सात्विक शुभ्रता व ओज

से मण्डित हैं—जैसे, बाबा रामनाथ व इन्द्रदेव की मां (तितली)। कुछ बड़े नगरों तथा हरिद्वार, काशी, मथुरा आदि तीर्थों के मठ-मंदिरों-अखाड़ों में गधामस्ती से करते दिखाई दे रहे हैं। सरला (मंगल की मां) इस वर्ग में एक सुन्दर अपवाद है। चाँदी की लुटिया में बजती मणियों की ध्वनि-सी मीठी चुलबुली व रसीली बाल-विधवा 'घंटी' की उसकी तरुणाई पर गौर करते हुए कुछ न कहा जाय।

संक्षेप में, 'प्रसाद' की प्रेम-दृष्टि निश्चय ही मौलिक, प्राणवान् व संगीतमयी है जिस पर जीवन के सातों रंगों की गुलालें उड़ती हुई सी दिखाई दे रही है।

भारतीय इतिहास के मर्मान्वेषी—प्रसाद

—प्रो० राम प्रकाश अग्रवाल

हिन्दी साहित्य में प्रसाद और उनके साहित्य का इस दृष्टि से एक अपूर्व स्थान है कि ऐसी इतिहासनिष्ठा और साहित्य के स्तर पर इतिहास की ऐसी रसात्मक अवतारणा अभी दूसरे साहित्यकार में नहीं दिखलाई पड़ती। गुजराती में मुंशीसाहित्य इस दृष्टि से विशेष संपन्न और समृद्ध है, मराठी और बंगला में भी इतिहास की भूमि पर निर्मित रसात्मक ललित साहित्य उच्चकोटि का और पर्याप्त परिमाण में है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी इस प्रवृत्ति और परम्परा का विशेष विकास हुआ है जिसमें प्रसाद के अतिरिक्त, प्रेमी, राहुल, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावन लाल वर्मा, रामकुमार वर्मा, लक्ष्मी नारायण मिश्र, गोविन्द-वल्लभ पन्त, मैथलीशरण गुप्त, दिनकर, श्याम नारायण पांडे, अनूप शर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। परन्तु ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर साहित्यसृजन करने वाले हिन्दी लेखकों में सब से पहले और सब से अधिक ध्यान प्रसाद की ओर ही आकर्षित होता है। कल्पना और घटना का निपुणता पूर्वक ऐसा सामंजस्य अन्यत्र नहीं मिलता।

प्रसाद ने भारतीय इतिहास का सोद्देश्य और साधनापूर्वक अनुशीलन किया था। उन्होंने पुरातन भारतीय वाङ्मय और अर्वाचीन इतिहास-ग्रंथों से स्वदेशीय संस्कृति के मूल तत्व संग्रहीत करने का प्रयत्न किया और इतिहास तथा साहित्य का अधिक से अधिक सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की। एक विशिष्ट योजना बना कर उन्होंने इतिहास का अध्ययन और आलकन किया तथा साहित्य में उसके विविध प्रयोग किये। वे साहित्कार ही नहीं इतिहासकार भी थे। इतिहास जगत में भी उनकी शोधों और मान्यताओं का मान है। उनके पास इतिहास दृष्टि थी और उसके उपयुक्त शैली भी। इसीलिये उनके निबन्धों का गद्य नाटकों के गद्य से भिन्न है।

प्रसाद की दृष्टि में इतिहास—

प्रसाद ने इतिहास के सम्बन्ध में अपने विचार अनेक स्थलों पर प्रकट किये हैं,

विशेष कर कुछ निबन्धों और नाटकों की प्रस्तावनाओं में और कामायनी के आमुख में। उनमें से कुछ विचारसूत्र निम्नलिखित हैं:—

१. इतिहास में घटनाओं की पुनरावृत्ति होती है और उन के मूल में कुछ निश्चित प्राकृतिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक नियम कार्य करते हुए दिखलाई पड़ते हैं ("अजातशत्रु" का "कथा प्रसंग")।

इन नियमों का अनुशीलन एवं व्याख्या ही इतिहासकार का उद्देश्य होता है।

२. हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने में पूर्व घटनाओं का बड़ा हाथ रहता है, अतः किसी जाति की गिरी हुई दशा को सुधारने के लिये उन घटनाओं का मार्मिक अध्ययन आवश्यक होता है ('विशाख' प्रथम सं० की भूमिका)।

३. इतिहास और पुराण में अधिक अन्तर नहीं होता, पुराण भी वस्तुतः इतिहास ही हैं। उनमें अवश्य कुछ घटनायें अतिरंजित रहती हैं, रूपक का मिश्रण भी हो जाता है, फिर भी उनमें कुछ सत्यांश अवश्य होता है ('कामायनी' का आमुख)।

इस 'सत्यांश' को धैर्य पूर्वक छानना और बीनना इतिहासकार का अपेक्षित श्रम है। इसी आधार पर प्रसाद ने श्रद्धा इड़ा और मनु को ऐतिहासिक व्यक्ति और जलप्लावन की घटना को, जिसने कि "मनु को देवों से विलक्षण मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया", ऐतिहासिक घटना माना है। इतना ही नहीं इन्द्र और वृत्र की घटना को भी वे ऐतिहासिक मानते हैं और इन्द्र को आर्यावर्त का प्रथम सम्राट भी। अपने एक लेख में उन्होंने लिखा है—"यह इन्द्र वृत्र का युद्ध संसार के प्रागैतिहासिक काल का भले ही हो, परन्तु आर्यजाति का इतिहास है। × × × संसार में इन्द्र पहले सम्राट थे। × × × पिछले काल में असुरों ने उन प्राचीन घटनाओं के संस्मरण से अपना पुराण चाहे विकृत रूप में बनाया हो, परन्तु है वह सत्य इतिहास, आर्यों का ही नहीं अपितु मनुष्यता का।" (आर्यावर्त का प्रथम सम्राट)।

प्रसाद का इतिहास सम्बन्धी यह दृष्टिकोण विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय म 'इतिहास' विषय की पृथक सत्ता नहीं थी। महाभारत में पुराण, गाथा, इतिहास और आख्यान का एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है और इस बात की ओर पुरातन भारतीय साहित्य का इतिहास लिखने वाले योरोपीय विद्वानों ने—विन्टरनित्स, मैकडॉनल, कीथ इत्यादि ने—लक्ष्य भी किया है। आज भी इतिहास के अनुशीलन की भारतीय पद्धति कुछ भिन्न है। उसमें गाथाओं, आख्यानों और पुराणों को भी महत्व दिया जाता है।

४. भारतवर्ष का इतिहासिक काल कब से मानना चाहिये इस सम्बन्ध में भी प्रसाद जी ने अजातशत्रु नाटक की भूमिका में अपना मत व्यक्त किया है। उनके विचार से यह 'काल' गौतम बुद्ध के समय से ही मानना चाहिये क्योंकि उस समय से प्रमाणिक सामग्री मिलने लगती है और साथ ही वह समय हमारे इतिहास का अतीत गौरवपूर्ण युग भी है।

५. उस देश के महाप्रलय, कल्प और चतुर्युग वाले पौराणिक काल विभाजन के सिद्धान्त को भी उन्होंने स्वीकार किया है। कलियुग का आरम्भ उन्होंने जनमेजय से माना है और वहीं से अपने ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा आरम्भ की है। दूसरे शब्दों में यहीं से भारतवर्ष के इतिहास का प्रामाणिक क्रम आरम्भ होता है जिसका दिग्दर्शन प्रसाद ने प्रधान रूप से अपने नाटकों में कराया है।

ये इतिहास सम्बन्धी कुछ धारायें प्रसाद जी की हैं। इनके अतिरिक्त भी प्रसाद के साहित्य का सोद्देश्य अध्ययन करने पर इतिहास के सम्बन्ध में उनके निजी, पुष्ट विचार और भी प्राप्त होते हैं। प्रसादजी इतिहास, साहित्य और दर्शन में आन्तिरिक एकता मानते थे, एक ही लक्ष्य की ओर इनका क्रमविकास देखते थे। इतिहास की दृष्टि सभ्यता के विकास की ओर प्रधान रूप में रहती है, साहित्य की दृष्टि संस्कृति की ओर और दर्शन की सूक्ष्मतम संस्कृति अर्थात् मूल जीवन चेतना अथवा आत्मा के विकास की ओर। ये तीनों स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम की ओर बढते हैं। जहाँ इतिहास का कार्य समाप्त होता है साहित्य का आरंभ, और जहाँ साहित्य का कार्य समाप्त होने लगता है वहाँ दर्शन का आरम्भ हो जाता है। इतिहास संस्कृति के अध्ययन के उपकरण मात्र जुटाता है, साहित्य उनकी व्यवस्था कर संस्कृति को एक मूर्तिमान रसात्मक रूप प्रदान करता है, और दर्शन सूक्ष्मतम विकास के चिरन्तन नियमों और इनकी परिभाषा को खोजता है।

साहित्यकार प्रसाद का व्यक्तित्व वस्तुतः त्रिमुखी व्यक्तित्व है जिसके मध्य में साहित्य, एक ओर इतिहास और दूसरी ओर दर्शन है।

ऐतिहासिक अध्ययन के आधार—

प्रसाद जी ने इतिहास का अध्ययन केवल इतिहास-ग्रंथों से नहीं अपितु विशाल भारतीय वाङ्मय, विदेशी यात्रियों के विवरण, शिलालेखों—स्तूपों—ताम्रपत्रों—प्रशस्तियों आदि से भी किया था। उनके इस विस्तृत एवं गम्भीर अध्ययन की तालिका पर दृष्टि डालने से आश्चर्य होता है कि वे इतना अवकाश

और सुविधा प्राप्त कर सके और उनके साहित्य के सम्बन्ध में तुलसी के 'मानस' की "नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्रामायणे निगदितम्" वाली प्रस्तावना स्मरण हो आती है।

भारतीय संस्कृति और साहित्य के मूल तत्व संग्रहीत करने के लिए उन्होंने जिस विशाल वाङ्‌मय का मन्थन किया था उसको चार भागों में विभाजित किया जा सकता है, (१) पुरातन भारतीय वाङ्‌मय, (२) संस्कृति साहित्य—ललित और शास्त्रीय, (३) इतिहास ग्रंथ तथा अन्य सामग्री, (४) अर्वाचीन साहित्य तथा पत्र पत्रिकायें।

पुरातन भारतीय वाङ्‌मय के अंतर्गत प्रसाद जी ने वैदिक साहित्य (संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद और आरण्यक), बौद्ध साहित्य (त्रिपिटक, विशेषतः जातक, और दीपवंश तथा महावंश), तान्त्रिक साहित्य एवं सिद्धों को बानी (कण्हपा, नारोपा सवरपा आदि), शैव साहित्य (शैव पुराण, शांकरी मानसपूजा, सौन्दर्यलहरी, प्रत्यभिज्ञादर्शन एवं उपनिषद), ब्राह्मणों के पुराण, स्मृतियाँ, रामायण-महाभारत, कौटिलीय अर्थशास्त्र, बृहत्कथा सरित्सागर, पाणिनिपातंजलि और कात्यायन आदि का अध्ययन और विवेचन किया था, जिनके संदर्भ और उद्धरण उनकी प्रस्तावनाओं और लेखों में प्राप्त होते हैं।

संस्कृति साहित्य में कालिदास, अश्वघोष, बाण, श्रीहर्ष और कल्हण (राजतरंगिणी) के अतिरिक्त दण्डी, भामह, कुन्तल, वामन, क्षेमेन्द्र, भोज आदि रीतिकारों और आलंकारिकों के साहित्य का भी अध्ययन उन्होंने किया था जिनमें भारतीय साहित्य की परम्पराओं का उद्‌भव उन्होंने खोजा है।

विशुद्ध ऐतिहासिक वाङ्‌मय के अंतर्गत ताम्रपत्र, शिलालेख, स्तूप, प्रशस्तियाँ इत्यादि, मेगस्थनीज़ फाहियान, ह्वएन्तसांग, अलबेरूनी आदि विदेशी यात्रियों के विवरण, भारतवर्ष के विदेशी इतिहास लेखकों में टॉड, स्मिथ, हॉर्नली, एच. एच विल्सन, जस्टिनस, प्लूटार्क, मार्शल, निकोलियस, पार्जीटर, मैक्समूलर, मैकडानल, कनिंघम इत्यादि, एवं भारतीय इतिहास लेखकों तथा पुरातत्वविदों में भाण्डारकर, तिलक, जायसवाल, तैलंग, पराञ्जपे, पटवर्धन, रमेशचन्द्र दत्त, चि० वि० वैद्य आदि के उल्लेख उद्धरण प्रसाद ने अपने लेखों में बराबर दिये हैं।

इनके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य और उसका इतिहास तथा अनेक पत्र पत्रिकाओं की आधुनिकतम सामग्री का भी उपयोग अपने इतिहास सम्बन्धी अध्ययन को पूर्ण बनाने के लिये प्रसाद जी ने किया था उन्होंने भारतीय इतिहास का अनुशीलन केवल साहित्यकार की चलती दृष्टि से नहीं अपितु इतिहासविद् की वैज्ञानिक तत्वा-

न्वेषी दृष्टि से किया था। वह अधिक से अधिक प्रामाणिक सत्य घटनाओं को ही आधार बना कर उनकी पृष्ठभूमि पर सरस साहित्य का निर्माण करना चाहते थे। इस विषय में वह इतने अध्यवसायी तथा गंभीर थे कि "यशोधर्म देव" नाटक लिख कर भी उसकी पृष्ठभूमि की प्रामाणिकता में संदेह उत्पन्न हो जाने पर उसे नष्ट कर दिया था। आलोचकों का तो यहाँ तक कहना है कि यदि आज प्रसाद जी जीवित होते तो नई खोजों के प्रकाश में 'स्कन्दगुप्त" नाटक को भी या तो नष्ट कर देते या कोई-नया रूप देते। ['प्रसाद के नाटक'—परमेश्वरी लाल गुप्त]

इतिहास के प्रति किसी साहित्यकार का यह दृष्टिकोण और ऐसी निष्ठा विरल ही मिलेगी और फिर छायावाद तथा रहस्यवाद के युगनिर्माता कवि में तो यह और भी आश्चर्य की बात है।

योजना और उद्देश्य—

प्रसाद ने इतिहास का यह अध्ययन एक सुनिश्चित योजना और उद्देश्य बना कर किया था, यह प्रारंभ में कहा जा चुका है। यह रूपरेखा उन्होंने प्रारंभ में ही नहीं बना ली होगी परन्तु ज्यों ज्यों उनका अध्ययन और साहित्यिक रचनाक्रम आगे बढ़ता गया होगा यह रूपरेखा भी बनती चली होगी। उनके समग्र साहित्य पर दृष्टि डालने से ऐसा विदित होता भी है। इस सम्बन्ध में प्रसाद की योजना और उद्देश्य क्या था यह उनके लेखों और रचनाओं के आधार पर इस प्रकार समझा जा सकता —

१ वह भारतीय इतिहास के प्रकाशित अंश को नहीं अप्रकाशित अंश को ही विशेष रूप से प्रकाश में लाने के इच्छुक थे (विशाख', प्र० सं० की भूमिका)। इसका आशय यह कि वे लुप्त इतिहास के पुनर्निर्माण का राष्ट्रीय महासंकल्प पूर्ण करना चाहते थे, इसी दिशा म अग्रसर हो कर अन्य सहयोगियों को पुकारना चाहते थे।

२ मुख्य रूप से उन 'प्रकांड घटनाओं" का ही "दिग्दर्शन" वह कराना चाहते थे "जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।" (सदर्भ वही)

इससे स्पष्ट है कि 'गड़े मुर्दे उखाड़ने" के कौतूहल, नवीन मतस्थापना की श्रेयलालसा या विद्वत्ता के लिये वे इतिहास का अध्ययन नहीं कर रहे थे। उनका उद्देश्य राष्ट्रीय था। वह अपने साहित्य में लोकहित के ठोस तत्व ऐतिहासिक घटनाओं से लेकर भरना चाहते थे। उसी विशाख नाटक की भूमिका

में उन्होंने लिखा है—"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संघटित करने के लिये अत्यन्त लाभदायक होता है × × × क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिये हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी सभ्यता है उससे बढ़ कर और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण-सन्देह।" इस प्रकार राष्ट्रीय उत्थान के उद्देश्य से अपने साहित्य की सामग्री प्रसाद जी ने इतिहास से ग्रहण की है। यह अतीत का अध्ययन वर्तमान के लिये ही किया गया है।

३. प्रागैतिहासिक काल की घटनाओं की भी इतिहासपरक व्याख्या वह करना चाहते थे और उनके आधार पर उस देश का ही नहीं आगे चल कर मानवता का इतिहास भी साहित्य के धरातल पर प्रस्तुत करना चाहते थे। "कामना" नाटक की प्रतीक शैली, "कामायनी" में ऐतिहासिक और सांकेतिक अर्थों का समन्वय और "आर्यावर्त का प्रथम सम्राट" लेख में प्रकट किये गये विचारों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। "कामायनी" में "युगों की चट्टानों पर सृष्टि, डाल पदचिन्ह चली गंभीर" पंक्ति से भी यही ध्वनित होता है। वस्तुतः वह इतिहास का सेतु बनाना चाहते थे, पहले एक देश का फिर संपूर्ण मानवता का। यह महत्वाकांक्षा एक जीवन के लिये कितनी विराट् और कितनी असंभव थी!

४. इतिहास और प्राक्इतिहास की विभिन्न घटनाओं को, उनमें सन्निहित सन्देश की महत्ता के अनुसार, वे विभिन्न साहित्यरूपों में प्रकट करना चाहते थे—नाटक, कविता, कहानी, उपन्यास और निबन्ध, सभी में। किस शैली में कौन से प्रसंग और पात्र उपयुक्त बैठेंगे इसका विवेचन भी उन्होंने किया होगा। शुङ्गवंशीय इतिहास के प्रसंग पर उन्होंने उपन्यास "इरावती" और नाटक "अग्निमित्र" दोनों ही लिखने के प्रयत्न किये और दोनों ही अपूर्ण रहे। हो सकता है कि वह कुछ घटनाओं पर नाटक, काव्य और उपन्यास तीनों ही एक साथ लिखने का प्रयत्न करते।

यद्यपि ऐतिहासिकता का सम्बन्ध मुख्य रूप से अनेक नाटकों के साथ ही जोड़ा जाता है पर वास्तव में इतिहास अनेक समस्त साहित्य में अनुस्यूत है।

प्रसाद की नारी-भावना

सुश्री शीला तनेजा एम० ए०, सा० रत्न०

जयशंकर प्रसाद आधुनिक हिन्दी साहित्य के अग्रगण्य कलाकार हैं। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का उन्मेष कविता, नाटक कहानी, उपन्यास निबंध आलोचनादि सभी साहित्यिक रूपों में हुआ है और उससे हमारे साहित्य की चेतना अधिक सप्राण एवं सबल हो उठी है। वस्तुतः उनके द्वारा विरचित ग्रंथ-रत्न हमारे साहित्य के लिये चिर-तन गौरव के प्रतीक हैं।

प्रसाद जी के सम्पूर्ण साहित्य का सर्वाङ्गीण अनुशीलन करने से स्पष्ट होता है कि यद्यपि इतिहास, पुरातत्व दर्शन एवं मनोविज्ञान उसके अध्ययन के प्रिय विषय रहे हैं तथापि उनका भावुक कवि-हृदय प्राय नारी, प्रेम, और सौंदर्य जैसे सरस एवं मोहक विषयों में अधिक रमा है। वस्तुतः उनके काव्य की मूल चेतना सौन्दर्य और प्रेम ही है। इस सौन्दर्य और प्रेम की सृष्टि करने वाले अनेक प्रेमी युग्म हैं जो इस भाव की सात्विकता को अपने उदात्त आचरण द्वारा रस कोटि तक पहुँचा देते हैं और सहृदय पाठकों को उसमें अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। अपने साहित्य के पात्रों में प्रसाद जी का संवेदनशील हृदय नारी-पात्रों के प्रति विशेष सहानुभूति पूर्ण रहा है। वह अपने युग में नारी स्वातन्त्र्य के सबसे बड़े समर्थक थे। उनका नारी विद्रोह मनोवैज्ञानिक और काव्यात्मक है, सामाजिक नहीं। उनके लिये प्रेम के आदान प्रदान की स्वतन्त्रता ही सब प्रकार की स्वाधीनता की प्रतीक है। नारी और प्रेम को सर्वाधिक प्रधानता देने के कारण वह नारी जीवन की सबसे बड़ी समस्या--प्रेम करने की स्वतन्त्रता का समाधान यत्र तत्र अपनी रचनाओं में करते हैं। वस्तुतः उनके लिये नारी के प्रेम स्वातन्त्र्य की समस्या नारी के सर्व स्वातन्त्र्य का प्रतीक बन गई है, इसका कारण है कि प्रसाद जी नारी को 'स्नेहमयी रमणी' के रूप में देखते हैं। इसी दृष्टिकोण से अपने प्रेम के इस धरातल पर स्वच्छन्द प्रणय, विवाह आदि के सम्बन्ध में अपनी रचनाओं में विचार किया है। प्रणय और परिणय के सम्बन्ध में प्रसाद जी ने अत्यन्त गंभीरता पूर्वक विचार किया है। इस विचार और विश्लेषण के परिणाम स्वरूप आप प्रणय को अधिक महत्त्व देते हैं। आपके सभी साहित्यिक अंगों में अनेक प्रेम

गायाएँ मिलती हैं, कितने ही प्रेमी-युग्म सामने आते हैं जिनमें प्रथम प्रणय के सूक्ष्म मानसिक अन्तर्द्वन्द्व और उससे उत्पन्न विचित्र मनोदशाओं का चित्रण है। ध्रुवस्वामिनी के शब्दों में—"अकस्मात जीवन-कानन में एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर बसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल—कौन ?—कहकर सबको रोकने टोकने लगता है। राजकुमारी! फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरंद-सी उसमें छिपी रहती हैं।"[1] प्रणय के इस उन्मन आवेग में समाज का कोई भी बन्धन बाधक नहीं बन सकता।

इस प्रकार प्रसाद के मत में "सबके जीवन में एक बार प्रेम की दीपावली जलती है × × × वह आलोक का महोत्सव × × × जिसमें हृदय हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है, उदार बनता है और सर्वस्व दान करने का उत्साह रखता है।"[2] उनके अनुसार पुरुष और स्त्री का परस्पर आकर्षण सृष्टि का गहनतम रहस्य है। इसी आकर्षण के द्वारा प्रकृति क्रमशः विकास के पथ पर परिचालित होती है। 'स्कन्दगुप्त' म धातुसेन की निम्नलिखित उक्ति प्रसाद जी के इस दृष्टिकोण पर पूर्ण प्रकाश डालती है—"समय पुरुष और स्त्री की गेंद लेकर दोनों हाथों से खेलता है। पुलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग की समष्टि अभिव्यक्ति की कुंजी है। पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्क्षेपण होता है। स्त्री आकर्षण होती है। यही जड़ प्रकृति का चेतन रहस्य है।[3] स्पष्ट है कि नारी के प्रति विशेष रागात्मक अनुभूति होने के कारण कवि ने प्रेम और परिणय जैसी विभिन्न मनोवैज्ञानिक स्थितियों का काव्यात्मक विश्लेषण किया है। वस्तुतः प्रसाद ने अपनी रचनाओं में नारी को जितने उच्च पद पर प्रतिष्ठित किया है, समसामयिक साहित्य में कहीं नहीं किया गया। नारी के प्रति उनका दृष्टिकोण बहुत उदार है। वह उसे सदैव अग्रभूमि पर प्रतिष्ठित करते रहे हैं। यही कारण है कि समस्त रचनाओं में यद्यपि उनके सभी पात्रों का चरित्र चित्रण अत्यन्त सजीव हुआ है तथापि नारी-पात्रों के अंकन में प्रसाद अपेक्षाकृत अधिक कलात्मकता एवं सजीवता का प्रयोग कर सके हैं। वे उसे कोमलतम स्वर्गीय-कुसुम मानते हैं। उनके अनुसार नारी-जीवन की सार्थकता उसके हृदय के कोमलतम विकास में निहित है। इसी से उनकी नारी

१. 'चन्द्रगुप्त', अंक ४, पृष्ठ ९।
२. 'ध्रुवस्वामिनी' में कोमा अंक ३।
३. 'स्कन्दगुप्त' में धातुसेन, अंक १, पृष्ठ—३।

का हृदय सर्वत्र उदात्त प्रेम की अक्षय मधुरिमा से रसस्निग्ध हो उठा है, मध्ययुगीन नारी की भाँति उसमें इन्द्रिय-तृप्ति की अतृप्त प्यास नहीं है। वह स्नेह, सेवा, त्याग, करुणा और सान्त्वना की प्रतिमूर्ति है। वह स्त्री सुलभ समवेदना तथा कर्त्तव्य और धैर्य से विभूषित है।[४] उसमें एक अपूर्व स्निग्धता एवं सरलता का निवास है।[५] उसका हृदय कोमलता का पालना है, दया का उद्गम है, शीतलता की छाया है, और अनन्य भक्ति का आदर्श है।[६] स्नेह विश्वास उसका प्राण है, कुशीलपन उसका परमोज्ज्वल भूषण है। यही उसका मुख्य धन है। कोमलता की तो जैसे वह साक्षात् प्रतिमूर्ति है। उसका बाह्य रूप तो कोमलता का प्रतीक है ही, किन्तु उसका अन्तर उसके बाह्य रूप से भी कोमल है। ऐसे लगता है मानो मानव हृदय के घनीभूत औदार्य से प्रसाद की नारी का अन्तर निर्मित हुआ हो। उसका हृदय किसी के प्रति आत्मसमर्पण के लिये सदैव आकुल रहता है। अपनी इस मनःस्थिति से वह स्वयं अनभिज्ञ है और इसका समाधान खोजने के लिये उन्मन रहती है। 'कामायनी' का कवि नारी के इस अन्तःसंघर्ष को अत्यन्त मार्मिकता एवं कलात्मकता के साथ इस प्रकार प्रस्तुत करता है। वह 'लज्जा' के प्रति जिज्ञासा प्रकट करती है :—

यह आज समझ तो पाई हूँ
मैं दुर्बलता में नारी हूँ,
अवयव की सुन्दर कोमलता
लेकर मैं सबसे हारी हूँ।
पर मन भी क्यों इतना ढीला
अपने से होता जाता है ?
घनश्याम खण्ड-सी आँखों में
क्यों सहसा जल भर आता है ?
सर्वस्व समर्पण करने की
विश्वास महातरु छाया में।
चुपचाप पड़ी रहने की क्यों

४. अजातशत्रु में मल्लिका, अंक २, पृष्ठ—३।
५. „ „ मागधी, अंक ३, पृष्ठ—७।
६. „ „ वासवी, अंक ३, पृष्ठ—१।
८. अजातशत्रु में प्रसेनजित, अंक ?, पृष्ठ—७।

ममता जगती है माया मे ?
छाया पथ में तारक द्युति सी
झिलमिल करने की मधु-लीला,
अभिनय करती क्यों इस मन में
कोमल निरीहता श्रमशीला ?[९]

नारी की इस जिज्ञासा के समाधान में लज्जा उत्तर देती है कि निश्छल आत्मदान अथवा आत्मसमर्पण नारी-जीवन का सबसे सरस सबल है। इसी के द्वारा वह पुरुष के हृदय पर विजय प्राप्त कर सकती है। वास्तव में उत्सर्ग में ही नारीत्व की पूर्णता है और यही नारीत्व है कि—

"मैं दे दूं और न फिर कुछ लूं।[१०]

उसे तो 'आँसू से भीगे अंचल पर मन का सब कुछ रखना होगा' वास्तव में प्रसाद के नारी-पात्र त्याग और बलिदान का आदर्श उपस्थित करते हैं। प्रेम, उदारता, करुणा, क्षमा, सहिष्णुता एवं औदार्य जैसे सात्विक गुणों के सक्रिय आचरण द्वारा प्रसाद की नारी न केवल समाज के समक्ष आदर्श उपस्थित करती है, अपितु अपने प्रतिपक्षी पात्रों का मानसिक परिष्कार भी करती है। मल्लिका, वासवी, देवसेना, कार्नेलिया, श्रद्धा आदि इसी कोटि के नारी-पात्र हैं। प्रसाद की अमर कृति 'कामायनी' की नायिका 'श्रद्धा' सम्पूर्ण मानवता के समक्ष सर्वभूत-हित-कामना और विश्व-बंधुत्व का आदर्श उपस्थित करती है। व्यष्टि-सुख को समष्टि-सुख में पर्यवसित करने की सबल प्रेरणा मनु को श्रद्धा से ही प्राप्त होती है। यद्यपि मनु के हृदय पर इसका सक्रिय प्रभाव नहीं पड़ता, तथापि श्रद्धा विवेक पूर्वक मनु को सत्पथ पर लाने का यथासम्भव प्रयत्न करती है। श्रद्धा का यह सक्रिय प्रयास निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

"अपने में भर सब कुछ कैसे,
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है,
अपना नाश करेगा।
औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ,

९. 'कामायनी', लज्जा, पृ३—१०४—५।
१०. 'कामायनी', पृष्ठ—१०५।

अपने सुख को विस्तृत करलो,
सबको सुखी बनाओ ।"

प्रसाद चूँकि रस में लोकमङ्गल की भावना के समर्थक हैं, इसलिये रस के सृष्टि-कर्ता उनके नारी-पात्रों में विश्व कल्याण और लोकमङ्गल की भावना अन्त र्निहित है। प्रसाद की आदर्श नारी—श्रद्धा—जो सेवा, त्याग, ममता और विश्व मङ्गल की साक्षात् प्रतिमूर्ति है, पशु बलि और मृगया—परायण मनु को अपने कर्म के प्रति सजग करती हुई कहती है—

ये प्राणी जो बचे हुए हैं
इस अचला धरती के।
उनके कुछ अधिकार नहीं
क्या वे सब ही हैं फीके ?
मनु ! क्या यही तुम्हारी होगी
उज्ज्वल नव मानवता,
जिसमें सब कुछ ले लेना हो,
हन्त ! बची क्या शवता ?

श्रद्धा की इस लोकमङ्गलमयी भावना का उत्कर्ष इस सीमा तक हुआ कि स्वयं मनु भी उसे सर्वमङ्गला मातेश्वरी के रूप में देखने लगे—

बोले ? रमणी तुम नहीं आह
जिसके मन में हो भरी चाह,
'तुम देवि आह कितनी उदार,
यह मातृमूर्ति है निर्विकार।
हे सर्वमंगले तुम महती
सबका दुःख अपने पर सहती।
कल्याणमयी वाणी कहती।
तुम क्षमा—निलय में हो रहती
मैं भूला हूँ तुमको निहार।
नारी सा ही ! वह लघु विचार।'

यही है प्रसाद की नारी का वास्तविक एवं सत्य स्वरूप। 'कामायनी' की नायिका 'श्रद्धा' के रूप में ही प्रसाद का नारी विषयक दृष्टिकोण पूर्णता एवं विशदता को प्राप्त हुआ है। एक आदर्श भारतीय नारी के विषय में कवि के अन्तर्मन में जो एक सूक्ष्म मधुर भावना थी, और उसके प्रति जो एक विशेष प्रकार की

उदात्त कल्पना थी, वह श्रद्धा के रूप में मूर्तिमान हो उठी है। अत हम कह सकते हैं कि प्रसाद की नारी भावना की प्रतीक श्रद्धा है, जिसका चित्रण आपने एक सर्वाङ्गीण नारी के रूप में किया है। वह 'कामायनी' में दुहरा व्यक्तित्व लेकर आती है। वह हृदय की विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति भी है और सम्पूर्ण नारी-जगत का प्रतिनिधित्व भी करती है।

शरतचन्द्र के नारी पात्रों की भाँति प्रसाद की नारी में नारी हृदय की असीम करुणा का विकास हुआ है। सारस्वत प्रदेश से मनु जब दूसरी बार पलायन कर जाते हैं तब श्रद्धा ही उन्हें अपनी उदारता, क्षमा और करुणा से अभिभूत करती है। यहाँ पहुँच कर वह केवल करुणामयी न होकर स्वय करुणा बन जाती है—कामना वृन्त से विरत कोमल और मधुर! सचमुच प्रसाद ने अपनी नारी सृष्टि अपने हृदय के समस्त स्नेह, कारुण्य विश्वास, लावण्य आदि के घनीभूत तत्वों से की है। श्रद्धा का निर्माण अनन्त स्नेह, निश्छल प्रेम, हृदय के सामरस्य और स्वाभाविक कोमलता से हुआ है। ममता उसका माया है और क्षमा उसकी अमोघ शक्ति! विराट और कोमल का उत्तम मधुर सम्मिलन है। प्रसाद की नारी भावना का पूर्ण विकसित रूप श्रद्धा के रूप में हमारे सामने आता है। वे नारी में अनन्त शक्ति-स्रोत का स्थिति मानते हैं। वह शक्ति है—श्रद्धा और त्याग की। इसी के बल पर नारी अपने जीवन को सार्थक बना सकती है। कवि के अपने ही शब्दों में—

> "नारी! तुम केवल श्रद्धा हो,
> विश्वास रजत नग पगतल में।
> पीयूष स्रोत सी बहा करो,
> जीवन के सुन्दर समतल में।"

वस्तुत 'श्रद्धा' प्रसाद की नारी-कल्पना का सबसे सजग और सबल रूप है। 'श्रद्धा' की पृष्ठभूमि में नारी के ममतामय और स्नेहस्निग्ध रूप को कवि ने इस प्रकार चित्रित किया है—

> "दया, माया, ममता लो आज,
> मधुरिमा लो अगाध विश्वास
> हमारा हृदय रत्न स्वच्छन्द,
> तुम्हारे लिये खुला है पास।"

कवि के अनुसार नारी इस कोलाहलमय जगत् में शान्ति-स्थल है, जीवन के

ज्वलित मरुस्थल में शीतल मन्द बयार है। श्रद्धा के शब्दों में कवि का वक्तव्य निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—

"तुमुल कोलाहल कलह में।
मैं हृदय की बात रे मन।
× × × ×
जहाँ मरु ज्वाला धधकती,
चातकी कन को तरसती
उन्हीं जीवन घाटियों की,
मैं सरस बरसात रे मन !
× × × ×
इस झुलसते विश्व दिन की,
मैं कुसुम ऋतु रात रे मन !"

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रसाद को नारी का ममतामय, त्यागमय, संवेदनशील और मधुरिमा मंडित रूप ही स्वीकार है। किन्तु इस ममतामय नारी के अतिरिक्त प्रसाद जी ने अपने साहित्य में ही से नारी-पात्रों की सृष्टि भी की है जो मानवगत दुर्बलताओं से अभिशप्त होकर मिथ्याभिमान, स्वार्थ परायणता, ईर्ष्या आदि अनुदात्त वृत्तियों की पराकोटि को प्राप्त होते हैं। किन्तु अन्त में ऐसे पात्रों में भी सद्-वृत्तियों की विशदता चित्रित की गई है। इन नारी-पात्रों के प्रति प्रसाद का दृष्टिकोण अत्यन्त विक्षोभ पूर्ण है। वे ऐसी नारियों को ज्वालामुखी विस्फोट से भी भयकर और प्रलय की अनल—शिखा से भी प्रचण्ड मानते हैं। 'कामायनी' में उनका यह दृष्टिकोण निम्न रूप से अभिव्यक्त हुआ है—

"नारी का वह हृदय ! हृदय में
सुधासिंधु लहरें लेता
बाडव ज्वलन उसी में जलकर
कञ्चन सा जल रंग देता।
मधु पिंगल उस तरल अग्नि में
शीतलता संसृति रचती,
क्षमा और प्रतिशोध ! आह रे,
दोनों की माया नचती !"

कामायनी में चित्रित इड़ा का चरित्र नारी के इसी रूप का प्रतिनिधित्व करता है। इड़ा के रूप में प्रसाद ने वैज्ञानिक युग की अधिकार—लिप्सा, बाह्य

आकर्षण से युक्त, दर्पोन्मत्त नारी का स्वरूप अंकित किया है। कामायनी में इडा व्यक्तिवादी नारी के उस स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती है जो पाश्चात्य सभ्यता में पोषित होकर वैभव, विलास, कामना और अधिकार-भावना को अपना सर्वस्व समझती है, और जो हृदय की विश्वासमयी रागात्मिका वृत्तियों को भी ऐश्वर्य और अधिकार की तुला पर तोलती है। वह एक ऐसी नारी का प्रतिरूप है जो स्वार्थपरायणता एवं बौद्धिकता को प्रधानता देकर, अपने रूप के मोहक आकर्षण का जाल बिछाकर पुरुष को अपनी ओर आकृष्ट करती है, और जो हृदय की सरस एवं स्निग्ध विभूतियों से विहीन जीवन की अखण्डता एवं शाश्वत सुख शान्ति में वर्ग विभाजन की सृष्टि करता है और अभेद एवं अभिन्नता के स्थान पर भेद की सृष्टि करने में सुख और आनन्द का अनुभव करती है। कवि के अपने शब्दों में ऐसी नारी का कृतित्व निम्न रूप से द्रष्टव्य है—

यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि।
द्वयता में लगी निरन्तर ही वर्णों की करती रहे सृष्टि।
× × × ×
कोलाहल कलह अनन्त चले, एकता नष्ट हो बढ़े भेद,
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद।

—इत्यादि।

इस प्रकार प्रसाद की दृष्टि में एक ओर कल्याण और विश्व मङ्गल की प्रतीक करुणामयी नारियाँ हैं—जैसे 'श्रद्धा', देवसेना, राज्यश्री आदि और दूसरी ओर वैमनस्य और अधिकार की वेदी पर अपने नारीत्व का बलिदान करने वाली इडा जैसी नारियाँ हैं। पहली क्षमा, सेवा, त्याग, ममता और औदार्य की प्रतिमूर्ति हैं तो दूसरी प्रतिशोध की जलती हुई चिनगारी। एक सद्वृत्तियों की प्रतीक है तो दूसरी असद् की। प्रसाद का आदर्शवादी कला में सद्वृत्तियों की विजय होती है और असद् की पराजय। 'कामायनी' में अंतिम चरण में इडा का श्रद्धा के उदात्त, मनःपूर्ण एवं मननशील चरित्र से प्रभावित होना और उसके (इडा के) हृदय का मन्थनामय एवं अनुराग रंजित हो उठना—उदात्त की अनुदात्त पर ज्वलन्त विजय है। इसके अतिरिक्त यह विजय अर्वाचीन पर प्राचीन की विजय की उद्घोषणा भी करता है। वास्तव में युग युग में पुरुष नारी के मङ्गल रूप की ही अभ्यर्थना करता आया है और उससे पलायन कर उसे पश्चाताप की अग्नि में जलना पड़ा है। प्राकृत मनु के शब्दों में प्रसाद ने नारी के आदर्श रूप का अभिनन्दन किया है। यही वास्तव में प्रसाद की नारी का सत्य स्वरूप है—

तुम अजस्र वर्षा सुहाग की
और स्नेह की मधु-रजनी,
चिर अतृप्ति जीवन यदि था, तो
तुम उसमें संतोष बनी।
कितना है उपकार तुम्हारा
आश्रित मेरा प्रणय हुआ,
कितना आभारी हूँ, इतना
संवेदनमय हृदय हुआ।
किंतु अधम मैं समझ न पाया
उस मंगल की माया को,
और आज भी पकड़ रहा हूँ,
हर्ष शोक की छाया को।

अंतिम पंक्तियों में यह न केवल मनु की ग्लानि है, प्रत्युत सारी मानव-संस्कृति की ग्लानि है जो नारी के मङ्गल रूप का तिरस्कार कर उससे पलायन करती है और हिंसात्मक कर्मों में प्रवृत्त हो जाती है।

अस्तु, प्रसाद जी की नारी भावना की प्रतीक यह श्रद्धा ही है। उसको नारी संस्कृति का प्रतीक मान कर कवि कह उठता है—

"नारी माया ममता का बल,
वह शक्तिमती छाया शीतल।"

हिन्दी कविता की नयी धारा

श्री जयशङ्कर प्रसाद : प्रवर्त्तक और प्रवृत्तियाँ

प्रो० दीनानाथ 'शरण' एम० ए०

परिस्थिति और अवसर के अनुकूल मानवीय मुख मुद्रा में परिवर्त्तन होते हैं, कविता-कामिनी की भाव भंगिमा भी युगधर्मोचित प्रेरणाभूमि में अभिव्यक्ति परिणति पाती है। युग के परिवर्त्तन के साथ साथ कविता की प्रवृत्ति धारा में भी परिवर्तन होते हैं। हिंदी काव्य के इतिहास में कविता का क्रमविकास एवं दिशा वैविध्य उपरि-कथित तथ्य का आप प्रमाण है। सातवीं शती से शुरू होने वाली हिन्दी-कविता की सरिता आज तक विभिन्न धाराओं में प्रवहमान रही है। सिद्ध सामंत काल में तद्युगीन हिंदी काव्य का अपना विशिष्ट स्वर था, भक्तिकाल में उसकी प्रवृत्ति बदली तथा रीतिकाल में आकर उसने एक दूसरा नया रूप ग्रहण किया। पार्थिव शृंगारिकता एवं कला-कौशल प्राधान्ययुक्त इस युग की काव्य धारा प्रायः उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध तक प्रवाहित रही, भारतेन्दु के उदय ने उसे नई दिशा का सन्देश दिया। हास्य विनोद के नवीन आलम्बन, रचना विधान में नूतन परिवर्त्तन एवं नये-नये विषयों से इस युग की कविता-कामिनी अलङ्कृत हुई। भारतेन्दु-युग की कविता की प्रधान विशेषता देश भक्ति थी। किन्तु भाषा अब तक वही पुरानी ब्रजभाषा रही। खड़ीबोली में काव्य रचना के लिए अब जबर्दस्त आन्दोलन शुरू हो गया और वास्तविक खड़ीबोली हिन्दी कविता का आरम्भ एवं विकास उन्नीसवीं शती की अन्तिम विंशति से ही कहा जा सकता है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम इस प्रसंग में स्मरणीय है जिन्होंने आरम्भिक खड़ीबोली कविता के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दान दिया। किन्तु द्विवेदी युग की कविता की भी अपनी सीमाएँ रहीं (और यह स्वाभाविक भी था क्योंकि खड़ीबोली में काव्य रचनारम्भ के अभी हुए ही कितने दिन थे!), द्विवेदी-युग में कविता के विषयों में तो नवीनता आई, पर शैली में नूतनता और काव्य भूमि का प्रसार नहीं हो सका। संस्कृत के वृत्तों में ढाली गई हिंदी कविता तुकबन्दी सी रह गई, उसमें सरसता और काव्यत्व का अभाव बना रहा। इस अभाव की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप छायावाद का आरम्भ हुआ और इसके

आरम्भकर्ता थे—श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री मुकुटधर पाण्डेय—ऐसा सुप्रसिद्ध समीक्षक प० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है—'छायावाद के पहले नए नए मार्मिक विषयों की ओर हिंदी कविता प्रवृत्त होती आ रही थी। कसर थी तो आवश्यक और व्यंजक शैली की, कल्पना और संवेदना के अधिक योग की। तात्पर्य यह कि छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यञ्जना की रोचक प्रणाली का विकास था। जो धीरे धीरे अपने स्वतन्त्र ढर्रे पर श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय आदि के द्वारा हो रहा था।"[1] अभिव्यंजना की नई प्रणाली की आकांक्षा के परिणामस्वरूप एवं बँगला और अँग्रेजी की नकल में[2] छायावाद का आरम्भ हुआ, ऐसा कभी माना नहीं जा सकता। हिन्दी के बहुत बड़े आलोचक कहलाने वाले प० रामचन्द्र शुक्ल के विचार सर्वथा भ्रामक हैं, ऐसा कहने में मुझे किसी प्रकार का संकोच नहीं है। अपनी पुस्तक में इसका सविस्तार और सम्यक विवेचन मैं कर ही चुका हूँ[3] और प्रस्तुत प्रबन्ध की सीमा के बाहर होने के कारण उसकी पुनरावृत्ति अपेक्षित नहीं।

द्विवेदी युग के समाप्त होते न होते हिन्दी कविता की एक नई धारा का जन्म हो गया था (जिसे बाद में 'छायावाद' नाम दिया गया)—यहाँ तक तो प्राय सभी समीक्षकों एवं साहित्येतिहासकारों में मतैक्य है ही—इतना स्पष्ट है। किन्तु प्रश्न विचारणीय यह है कि छायावाद का प्रवर्तक कवि कौन है? छायावाद के प्रवर्त्तन का श्रेय किसे दिया जाना चाहिए? आज इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर दे सकना कुछ सहज नहीं है। सम सामयिक पत्र पत्रिकाओं की पुरानी पुरानी फाइलों को परिश्रमपूर्वक उलटकर कुछ लोग चाहे भले किसी कविता विशेष को देखकर किसी कवि विशेष को पहला छायावादी कवि होने का महत्वपूर्ण शोध-कार्य (?) प्रस्तुत करें, किन्तु, क्या यह सम्भव नहीं है कि उसके पहले भी कोई वैसी ही कविता किसी और दूसरे कवि द्वारा लिखी जाकर भी

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—प० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६५० संवत् २००६—संस्करण।

२. प० रामचन्द्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ६५१, सं० २००६ संस्करण

३. हिन्दी काव्य में छायावाद, पृ० १६-२५, ३७-५०, ७०-८७

कारण-विशेष से प्रकाश में न आ सकी हो? ऐसी स्थिति में क्या माना जा सकता है? इस सम्बन्ध में अभिज्ञ आलोचक श्री इलाचन्द्र जोशी का विचार सर्वथा उपयुक्त और युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि "पहला छायावादी कवि उसे माना जाना चाहिए जिसने छायावादी-युग की निश्चित स्थापना हो जाने के पूर्व ही से एक-आध छिटपुट कविता नहीं बल्कि निरन्तर ऐसी कविताएँ लिखीं जिनमें छायावादी प्रवृत्ति स्पष्ट और असंदिग्ध-रूप से वर्तमान थे।"[४] इसी मापदण्ड से विचार करने के उपरान्त मेरी धारणा यह है कि श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' ही छायावाद के प्रवर्तक हैं श्री मैथिलीशरण गुप्त[५], श्री मुकुटधर पाण्डेय[६], श्री राम नरेश त्रिपाठी[७] श्री सुमित्रानन्दन 'पन्त'[८], श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'[९], श्री माखनलाल चतुर्वेदी[१०] अथवा कोई दूसरा नहीं।

प० रामचन्द्र शुक्ल ने मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय को छायावाद के प्रवर्तक-कवि मानकर उनकी कविताओं के जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं[११] वे सन् १९१४ के पहले के नहीं हैं। श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' की रचनाएँ उन दोनों के बहुत पहले की हैं (अर्थात् सन् १९०९ ई०) जिनमें छायावादी प्रवृत्तियाँ स्पष्ट और असंदिग्ध रूप में वर्तमान हैं। छायावाद के लक्षण 'प्रसाद' की चित्राधार (सन् १९०९) की रचनाओं में ही दिखाई देते हैं जहाँ अभिव्यंजना पद्धति की ही नवीनता नहीं, शीर्षक भी नवीन एवं छायावादी ढंग

४—अवन्तिका (काव्यालोचन-अङ्क) पृ० १९४

५—जैसा कि प० रामचन्द्र-शुक्ल का कहना है, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ६५०

६—वही, पृ० ६५०

७—जैसा कि स्वयं रामनरेश त्रिपाठी कहना चाहते हैं, अवन्तिका (काव्यालोचन-अङ्क) पृ० २८८

८—अवन्तिका (काव्यालोचन-अङ्क) नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १९० और जानकी वल्लभ शास्त्री, पृ० १९७

९—वही, पृ० १९७

१०—वही, विनयमोहन शर्मा का मत पृ० १९८, प्रभाकर माचवे का मत पृ० १९९

११—देखिये—हिन्दी साहित्य का इतिहास (शुक्ल) पृ० ६४९-९। सं० २००९ संस्करण।

के हैं—जैसे—'सन्ध्या तारा' 'नीरव प्रेम' 'प्रभात कुसुम' आदि। 'प्रेम पथिक' में भी (जो सन् १६०५ में ही लिखी गई थी) छायावाद के बीज पर्याप्त परिमाण में मिलते हैं। बाद में 'झरना', 'लहर' और 'कामायनी' में 'प्रसाद' की छायावादी-प्रवृत्तियाँ विकसित होती गयीं। इस प्रकार 'प्रेम पथिक' और 'चित्राधार' के युग से ही छायावादी प्रवृत्तियों से युक्त उनकी कविता 'इन्दु' के उदय से सन् १६०६ के पश्चात् और भी प्रकाशित हो उठी। 'सरस्वती' की फाइलों के साथ साथ 'इन्दु' की फाइलों को भी आचार्य शुक्ल ने उलटा होता तो गुप्त जी और मुकुटधर पाण्डेय को छायावाद के प्रवर्तक मानने की भूल उनसे शायद कभी नहीं हुई होती। निश्चय ही 'प्रसाद' जी ने हिन्दी कविता की इस नई धारा (छायावाद) का प्रवर्त्तन किया। गुप्त जी के 'नक्षत्र निपात' (सन् १६१४) के बहुत पूर्व ही सन् १६१० ११ की 'इन्दु' म उनकी अनेक छायावादी कविताएँ मिलती है। और 'प्रसाद' की काव्य गंगा में इस नई कविता के केवल कुछ ही कण नहीं हैं—वहाँ तो उसका अबाध प्रवाह और समस्त प्रवृत्तियाँ ही हैं। वहाँ इस नई कविता का झिलमिल आभास नहीं, वरन् चरम विकास का ज्वलन्त प्रकाश ही दृष्टिगत होता है। दूसरे शब्दों म—"प्रसाद" ने एकाध छिटपुट नहीं बल्कि निरंतर रूप से ऐसी कविताएँ लिखीं जिनमें छायावादी प्रवृत्ति के बीज असंदिग्ध रूप से वर्तमान थे। 'चित्राधार' से कानन कुसुम', 'झरना', 'आँसू', 'लहर' और 'कामायनी तक उनकी छायावादी प्रवृत्ति बनी रही। अत समग्र रूप से विचार करने पर निश्चय ही 'प्रसाद' जी हिन्दी के सर्व प्रथम कवि माने जायेंगे। कुछ ऐसा ही मतव्य श्री इलाचंद्र जोशी ने भी प्रकट किया है—"प्रसाद की अविवादास्पद रूप से हिंदी के सर्वप्रथम छायावादी कवि ठहरते हैं। सन् १६१३ १४ के आसपास 'इन्दु' म प्रतिमास उनकी जिस ढग की कविताएँ निकलती थीं (जो बाद में 'कानन कुसुम' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई) वे निश्चित रूप से तत्कालीन हिन्दी काव्य क्षेत्र म युग विवर्तन की सूचक थीं। उस नई शैली के निरन्तर विकास की ओर 'प्रसाद' जी एतत प्रयत्नशील रहे, और उस विकास को चरम परिणति 'कामायनी' में हुई आश्चर्य नहीं कि छायावादी ढग की सर्व प्रथम स्फुट कविता भी 'प्रसाद' जी द्वारा ही लिखी गयी हो, पर तर्क के लिए यदि यह भी मान लिया जाय कि उस शैली की पहली स्फुट कविता किसी दूसरे कवि द्वारा रची गयी, तो भी छायावादी प्रवृत्ति को सर्वप्रथम सयत रूप से प्रवृत्ति करने के कारण 'प्रसाद' जी ही पहले छायावादी प्रमाणित होते

है।"[१२] श्री राय कृष्णदास,[१३] श्री सुमित्रानन्दन 'पंत'[१४] प्रिंसिपल मनोरंजन,[१५] श्री आरसी प्रसादसिंह[१६] और शिवनाथ जी[१७] के विवेचन का भी यही निष्कर्ष है कि 'प्रसाद' जी ही छायावाद के प्रवर्त्तक हैं। प्रसाद जी को ही हिन्दी की इस नई कविता धारा के प्रवर्तक कवि के रूप में मान्यता मिली है।

'प्रसाद' जी के पूर्व के द्विवेदी-युग की हिंदी कविता के स्वरूप दर्शन के उपरान्त 'प्रसाद' की पूर्ववर्ती और परवर्ती काव्य धाराओं में स्पष्टतः काफी अन्तर है, ऐसा कहने में किसी को भी किसी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिए। 'प्रसाद' जी की कविताओं में छायावादी प्रवृत्तियों के पूरे पुट हैं। ऐसी ही बात तो उनकी पूर्ववर्ती कविताओं के सम्बन्ध में कदापि नहीं कही जा सकती। उन्होंने ही हिन्दी में छाया काव्य को जन्म दिया, उसका प्रवर्त्तन किया, उसकी शब्दावली रचनाशैली एवं कला विधान का निर्माण किया। उनके पश्चात् की हिंदी कविता स्पष्टतः, या अस्पष्टतः प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः उस काव्य से प्रायः अनिवार्यतः प्रभावित ही है, ऐसी मेरी धारणा है। एक इतनी मौलिक, इतनी नवीन तथा इतनी प्रशस्त एवं लब्ध प्रतिष्ठ धारा के प्रवर्त्तन के कारण ही 'प्रसाद' को 'प्रसाद' मानने की विवशता का हम अनुभव करते हैं। छायावाद की समस्त विशेषताएँ और उसकी सारी उपलब्धियाँ 'प्रसाद' के काव्य में प्राप्य हैं। 'प्रसाद' जी की काव्य-कला की प्रमुख प्रवृत्तियों पर अब हम विचार करेंगे।

'प्रसाद' जी की भाषा में अतीव कोमलता, माधुर्य और सरसता है। उसमें लाक्षणिक पदावलियाँ भी पर्याप्त परिमाण में प्राप्य हैं। संगीतात्मकता और सुन्दर शब्द योजना के साथ साथ मानवीय भावों की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृतिगत प्रतीकों की प्रचुरता है। चित्रमयी भाषा के तो 'प्रसाद' कुशल अधिकारी ही हैं। इनकी कविता-कामिनी नव नव अलंकारों से अलंकृत भी खूब है। इस प्रकार अभिव्यंजना गत छायावाद के सारे लक्षण 'प्रसाद' के काव्य में उपलब्ध हैं। रचना विधान की दृष्टि से प्रसाद की प्रायः समस्त रचनाएँ गीतात्मक

१२—अवन्तिका (काव्यालोचन अङ्क) पृ० १६४
१३—वही, पृ० १८८
१४—वही, पृ० १६०
१५—वही, पृ० १६५
१६—वही, पृ० १६७
१७—वही, पृ० २००

ही है। 'कामायनी' और 'आँसू' भी गीतात्मक ही अधिक है, उनमें महाकाव्यत्व और खण्डकाव्यत्व के साथ साथ गीत तत्त्वों का भी निर्वाह हो सका है। इस प्रकार छायावाद की एक प्रमुख प्रवृत्ति (रचनाविधान का गीतात्मक प्रधान होना) भी 'प्रसाद' में हमें प्राप्य है।

'प्रसाद' की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता है—प्रकृति के प्रति प्रगाढ़ प्रेम। 'प्रसाद' ने प्रकृति के साथ अपने हृदय का तादात्म्य किया है। प्रकृति उनके लिये उनसे अलग नहीं। वह तो उन्हीं की हृदयगत भावनाओं का प्रतिबिंब (छाया) अथवा प्रतिरूप (प्रतीक) है। इसे ही सर्ववाद कहते हैं। 'प्रसाद' की प्रकृति प्राय नारी रूप में ही चित्रित हुई है। उपरि कथित 'प्रसाद' की प्रकृति चित्रण सम्बन्धी प्रमुख प्रवृत्तियाँ छायावाद की प्रकृति की प्रधान विशेषताएँ हैं।

'प्रसाद' प्रेम और यौवन के कवि थे। उनके काव्य में 'सौन्दर्य' और शृंगार की प्रचुरता है। किन्तु उनके शृंगार वर्णन म अश्लीलता कहीं नहीं है। सौंदर्य और शृंगार को उन्होंने तो इतना परिष्कृत रूप दिया कि वह उनके किसी भी पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती कवि के लिए ईर्ष्या की वस्तु बन गई। इस दृष्टि से वे तुलसीदास से भी कहीं आगे नहीं तो समकक्ष निश्चय हैं। आलिंगन चुम्बन की इतनी मर्यादित-परिनिष्ठित व्यंजना समस्त हिन्दी काव्य में बेजोड़ है—

> "फिर वह बोले, पहचानो तो मैं हूँ कौन बताओ तो।
> किन्तु उन्हीं अधरों से, पहिले उनकी हँसी दबाओ तो।
> सिहर भरे निज शिथिल मृदुल अचल को अधरों से पकड़ो,
> बेला बीत चली है चचल बाहु लता से आ जकड़ो॥"
>
> —(लहर)

'प्रसाद' की कविताओं में आध्यात्मिक सकेत और अज्ञात कौतूहल-भावना के उदाहरण भी प्रचुरमात्रा में प्राप्त होते हैं। नारी उनके काव्य में एक नये रूप में आई। द्विवेदी युग की अत्यधिक रूढ आदर्शवादिता के कारण नारी का विविध रूप विकास नहीं पा सका, नारी सती साध्वी समाज सेविका तथा आँचल में दूध और आँखों में पानी लिए असीम वेदना की प्रतिमा बनकर रह गई। 'प्रसाद' की नारी, नारी है। नारी का शाश्वत रूप 'प्रसाद' की इन पंक्तियों में दृष्टव्य है—

'नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल मे
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल मे।'

(कामायनी)

नारी के प्रति ऐसी उदात्त भावना पहले-पहल 'प्रसाद' जी में मिली। उन्होंने नारी में सौ दर्य के साथ-साथ पवित्रता के भी दर्शन किये। 'प्रसाद' में कल्पना की रगीनी, सूक्ष्मता और विराटता भी पर्याप्त है। इस प्रकार सक्षेप में 'प्रसाद' जी की काव्यगत उपरि-उल्लिखित समस्त विशेषताएँ वे ही हैं जो पीछे चलकर उनके द्वारा प्रवृत्ति नई काव्यधारा (जिसे 'छायावाद' का नाम दिया गया) की प्रमुख प्रवृत्तियाँ बनीं। छायावाद के सारे-के-सारे वे प्रधान लक्षण 'प्रसाद' की आरम्भिक कविताओं से लेकर उनकी अतिम रचना तक में विद्यमान हैं। आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में 'प्रसाद' जी का नाम एक महत्व स्मरणीय घटना है। कारण स्पष्ट यह है कि उनके पूर्व उसका रूप भिन्न था; उन्होंने, मगर, उसे नई दिशा देकर उसके परवर्ती रूप को अप्रत्याशित (unexpected) रूप से प्रभावित किया। श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' की अप्रतिम प्रतिभा ने इसके अतिरिक्त भी, हिन्दी कविता के उस नवीन धारा के आरम्भ के साथ ही साथ उसका चरम उत्कर्ष भी (कामायनी के रूप में) उदाहृत किया हिन्दी-कविता के उस नय पथ पर प्रथमतः अग्रसर होने के दु-साहस और श्रेय से तो वे महिमान्वित ही हैं और उस पथ की साधना की पराकाष्ठा और उच्चतम मंज़िल के सिद्ध प्राप्त साधक भी। उनके पश्चात् कविता के उस आकाश में नये-नये सितारों का क्षणिक और स्थायी उदय हुआ; परिणामतः उस काव्यधारा की महान परम्परा ही चल पड़ी। एक महान परम्परा के प्रवर्त्तन का प्रसाद 'प्रसाद' ने ही पाया था और इस प्रकार भी छायावाद के प्रवर्त्तक के अतिरिक्त वे हमारे समस्त हिन्दी काव्य में प्रमुख मील-स्तम्भ हैं।

प्रसाद काव्य की पृष्ठ भूमि—

[डा० व्रज गोपाल तिवारी एम० ए०, पी एच० डी०, डी० लिट्०]

प्रारम्भिक परिचय

साधारणतया इस प्रकार की प्रगति की बागडोर स्त्रियों के हाथ में होनी चाहिये थी, उनकी कोमल वृत्तियाँ ही मनुष्य को सामाजिक-चेतना प्रधान उलझनों (Social Ego) से हटाकर व्यक्तिगत, निजी एवं अन्तर्तम अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की ओर प्रेरित कर सकती हैं, उदाहरणार्थ, आधुनिक काल में अमेरिका में अनेक कवियित्रियों,—एमी लावेल, लेवनी एडम्स, मेरियम मूर आदि ने व्यक्तिगत (Actual 'I'") अनुभूतियों की धारा, कोमल और सूक्ष्म ढग से, प्रवाहित की है। पर सम्वत् १९८० से १९९५ वि० तक के काल में भारतीय महिलाओं की जाग्रति, उचित मात्रा में, नहीं हो पाई थी। इसके अतिरिक्त, व्यक्ति के अह (Ego) के ऊपरी धरातलों के प्रकाशन की अपेक्षा, उसकी अन्तर्तम चेतना एवं गभीरतम अनुभूति की अभिव्यक्ति पर ही बल दिया गया। इसी कारण, श्रीमती महादेवी वर्मा को छोड़कर, इन विद्रोही नक्षत्रों के झुरमुट में, हम प्राय. पुरुष कवि रत्नों को ही पाते हैं।*

एक ओर तो यह विद्रोह था दासत्व-काल के पशुवत् जीवन के विरुद्ध, पर दूसरी ओर इस में उच्च वर्ग के खोखले जीवन तथा मध्यम वर्ग की सफेद पोशी को भी चुनौती दी जा रही थी, द्विवेदी-युग की उथली सज्जनता, नैतिकता, मान्यताओं, परम्पराओं, बड़प्पन की पूजा, शिष्टाचार, विशिष्ट छन्दों एवं शब्दों के प्रयोगों—अर्थात् उक्त युग के समूचे वातावरण, काव्य एवं जीवन पर इन विद्रोहियों ने जोरदार आक्रमण किया।

विद्रोही प्राय: तीन श्रेणियों के हुआ करते हैं :—(१) उद्दण्ड, (२) मस्त, फक्कड़ (३) कोमल मधुर + प्रसाद जी तीसरी प्रकार के विद्रोही थे, विश्वकवि

* हाँ छायावाद की आरम्भिक कविता प्रसाद कृत "आँसू" की रचना भी एक स्त्री अर्थात् प्रसाद जी की पत्नी की स्मृति की प्रेरणा से हुई।

\+ फ्रान्सीसी साहित्यकार, मॉन्टेन (Montaigne) भी मधुर विद्रोहियों की श्रेणी में आते हैं, किन्तु मिल्टन, एक प्रकार से, फक्कड़ कहे जा सकते हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के चेले (और रवीन्द्र द्वारा भारतीय योगियों, ईरानी सूफियों और योरूपीय सन्तों के बलवान एवं दृढ विश्वासों और गंभीर संवेगों की दीक्षा प्राप्त सहृद युवक), इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के विद्रोही हो ही कैसे सकते थे? इस विद्रोह की एक विशेषता और भी उल्लेखनीय है, यह विद्रोह, बहुत शुद्ध, एक सफल विद्रोह रहा, अतः ये विद्रोही विश्व विद्यालयों, कवि सम्मेलनों और यहाँ तक कि कई राज्यों में, आदर के पात्र बने और अन्त में धन, धान्य से परिपूर्ण हो गए।

प्रसाद जी की अनुभूति, उस समय के लिये, निराली थी, उसमें न तो पुरानी परिपाटी थी—उदाहरणार्थ श्री पद्मसिंह शर्मा सरीखे समालोचकों द्वारा स्तुत्य शृंगार रस प्रधान चेतना को स्थान मिला, न मिश्र बन्धुओं आदि द्वारा सम्मानित भक्ति की वृत्तियों को और न ही द्विवेदी जी द्वारा प्रोत्साहित राष्ट्रीय भावनाओं को। इस दल के विद्रोही कवियों को बिहारी की सतसई, तुलसीदास की रामायण और गुप्त जी का भारत भारती कवितायें नहीं, वरन् कविता की लाशों के रूप में दिखाई देने लगीं।* इन्हें विषयाकार बुद्धि अथवा सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना प्यारी नहीं लगी, इन्हें तो आत्म-अभिव्यक्ति ही प्रिय थी। यह आत्म अभिव्यक्ति न तो भोजन वस्त्र आदि के भूखों की माँग ही थी और न राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के दीवानों की पुकार, इन चिल्लाहटों को प्राण देने वाली एक और भी गहरी वेदना इनके हृदय को विदीर्ण कर रही थी, वह थी ससीम में निहित असीम की पुकार व ससीम अथवा शान्त की अनन्त से मिलने की तीव्र अभिलाषा।

बुद्धिवाद बनाम हृदय-वाद।

बुद्धि द्वारा निर्मित विचारों, संज्ञाओं, प्रत्ययों (Concepts) द्वारा भी मनुष्य अर्थात् चिन्तनशील दार्शनिक या विचारक इस परम सत्य को व्यक्त करने की चेष्टा करता है कि ससीम और सान्त पदार्थ की बेचैनी तब तक दूर नहीं हो सकती है, जब तक कि वह अनन्त तत्त्व की गोद में पहुँच कर, विश्राम न करे। किन्तु इस परम सत्य को दार्शनिकों ने भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से देखा

* कवियों की रुचि के भेद उनके वस्त्रों की भिन्नता में भी प्रदर्शित होते हैं, उदाहरणार्थ, द्विवेदी-युग की अचकन व पायजामे, अथवा कोट-धोती व कोट-पतलून, गांधीवादियों के खद्दर के कुर्ते व प्रसाद, निराला आदि के रेशम के कुर्ते भिन्न भिन्न रुचियों व दृष्टिकोणों को प्रदर्शित करते हैं।

है, इस कारण उनमें इस विषय पर तथा अनन्त तत्त्व के स्वरूप ही पर अनेक *मत-मतान्तर, वाद-विवाद तथा प्रकार भेद हो गये हैं।* कोई दार्शनिक, भगवान शंकराचार्य के समान, एक असीम, अनन्त चैतन्य की सत्ता ही का अस्तित्त्व स्वीकार करते हैं और दृश्य जगत् को मिथ्या बतलाते हैं, तो कोई, चार्वाक *अथवा मार्क्स के समान, दृश्य जगत ही को सत्य और अनन्त तत्त्व* को एक कपोल कल्पित कल्पना के रूप में देखते हैं, कोई विचारक, श्री अरविन्द आदि, ऐसे भी हैं जो चैतन्य और पुद्गल (Matter) के बीच समझौता स्थापित करने व चैतन्य अथवा देवत्व को पुद्गल में उतारने की चेष्टा करते हैं। किन्तु दार्शनिकों के इन मत भेदों और पारस्परिक झगड़ों में कोई कोई बुद्धि का दिवालियापन पाते हैं। अतः शंकर "अपरोक्षानुभूति" को बुद्धि के परे ठहराते हैं, *इसी प्रकार योगी श्री अरविन्द, कवि तार्किक बर्गसॉ (Bergson)* आदि भी अन्तर्दृष्टि ही को सर्वोपरि मानकर, इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि यह अन्तर्दृष्टि बुद्धि से बहुत ऊपर तथा बुद्धि से परे है।

यह अपरोक्षानुभूति अथवा अन्तर्दृष्टि कोई नई चीज नहीं है, भारत के ऋषि, मुनि, साधु, संत, योगी तथा कवि अपनी निर्विकल्प समाधि के क्षणों में प्राचीन यूनान के रहस्यवादी तत्त्व द्रष्टा प्लाटिनस (Plotinus), मध्य-कालीन योरुप के रहस्य वेत्ता (Mystics), राईजब्रीक (Ruysbroeck), ऐकहार्ट (Eckhart) आदि, इस्लाम के सूफी, इब्नल-अरबी, अल गज़ाली आदि, भिन्न भाषाओं एवं शब्द वस्त्रों में, उसी नित्य, शाश्वत दर्शन (Philosophia perennis) को *व्यक्त करते थे, जिसका उल्लेख मध्य कालीन भारत* के आदि संत कबीर ने किया है —

> "जल, थल, पृथ्वी गगन में, बाहर, भीतर एक
> पूरन ब्रह्म कबीर है, अवगत पुरुष अनेक।"

आधुनिक भारत के रहस्यवादी,—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जयशंकर प्रसाद आदि—समकालीन शिक्षा प्रणाली की बौद्धिक भूल भुलैयों से भागकर इसी असीम, अनन्त तत्त्व का आलिंगन करना चाहते थे, और उनकी यह प्रेरणा या तीव्र वेदना कविता के रूप में स्फुरित हुई। आत्म साक्षात्कार की अभिलाषा एक कोरा अमूर्त प्रत्यय अथवा बौद्धिक विचार ही नहीं है, वह एक गम्भीरतम संवेग है, काश्‍ा कि यह अलबेले छैले यह उद्भ्रान्त प्रेमी उसी अनन्त हिरन की कस्तूरी की सुगंध का, कुछ पहिले ही से आभास पाकर, सब से आगे बढ़कर, मस्ती की दशा में, उसी के पीछे दौड़ रहे थे।

लाक्षणिक एवं व्यजनात्मक भाषा —

इस आत्म-अभिव्यक्ति की शैली भी, इस काल के लिये, निराली थी। वैसे तो ससार भर के समस्त रहस्यवादी तत्त्व-द्रष्टा अपनी गंभीर अनुभूतियों की अभिव्यक्ति, अद्भुत कथाओं, आख्यानकों, रूपकों, उपमाओं, गूढ सकेतों, मुद्राओं, अनोखे चिन्हों व लक्षणो द्वारा ही करते आये हैं, और आधुनिक काल के कुछ पाश्चात्य व्यजनात्मक (Symbolists) कलाकारों तथा जे० एस० इलियट (J. S. Eliot) के समान कवियों ने भी लाक्षणिक तथा व्यजनात्मक भाषा द्वारा ही अपने कोमल सत्यों और वास्तविक कल्पनाओं को व्यक्त किया है; किन्तु, इस काल के हिन्दी साहित्य में "प्रसाद" जी ही इस प्रयोग के अगुआ थे; फलतः बौद्धिक प्रत्ययों से लदी हुई हिन्दी कविता के पुजारियों ने प्रसाद जी की लाक्षणिक तथा व्यजनात्मक भाषा में एक, निराली शैली के दर्शन किये। हृदय की अ तर्तम उद्वेगों व उद्गारों, मन की तीव्रतम भावनाओं व स्वप्नों, चित्त के पुराने से पुराने सस्कारों व मूल्यों और अहकार की जोरदार प्रेरणाओं के अन्तर्तम रहस्य अर्थात् असीम की ससीम की ओर तथा सान्त की अनन्त की ओर दौड़ या झपट की अभिव्यक्ति ऐसे लाक्षणिक सकेत व शब्द वल्लों द्वारा हुई, जिनमें पूजा की सामग्री जैसी सुगन्ध और पवित्रता थी।

समय का बदला (Revenge)

पर भौतिक व आर्थिक समस्याओं—दाल रोटी की भूख व नङ्गापन ढाकने का माँग,—बौद्धिक आवश्यकताओं,—ज्ञान व प्रकाश की जिज्ञासा—तथा वैज्ञानिक पद्धतियों और साधनों और सामाजिक आवश्यकताओं की अवहेलना देर तक नहीं की जा सकती है। इस कारण, अन्त में भौतिक जीवन और विज्ञान ने इन विद्रोहियों से बदला लिया, फलतः इनकी कविता देवी पकड़कर रकम बनाने वाले प्रकाशकों और पुस्तक विक्रेताओं व कारागारों में कैद कर दी गई अथवा परीक्षाओं की तैयारी करने वाले छात्रों के सहायक ग्रंथों में बाँध दी गई; छायावाद का यह विद्रोह समाप्त हो गया, और कला प्रेमी नये मार्गों की खोज में तथा नई प्रगतियों की ओर आगे बढने लगे।

प्रसाद की कविता

सामान्य परिचय तथा क्रमिक विकास का संकेत

[प्रो० परमानद श्रीवास्तव एम० ए०]

आधुनिक हिन्दी (खड़ी बोली) काव्य को चरम विकास की ओर प्रेरित करने वाले कवियों में अग्रगण्य कवि प्रसाद छाया-रहस्ययुग के भाव प्रधान तथा प्रतिनिधि कवि हैं अत उन्हें कोई आधुनिक हिन्दी कविता का जनक कहे तो अनुचित नहीं, पर अविस्मरणीय है यह कि उनकी यात्रा का आरंभ ब्रजभाषा की सीमाओं में हुआ। हाँ, यात्रा का उद्देश्य था शुभ, और महत्त्वपूर्ण[1]—इसलिए 'काननकुसुम करुणालय' 'महाराणा का महत्त्व' आदि कविताओं की लघु भाव परिधि को पार कर कवि का 'प्रेमपथिक' 'झरना' बन कर फूटा, आत्माभिव्यक्ति के बिन्दु पर अभिलाषाओं सपनों को वाणी दी, 'आँसू' में धुल कर निखरा[2] और संवेदना के धरातल पर मानव जीवन का यह सत्य पहचाना जो जीवन के विषाद कटकों में प्रसूनवत् लहलहाता है, प्रेम सौंदर्य का आनन्द तत्व लेकर आदोलित होता रहता है, 'लहर' में आत्म पूर्ण की करुणा (जो व्यापक मानवता का अनिवार्य अंग है) बनकर गूँजा और 'कामायनी' में समरस जीवन-यात्रा को आन दपूर्ण कथा के व्याज से उसने व्यापक मानवता की पथ यात्रा को मानव-परिवेश के समस्त अन्त बाह्य उद्वेलनों के सन्दर्भ में व्यापक अभिव्यक्ति देने की चेष्टा की। इस सम्पूर्ण काव्य विकास के क्रमिक संकेत इन बिन्दुओं में देखे समझे जा सकते हैं:—

---

१ इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन मे टिक रहना
किन्तु पहुचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं—

२. अब छटता नहीं छुड़ाये
रग गया हृदय है ऐसा
आसू मे धुला निखरता
यह रग अनोखा कैसा।

'आसू' से उद्धृत।

विकास के प्रारम्भ में — काननकुसुम, 'महाराणा का महत्त्व', 'करुणालय' (भावनाट्य) 'प्रेमपथिक' तथा 'झरना'।
विकास के मध्य-काल म — आसू और 'लहर'
अन्तिम दशों में — कामायनी।

इन बिन्दुओं म क्रमशः भाव-परिधि का विस्तार और रूपगत परिष्कार होता गया है। यहाँ संक्षेप में हम विकास क्रम को लक्ष्य कर सकते हैं। कवि के कृतित्व की भावगत एवं शिल्पगत विशेषताओं को समझने की यह एक भूमिका मात्र है।

'झरना' तक की रचनाओं में प्राचीन काव्य परम्परा का मोह मिलेगा—वही शिथिल पद विन्यास आरोपित अलकरण नई अर्थव्यंजना का अभाव, और कथ्य कभी विनयमात्राच्छादित मिलेगा, कभी प्रकृति वधू के परिवेश या पुराण-युग के पथ चिन्हों तक सीमित। पर धीरे धीरे अशक्त प्रयोग लुप्त होते गये हैं और झरना में तो आगे की सम्पन्नता की भूमिका प्रकट होती हुई दीख पड़ती है।

'काननकुसुम तथा 'झरना' का अन्तर निम्नाकित टुकड़ों म स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। पहले म अशक्त पदावली है, कथ्य सामान्य तथा दूसरे में नूतन उपमान है, नई कल्पना सृष्टि है तथा कथ्य विशेष है—

१ जब प्रलय का हो समय ज्वालामुखी निज मुख खोल दे,
सागर उमडता आ रहा हो, शक्ति साहस बोल दे।
हम हों कही इस लोक मे, उस लोक मे, भूलोक में,
तव प्रेम पथ मे ही चलें, हे नाथ! तव आलोक मे।
—काननकुसुम, याचना पृष्ठ ४४, ४५

२ किरण! तुम क्यो बिखरी हो आज, रंगी हो तुम किसके अनुराग
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश मधुर मुरली-सी फिर भी मौन
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना दूती-सी तुम कौन
सुदिन मणि वलय विभूषित उषा सुन्दरी के कर का संकेत''
—झरना

'धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश' में अमूर्त को मूर्त योजना है और किरण की सांकेतिक (Suggestive) अभिव्यक्ति 'रमणीयार्थ प्रतिपादिक शब्दः

६

काव्यम्' की उक्ति को चरितार्थ करती है। यहाँ अभिव्यक्ति अलङ्कृत होकर भी भावप्रवण तथा व्यंजनात्मक अत मार्मिक है।

आरंभिक काल की रचनाओं की दृष्टि से 'झरना' विशेष पद चिन्ह है इसमें सन्देह नहीं। पर यहाँ अस्थिरता, असंयम, उद्वेलन की भीड़ म कवि ने आत्म सत्य को युग सत्य से तदाकार नहीं कर पाता। सुमन जी की रूपमानी शब्दावली में "झरना को देखकर उस गुलदस्ते की याद आती है जिसमें जूही और रजनीगंधा, गुलाब और मन्दार कुसुम एक साथ लगे हुए हैं और जहाँ सरो का एक गुच्छा है तो नीम की पत्तियों का भी चयन है।[1] सच तो यह है कि 'झरना' में किशोर वय की आशा यौवन की देहलीज पर खड़ी खड़ी सपनों का आकलन करती हुई शब्दों म दृश्य अदृश्य को बाँधने की चेष्टा करती है। कवि ने —

> किसी हृदय का यह विदार है छेड़ो मत यह सुख का कण है
> उत्तेजित कर मत दौड़ाओ यह करुणा का थका चरण है—

कह कर भावावेग को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है।

विकास काल की कृति 'आँसू' का भावपट सौन्दर्याकर्षण, प्रणयभावना तथा विरहानुभूति से निर्मित है। किन्तु सौंदर्य प्रेम, विरह तीनों कथ्य को एक ही बिंदु पर छूते तथा व्यंजित करते हैं, अत इसे चाहे तो कोई 'एकार्थकाव्य' कह सकता है। कथा का क्रम संयोजन अबाध है यद्यपि अधिकतर छन्द पूर्वापर सम्बन्ध मुक्त होकर स्वतन्त्र बन पड़े हैं। आँसू में विरह की प्रधानता के कारण इसे विरह काव्य और विरह के मूल में स्मृति की टीस व्याप्त होने से इसे स्मृति काव्य की संज्ञा भी दी गई है।

आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल का कथन है "आसू मे अभिव्यञ्जना की प्रगल्भता और विचित्रता के भीतर प्रेमवेदना की दिव्यविभूति का, विश्व के मंगलमय प्रभाव का, सुख और दुख दोनों को अपनाने की उसकी अपार शक्ति का और उसकी छाया में सौन्दर्य और मंगल के संगम का भी आभास पाया जाता है।"[2] कहना न होगा 'आसू' की वियोग भूमि के परिपार्श्व में तीन दाह एवं पीड़ा व्याप्त है जो धीरे धीरे कल्याण कामना में गूँजती हुई स्थिर उदात्तता ग्रहण करती है। अतीत वैभव की छलना को पहचानते हुए भी कवि उसकी

१. श्री रामनाथ 'सुमन' कवि प्रसाद की काव्य साधना
२. पं० रामचन्द्र शुक्ल ' हिन्दी साहित्य का इतिहास

सचाई जानने को आकुल है। रूप, सौन्दर्य, वैभव के अगणित चित्र आँखों में तिरते हुए निकल जाते हैं—

× × ×

शशि मुख पर घूँघट डाले
अंचल में दीप छिपाये
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आये।

बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से ?

× × ×

काली आँखों में कितनी यौवन के मद की लाली,
मानिक मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली।

× × ×

और कवि अपने विभ्रम पर पर्दा न डालते हुए कहता है—

छलना थी तब भी मेरा
उसमें विश्वास घना था
उस माया की छाया में
कुछ सच्चा स्वर्ग बना था

तत्वदान की दृष्टि से ये अंश उल्लेख्य हों पर 'आँसू' का कवि उभर कर तब आता है जब सुधियों के क्षण कवि के मन में डोलते हुए उसे निषाद के 'बान' से लगते हैं। यों कभी कभी तो कवि मन स्मृति के मधुवर्षण से ओस कण सा भीग कर ही रह जाता है।

अतृप्ति एवं लालसा के डोरे 'आँसू' की भावभूमि में इधर से उधर तक खींचे हुए हैं। परिरम्भ की मादक स्मृति अतृप्ति की भावना को और उभार कर व्यक्त करती है। सम्भोग शृंगार की अबाध अभिव्यक्ति 'आँसू' में मिलती है यद्यपि उसे सूक्ष्म दृश्ययोजना का आवरण देने का प्रयत्न भी लक्षित होता है। हाँ, 'वियोग' की पृष्ठभूमि में वे सहायक उपकरण जैसे हैं—सम्भोग के चित्र हों, स्मृति की टीस हो, अतृप्ति भावना हो या आकुल लालसा।

प्रकृति और काव्य का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। काव्य चेतना के स्फुरण में प्रकृति का विशेष महत्त्व है। प्रकृति कवि को रिझाती खिझाती भी है और समदुःख भोगिनी बन कर भी आती है। 'आँसू' की ही इन पंक्तियों में देखें—

× × ×

व्याकुल उस मधु सौरभ से	क्यों छलक रहा दुख मेरा
मलयानिल धीरे-धीरे	ऊषा की मृदु पलकों में
निश्वास छोड़ जाता है	हाँ उलझ रहा सुख मेरा
अब विरह तरंगिनि तीरे।	सन्ध्या की घन अलकों में

निस्सन्देह प्रकृति के मधु संस्पर्श से उठे हुए छायाचित्रों का सौंदर्य 'आंसू' का विशेष आकर्षण है।

प्रसाद की कविता में नियति भावना का विशेष महत्त्व है। पर उनकी नियतिभावना तथा कथित भाग्यवाद या प्रारब्धवाद से भिन्न है। यह पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "वैयक्तिक है। किसी प्रमाणगत सिद्धांत की प्रतिरूप मात्र नहीं है।"[1] प्रसाद नियति की कल्पना बृहत्तर शक्ति के रूप में करते हुए उसे सचेतन प्रकृति का कार्य कलाप मानते हैं। 'आंसू' में यह नियति भावना यत्र तत्र अपना आभास देती है—

+ + +

नचती है नियति नटी-सी[2]	संकेत नियति का पाकर
कन्दुक क्रीड़ा सी करती	तम से जीवन उलझाये
इस व्यथित विश्व आँगन में	जब सोती गहन गुफा में
अपना अतृप्त मन भरती	चंचल लट को छिटकाये

आंसू में विषाद भावना बड़ी तीव्र है। कवि का आराध्य उसके अन्तर के आकाश में विद्युत् सदृश छवि की झलक मात्र दिखा कर अदृश्य हो जाता है—इन्द्रधनुषा स्मृति का रंगीन मकरन्द मेघमाला सी रह जाती है। कवि की आँखों में शून्य नीरवता है, सूना तट है, पदचिन्हों से शून्य प्रत्यावर्तन पथ है और कवि अकुला कर पूछ ही तो उठता है—

नाविक इस सूने तट पर किन लहरों में खे लाया,
इस बीहड़ बेला में क्या अब तक था कोई आया।

कवि की जिज्ञासा इस बिन्दु पर आ टिकती है : क्या कलियों के लघु

---

१. आधुनिक साहित्य पृष्ठ, ६५
२. नियति की नटी के रूप में अन्यत्र भी कल्पना की गई है—

नियति-नटी सी आई सहसा गगन में
तड़ित विलास सी नचाती भौंह अपनी।

लहर, पृष्ठ ६३

जीवन परिधि की यही शोभा है कि वे मकरन्द पूरित खिलें, और वे मन की तोड़ ली जायें।

यदि दो घड़ियों का जीवन कोमल वृन्तों में बीते,
कुछ हानि तुम्हारी है क्या चुप चाप चूपड़े जीते।

और फिर, तत्त्व ज्ञान का छायाएँ भाव-पट को आच्छादित कर लेती हैं, जीवन का निविड़ मथ छन कर जैसे इन पंक्तियों में व्यक्त हो उठता है—

दुख सुख से उठता गिरता	मानव जीवन वेदी पर
सत्वर तिरोहित होगा	परिणय हो विरह मिलन का
मुड़कर न कभी देखेगा	सुख दुख दोनों नाचेंगे
किसका हित अनहित होगा	है खेल आँख का मन का

भाव ने इसी विकास क्रम को लक्ष्य कर विनय मोहन शर्मा लिखते हैं—'आँसू' में पहले उठते यौवन की मादकता—बेचैनी, फिर प्रौढ़ता का चिन्तन और अन्त में ढलती वायु का निर्वेद दिखलाई देता है।[1] और प्रकारान्तर से आँसू के मुक्तक तत्व को स्वीकार करते हुए भी उसकी प्रबन्धशृंखला की ओर संकेत करते हैं।

'आँसू' में अभिव्यंजना का सौन्दर्य कम नहीं है और भावयोजना भी अत्यन्त समृद्ध है। यों तो भाव लहरियों को संज्ञाओं में सीमित करना कठिन, प्रायः असम्भव सा है फिर भी शास्त्रीय संज्ञाओं की सीमा में भी पर्याप्त उदाहरण आँसू में दिये जा सकते हैं। स्थल स्थल पर मोह, स्मृति, ग्लानि, चिन्ता, व्रीड़, दैन्य, धृति आदि संचारियों का योजना है। इसी प्रकार यत्र तत्र सात्विक या अयत्नज तथा कायिक अनुभाव-योजना भी दिखाई पड़ती है। इनकी चर्चा पृथक् रूप से की जायगी अतः यहाँ उल्लेख मात्र किया गया है।

'आँसू' का कवि रूप अरूप, दृश्य अदृश्य, प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष को एक ही बिन्दु पर छूता है। जिस रचना के स्पर्शहीन अनुभव[2] से कवि के मन प्राण स्पन्दित हो उठे हैं उसी ने लोलकटाक्ष पान का यह चित्रण देखिये—

१. विनय मोहन शर्मा : कवि प्रसाद आँसू तथा अन्य कृतियाँ

२ तुम स्पर्शहीन अनुभव सी
नन्दन तमाल के तल से
जग छा दो श्याम लता सी
तन्द्रा पल्लव विह्वल से
—'आ

नीलिमा शयन पर बैठी
अपने नभ मे आंगन मे
विस्मृति की नील नलिन रस
बरसो अपांग के घन से।

'आँसू' की भावभूमि का सिंहावलोकन करते हुए शचीरानी जी ने इस कथन में औचित्य ही दीखता है "ठीक जिस परिस्थिति में गेटे द्वारा वेर्टर की रचना हुई उसी परिस्थिति मे 'आसू' लिखा गया। किन्तु वेर्टर म धधकती अग्नि सुलग रही है जिसकी आँच दूसरों को भी दग्ध करती है और आसू में शीतल ज्वाला है जिसका धुआ अन्दर ही अन्दर उठ कर रम जाता है। वेर्टर मे प्रचण्डता है दाह है 'आसू' म रोदन और करुणा, वेर्टर में मस्तिष्क की आधी तूफान बनकर प्रकट हुई है—'आसू' में प्रशात भावधारा अश्रुकणों मे बिखर कर फूट पड़ी है।[1] पर इससे कतई यह निष्कर्ष नहीं ग्रहण करना चाहिए कि 'आसू' पर गेटे की किसी कृति का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव है।

अन्य कृतियों की अपेक्षा 'आसू' में अभिधा से कम काम लिया गया है—अलङ्कृति से विशेष। एक से एक अद्भुत अछूती उपमाएँ हैं—लक्षक व्यंजक उक्तियां हैं। कभी स्थूल के लिए सूक्ष्म, कभी सूक्ष्म के लिए स्थूल, कभी सूक्ष्म के लिए सूक्ष्म, स्थूल के लिए स्थूल उपमान प्रयुक्त हुए हैं—कभी मूर्त के लिए अमूर्त या अमूर्त के लिये मूर्त योजना की गई है। एक दो उक्तियों में इस विशेषता को लक्ष्य कर सकते हैं (और पूर्व कृतियों की तुलना में देखें तो क्रमश विकसित होते हुए शिल्प को समझ सकते हैं)—

१ जीवन की जटिल समस्या
है बढ़ी जटा सी कैसी
२ तिर रही अतृप्ति जलधि मे
नीलम की नाव निराली
कालापानी वेलासी, है
अजन-रेखा काली

'आसू' को छायावादी गीति-परम्परा की प्रतिनिधि कृति स्वीकार करने से पूर्व छायावादी प्रवृत्ति को समझ लेना चाहिए। संक्षेप में छायावाद में एक ओर कवि "अनन्त एव अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा

१. साहित्य दर्शन शचीरानी गुर्टू

में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यञ्जना करना है।[२]" दूसरी ओर छायावाद शब्द से काव्य की पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ का बोध होता है। इसके अन्तर्गत प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत योजना, चित्र, भाषा, शैली तथा प्रतीक विधान आदि आते हैं। कहना न होगा, 'आसू' में छायावाद की प्रवृत्ति के दोनों छोर दीख पड़ते हैं। यो आसू का रहस्य भावना के बजाय लौकिक प्रेम भावना को प्रमुखता दें तो प्रकृत अर्थ ग्रहण म सुविधा ही होगी।

छायावादी काव्यभूमि व्यक्तिनिष्ठ होती है। वस्तु जगत् (objective) से समझौता करने में असमर्थ वह अन्तर्जगत् या कल्पना लोक के विशेष समीप होती है। 'आसू' म इस व्यक्तिपरक भाव भूमि का प्रत्यक्ष आभास मिलता है। पर सच पूछिए तो यहाँ दिव्य-पार्थिव का अपूर्व सयोग है जिसे लक्ष्य कर शुक्ल जी ने लिखा है '*आसू है तो वास्तव में विप्रलम्भ शृंगार के जिसमें अतीत सम्भोग सुख की खिन्न स्मृतियाँ रह रह कर झलक मारती हैं पर जहाँ प्रेमी की मादकता की बेसुधी में प्रियतम नीचे से ऊपर आते और सत्ता की दशा म चले जाते हैं जहाँ हृदय तरंगे उस अनन्त कोने को नहलाने लगती हैं वहाँ वे 'आसू' उस अज्ञात प्रियतम के लिए बहते जान पड़ते हैं।*"[३]

सभी दृष्टियों से 'आसू' कृति का प्रसाद के कृतित्व के बीच ही नहीं सम्पूर्ण हिन्दी कविता के बीच महत्वपूर्ण स्थान है। 'आसू' की प्रगीत-सृष्टि अपने आप में आधुनिक हिन्दी काव्य का विशेष पथचिन्ह है। दार्शनिक छाया सकेतों के बावजूद यह कृति प्रणय भावना के उद्देश को सफल पूर्वक निभा सकी है और "नए काव्यामरण का योग पाकर युग की एक प्रतिनिधि कृति हो गई है।"[४]

'आँसू' के पश्चात 'लहर' में प्रसाद का कवि निराशा के बीच आशा[५] और सघर्ष के बीच शांति के तत्व ढूँढता हुआ आनन्द साधना की ओर उन्मुख होता है शैशव और-यौवन की स्मृतियों से विधा होने पर भी कवि निष्क्रिय पगु न होकर विश्वास एव आशा के लिए पथ प्रशस्त करता है।

यों, एक ओर 'लहर' का कवि वस्तुगत यथार्थ के अभिशाप से खिन्न कल्पना का क्षितिज छोर पकड़ने को आतुर दीखता है—

---

२ इतिहास : शुक्ल जी

३. " "

४. आधुनिक साहित्य : नन्ददुलारे बाजपेयी—पृष्ठ २८।

५ 'जवा कुसुम सी उषा खिलेगी मेरी लघु प्राची मे!' 'लहर'

ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे
जिस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे

और अधीर यौवन की स्मृतियों से विकल अतीत चिन्तन की कड़ियाँ सँजोता हुआ उद्वेग को इस प्रकार व्यक्त करता है—

आह रे वह अधीर यौवन !
अधर में वह अधरों की प्यास
नयन में दर्शन का उल्लास
धमनियों में आलिङ्गनमयी
वेदना लिए व्यथाएँ नई—
..
वही पागल अधीर यौवन !

जैसे सपनों का देश आँखों में छा उठा हो—सुकुमार स्निग्ध सनेमों के बादल मन में घिर आये हों—

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे !
जब सावन घन सघन बरसते इन आँखों की छाया भर थे।
प्राण पपीहा के स्वर वाली, बरस रही थी जब हरियाली
इस जलकन मालती मुकुल से जो मदमाते गंध विधुर थे।

अतृप्त सौन्दर्यलालसा कवि के भाव क्षितिज पर घिरी हुई है और 'लहर' की प्रगीत भावना के अनुकूल अभिव्यक्त होती है। पर एक प्रकार का अन्तर्मुखी भाव संवेदन अभिव्यक्ति को नया आकार, नया अर्थ देता है। इसी कारण, दूसरी ओर 'लहर' का कवि अपने भाव क्षितिज का विस्तार चाहता है—कर्म की प्रेरणा, कल्याण की कामना तथा औदार्य भावना का ऐसी रचनाओं में प्रचुर योग है।

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ,
इसमें क्या है धरा सुनो
मानस जलधि रहे चिर चुम्बित
मेरे क्षितिज, उदार बनो—

इन शब्दों में कवि की औदार्य भावना प्रकट है। इसी प्रकार 'अब जागो जीवन के प्रभात' आदि रचनाओं में कवि की जागरण भावना कर्म की ओर प्रेरित करती है। 'बीती-विभावरी जाग री' इस गीत को तो युग-चेतना का प्रतीक ही कहा गया है।

'लहर' में 'आँसू' की एकसूत्रता के विपरीत भाववैविध्य है। क्योंकि, एक तो 'लहर' कवि की स्फुट कविताओं का संग्रह है। दूसरे कवि के भाव विभिन्न प्रकार के साथ सत्य के बहुरंगी स्वरूपों से उनका साक्षात् भी हुआ है। प्रेम यौवन की मर्ममयी स्मृतियों से लेकर उद्बोधन जागरण के गीतों तक एक लम्बी राह है जिसके बीच 'ओ सागर संगम अरुण नील' जैसे कवित्व गान 'प्रसाद' की पुरी-यात्रा के स्मृतिचिन्ह हैं—'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' और 'प्रलय की छाया' नामक आख्यानक गीतियाँ हैं—कलिंग विजय में भीषण नरसंहार दर्शन के उपरान्त विरक्त हुए सम्राट 'अशोक की चिन्ता' का चित्रण है—

मूलगन्धकुटी विहार के उत्सव में लिखे गए 'जगती की मंगलमयी उषा बन करुणा उस दिन आई थी' आदि गीतों में—तथागत के स्मरण व्याज से कल्याण भावना की अभिव्यक्ति है।

कला की दृष्टि से भी 'लहर' की रचनाओं का अपना महत्त्व है। उपयुक्त शब्द चयन, चित्रोपमता, स्वच्छन्दता तथा संगीत—आदि अनेक विशेषताएँ सहज सन्तुलन से अनुप्राणित मिलेंगी मानों भावकल्प को जो पैठ कवि के मानस में है वही रूपविधि की छाया में भी मूर्त हो उठी है। छायावादी कवि का अन्तर्मुख भाव-संवेदन अपनी नैसर्गिक अभिव्यक्ति गीतों में ही पाता है जिसमें आत्मनिष्ठ अनुभूति तथा अभिव्यक्ति अनिवार्य शर्त होती है। 'प्रसाद' इसके अपवाद नहीं हैं। 'लहर' की प्रगीत सृष्टि अपूर्व, मोहक एवं अत्यन्त प्रभविष्णु बन पड़ी है।

नयी उपमान-योजना का एक उदाहरण लें—

खींच से चला है
हाथ धीवर अनत में
जाल, सफरी सी भटकी है किसी
माया में ………………

इसी प्रकार, 'जगा कुमुद सो उषा बिलेगी मेरी लघु प्राची में' तथा 'कालिमा बिखरती है संध्या के कलंक सी' आदि खंड पंक्तियों में नया उपमान सौन्दर्य द्रष्टव्य है। 'लहर' की बड़ी रचनाओं में चित्रण की रेखाएँ अत्यन्त स्पष्ट हैं—इनमें मनोविज्ञान तथा कला का अपूर्व योग है।

संक्षेप में, 'लहर' की काव्यभूमि व्यापक है—कवि का भाव क्षितिज विस्तृत है और कवि-मन की सहानुभूति 'जले जगत्' के वृन्दावन बन जाने की कामना करती हुई आनन्द की चेतना को एक पग आगे बढ़ाती है।

'कामायनी में यही आनन्द की चेतना पुष्ट विकसित एवं सुस्थिर होती हुई जीवन दर्शन की स्पष्ट व्याख्या बन जाती है। 'कामायनी' व्यापक मानवता की विजय यात्रा को वहाँ पहुँचाती है जहाँ कोई कुतूहल, द्वन्द, विभ्रम, भ्रांति, कटुता, जलन निषेध या अनास्था शेष नहीं है। पारदर्शी शैली का जीवन व्यापार रूपक-प्रतीकों में यों मूर्त हो उठा है कि यद्यपि प्रसाद का कथन है—"मनुश्रद्धा इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं [1] और रूपक योजना को वे भावमय एवं श्लाघ्य मानते हुए भी गौण महत्व ही देते हैं पर कथा क्रम में रूपकों में निहित सांकेतिक अर्थ ही पूर्ण, प्रधान, एवं अभीष्ट प्रतीत होते हैं।

अतीत संस्कृति के सन्दर्भ में नवीन वैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन कृति को अभिनव महत्व प्रदान करता है। मूल मानव प्रकृति के परिज्ञान के लिए कवि मनु और श्रद्धा की कहानी कहता है जो क्रमशः देवसृष्टि के ध्वंस प्रतीक तथा काम की संतति हैं।

'कामायनी' की कथा शास्त्रीय दृष्टि से सर्गों में विभक्त है, यद्यपि प्रचलित शास्त्रीय बन्धनों की स्पष्ट उपेक्षा कवि की स्वच्छन्द वृत्ति का परिचय देती है। सर्गों के नामकरण से एक बात निश्चित रूप से ज्ञात होती है कि कथा के क्रम-विकास में मनोविज्ञान का आद्यांत निर्वाह है। फिर भी काव्य सौन्दर्य तथा भावसंवेदन में कहीं शिथिलता नहीं आ सकी है।

देव सृष्टि के ध्वंस के मूल में कहना न होगा उच्छ-विलास की अति-वादिता थी जब उन्मत्त विलास की छलना में लीन देवगण सुगन्ध आपूरित देवांगनाओं के उषः कालीन ज्योत्स्ना सदृश यौवन लहरों में खो चुके थे। मनु का चिन्तन क्रम इसी अतीत सुख की कड़ियों के स्मरण से आरंभ होती है और वे अकुला उठते हैं। आज तो रीता अवसाद मात्र रह गया है।

गया, सभी कुछ गया मधुरतम
सुर बालाओं का शृंगार
उषा ज्योत्स्ना सा यौवन स्मित
मधुप सदृश निश्चिन्त विहार

१. आमुख—'कामायनी'

सुखमय विलास जीवन का यह दुखद अन्त देखकर मनु का हृदय उद्विग्न हो उठता है और मनु अतीत क्षणों में चिंतनलीन हो विषाद की हथेलियों पर माथा टिका देते हैं। प्रथम सर्ग 'चिन्ता' में मनु के समक्ष यही चिन्तन प्रश्नचिन्ह सा उपस्थित होकर रह जाता है। निस्सन्देह, चिन्ता अभावमूला-वृत्ति है—

हे अभाव की चपल बालिके
री, ललाट की खल लेखा
हरी भरी सी दौड़ धूप ओ
जल माया की चल रेखा

छूटे आकारों की तरह मनु के हाथों से सारा सुख ऐश्वर्य चला गया—रह गई स्मृति की एक टीस, जो विगत छवियों को और उभार कर प्रस्तुत करती है। रूप यौवन की अंग भंगियों का इतना मादक एवं श्लिष्ट वर्णन अन्यत्र नहीं मिलेगा—

यह अनंत पीड़ा अनुभव सा — सुरा सुरभिमय वदन अरुण वे
अंगभंगियों का नर्त्तन — नयन भरे आलस अनुराग
मधुकर के मरंद उत्सव सा — कल कपोल था जहां बिछलता
मदिर भाव से आवर्त्तन — कल्पवृक्ष का पीत पराग।

इसी वैभव की प्रतिक्रिया में उपस्थित प्रलय दृश्य की विभीषिका मनु को विक्षुब्ध बना देती है। वर्ण्य वस्तु की उग्रता का वर्णन भी प्रसंगानुकूल है—

दिग्दाहों से धूम उठे — पंचभूत का भैरव मिश्रण
या जलधर उठे क्षितिज तट के — शंपाओं के शकल निपात
सघन गगन में भीम प्रकंपन — उल्का लेकर अमर शक्तियां
झंझा के चलते झटके — खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।

यह वैषम्य देखकर मनु को अस्तित्व में ही सन्देह होने लगता है। कभी-कभी तो वे सोचते हैं। क्या अनस्तित्व ही सच है। और अमरता के ध्वंस द्रष्टा मनु को जीवन मिथ्या पर टिका हुआ प्रतीत होने लगता है जैसे जड़त्व ही यथार्थ हो। धीरे धीरे भीषण जलसंघात वाष्पवत् उड़ता जाता है और प्रलय निशा प्रात में परिणत होगी, ऐसी सम्भावनाएं उभरने लगती हैं। यही आशा की पृष्ठ भूमि है। आशा चिंता का ही शुक्ल पक्ष है। और, कवि प्रसाद ने आशा का भी नाम लिखा है 'बुद्धि मनीषा, मति आशा चिंता तेरे हैं कितने नाम'। दूसरे शब्दों में चिंता को आत्मचेतना भी कह सकते हैं।

चिंता के पश्चात जीवन को आगे बढाने वाली दूसरी शक्ति है—यह आशा—जिसके संस्पर्श से मनु की आत्महीनता एवं विषाद भावना समाप्त हो जाती है। आशा के स्फुरण के लिए अरुणोदय की उषःश्री वर्णन की योजना की गई है और आशा को निरामोत्तर वृत्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। आरम्भ के छन्दों में ही देखें—

(शुद्ध नहीं भावाश्रित प्रकृति चित्रण)

उषा सुनहले तीर बरसती
जय लक्ष्मी सी उदित हुई
उधर पराजित काल रात्रि भी
जल में अन्तर्निहित हुई

(अलङ्कृत प्रकृति चित्रण)

नव कोमल आलोक बिखरता
हिम संसृति पर भर अनुराग
सित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग

मनु को धीरे धीरे विराट् के प्रति आकर्षण की प्रतीति होती है। रह रह कर नियामक सत्ता के प्रति जिज्ञासा होती है जो नवीन सृष्टि रचना के लिए नई रंग योजना का उपयोग करता सा प्रतीत होता है—

वह विराट था हेम घोलता
नया रंग भरने को आज
'कौन'? हुआ यह प्रश्न अचानक
और कुतूहल का था राज

जीवन में निष्ठा बनाये रखने वाली आशा नामक वृत्ति में एक ओर विराट का बोध है दूसरी ओर अपने अस्तित्व की स्वीकृति

मैं हूँ यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में
मैं भी कहने लगा मैं रहूँ
शाश्वत नभ के गानों में

यों कहना चाहिए कि आशा नियामक परम तत्व की आत्मप्रतीति के रूप में प्रस्तुत की गई है। विभिन्न विशेषणों में प्राणवायु सी जीवनदायिनी आशा को अभिव्यक्ति देने की चेष्टा लक्षित होती है:—

यह क्या मधुर स्वप्न सी झिलमिल
सदय हृदय मे अधिक अधीर
व्याकुलता सी व्यक्त हो रही
आशा बन कर प्राण समीर

किन्तु, एकाकीपन से मनु रह रह कर क्षुब्ध हो उठते हैं—वे प्रखर चाहते हैं—संकीर्ण घेरे की कटा उनमें आत्महीनता का भाव जगाती है और वे इस निष्प्रयोजन के जीवन से ऊब जाते हैं। रह रह कर यह प्रश्न उनके समक्ष आ खड़ा होता है —तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी जीकर क्या करना होगा ?

होता यों है—कि मनु के देवी संस्कार फिर जागते हैं। आहुति की नई धूम गन्ध से वन कानन सुरभित हो उठता है और मनु सोचते हैं —क्या जाने कोई और भी उन्हीं की भाँति जीवन लाला रचे हुए रह गया हो निःशेष न हुआ हो। इस मधुर अनुमान की प्रेरणा से वे अवशिष्ट अन्न रख आते हैं और अनिश्चित भविष्य के माया व्यामोह के प्रति आकृष्ट होते हैं। पर अहेतुक निरुद्देश्य चिन्तन की रेखाओं से वे सर्वथा मुक्त नहीं हो पाते—मनु का मन था विकल हो उठा—

संवेदन से खाकर चोट
संवेदन! जीवन जगती को
जो कटुता से देता घोंट

बाह्य चिन्तन एवं आत्मानुभूति के संघर्ष में पिसे हुए मनु अकुलाकर प्रश्न कर उठते हैं—'कब तक और अकेले कह दो हे मेरे जीवन बोलो'। 'आशा' के सर्गान्त में निशा सूक्त है जिसके व्याज से माधुर्यानुभूति तथा उसके विद्रूप की अभिव्यक्ति की गई है। मनु की कामना जैसे ही गगन के विधु तट पर अभिलाषाओं के पूर्णार्थ दीपदान करने आती है तमिस्रा की काली छायाएँ उसका उपहास करती हुई घिर जाती हैं—

जब कामना सिन्धु तट आई
ले संध्या का तारा-दीप
फाड सुनहली साडी उसकी
तू हँसती क्यों अरी प्रतीप

विषाद द्वन्द्व का कुहरा श्रद्धा से साक्षात् से छँटने लगता है। उसकी उदार उन्मुक्त काया से प्रभावित मनु को लगता है। जैसे पहली बार उन्हें

स्वस्थ संतुलन दीख पड़ा हो। तीसरा सर्ग है श्रद्धा। जीवन विकास की मूल प्रेरणा इसी वृत्ति में अन्तर्हित है। श्रद्धा काव्य की नायिका है—रुचि के आशय को वही प्रसारित करती है। मनोविज्ञान की दृष्टि से नारी प्रतीक के रूप में तो वह है ही—नारी तुम केवल श्रद्धा हो— दार्शनिक दृष्टि से उसे शिव की स्वरूपा शक्ति के रूप में ग्रहण किया गया है और लौकिक में वह कामगोत्रजा है।

श्रद्धा और मनु एक दूसरे को देखकर परस्पर आत्मीयता का अनुभव करते हैं। मनु श्रद्धा को ससार सार के द्वार पर तरंगों द्वारा फेंकी हुई मणि सदृश लगाते हैं और श्रद्धा, मनु को प्रथम कवि के अभिनव छंद जैसी प्रतीत होती है। श्रद्धा के रूप[1] का नशा धीरे धीरे मनु की पलकों को छा लेता है और उसने श्रद्धा अनावृत रूप को देख वे अभिराम इंद्र जाल छाया में आ रहते हैं। श्रद्धा का अभिव्यक्त बाह्य रूप और अनभिव्यक्त आंतरिक व्यक्तित्व उसकी औदार्य भावना एवं कल्याण कामना को प्रमाणित करता था। अस्तु, उल्का से भ्रांत असहाय मनु को श्रद्धा वरदान की तरह मिलती है। 'श्रद्धा' सर्ग में ही मनु के प्रति उसका सन्देश साधना की लहर की तरह व्यक्त हो उठता है—

अरे तुम इतने हुए अधीर
हार बैठे जीवन का दाँव
जीतते जिसको मर कर वीर।

\+ \+ \+ \+

जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत की ज्वालाओं का मूल
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ भूल

१. श्रद्धा के रूप चित्रण का एक उदाहरण—
उषा की पहिली लेखा कांत
माधुरी से भींगी भर मोद
मद भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति की गोद

इस श्रद्धा के स्वरूप विकास की कड़ी 'काम' सर्ग तक जुड़ी हुई है। काम श्रद्धा का पिता है। वैदिक कल्पना के आधार पर उसे जीवन-विकास में उपयोगी तत्त्व स्वीकार किया गया है। काम स्पष्ट शब्दों में जीवन के मूल तत्त्व एवं रहस्य की व्याख्या करता है—

"यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म रंगस्थल है,
है परंपरा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है।[2]"

और मनु को अपनी संतति (श्रद्धा) सौंपते हुए उनसे स्पष्ट कहता है—

हम दोनों की संतान वही
कितनी सुन्दर भोली-भाली,
रंगों ने जिनसे खेला हो
ऐसे फूलों की वह डाली
उसके पाने की इच्छा हो
तो योग्य बनो... ..

आगे, श्रद्धा के सम्पर्क के बावजूद मनु उसका यथार्थ स्वरूप पहचान नहीं पाते अतः उनमें वासना की उद्दाम भावना जगती है और श्रद्धा में नैसर्गिक यौवन विकास के साथ लज्जा का सूत्रपात होता है। काम और लज्जा सर्गों में विशेष काव्यात्मकता है, अलक्षित अरूप माधुर्यानुभूति को विभिन्न रूपकों में स्पष्ट करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास किया गया है। 'लज्जा' सर्ग से एक दो उदाहरण लें—

\+ +

वैसी ही माया में लिपटी
अधरों पर उँगली धरे हुए,
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुए

\+ +

\+ +

छूने में हिचक, देखने में
पलकें आँखों पर झुकती हैं
कलरव परिहास भरी गूँजें
अधरों तक सहसा रुकती हैं

\+ +'

---

2. The world is a stage where everyman much play his part.

Shakespeare

लाली बन सरल कपोलों में
आँखों में अंजन-सी लगती
कुंचित अलकों सी घुँघराली
मन की मरोर बन कर जगती

मनु में वासना के पश्चात् कर्मभावना का उदय होता है—हिंसात्मक कर्मभावना का। कोमलता तक ही इस कर्म के सूत्र सकेत सीमित न थे—यज्ञ यज्ञ की कटु पुकार ने भी मनु को बेचैन कर रक्खा था। मनु की अतृप्ति उनके विवेक को ढक लेती है और वे धर्म की अतिवादिता में जकड़ जाने पर सोचने लगते हैं—

आकर्षण से भरा विश्व यह
केवल भोग्य हमारा
जीवन के दोनों कूलों में
बहे वासना धारा।

और वासना के उद्दाम वेग को जीवन का चरम सुख समझने लगते हैं।

फलत मनु की असहिष्णुता उनमें 'ईर्ष्या' भावना को जन्म देती है। उनकी प्रभुत्व कामना दूसरों के प्रति उन्हें अनुदार बनाती हुई उत्तेजना से भर देती है। मर्यादा का धागे व धन इस चिर मुक्त पुरुष को बाँध नहीं पाता। श्रद्धा को गर्भवती छोड़ वे चल देते हैं और सारस्वत प्रदेश में इड़ा (बुद्धि विज्ञान) से सम्पर्क स्थापित करते हैं। इड़ा उस लोक की सम्राज्ञी हैं, मनु सन्ना। पर चिर मुक्त पुरुष की सन्तुष्टि नहीं हो पाती। वे इड़ा को अंकशायिनी के रूप में देखने के लोलुप हैं। सहज साधन विज्ञान की छाया में आये थे आत्मविकास करने, जड़ता को चैतन्य बनाने—उसका यह विद्रूप। परिणामत प्रजा संघर्ष करती है। यहाँ भी श्रद्धा ही मनु की रक्षा करती है और जीवन में उचित सामञ्जस्य एवं सन्तुलन की प्रतिष्ठा करने के लिये प्रेरित करती है। यहीं से मनु का जीवन नई दिशा ग्रहण करता है।

निर्वेद सर्ग में वे श्रद्धा को सुहाग की अजस्र वर्षा एवं स्नेह की मधु रजनी के रूप में स्वीकार करते हैं और अपने को अभिशप्त कंकाल के रूप में पाते हैं जो खोखले पन में ही पाने की लालसा लिए भटकता है। मनु के अन्तस में ग्लानि की आंधी सी उठती है और वे पीड़ित से कह उठते हैं—

सब बाहर होता जाता है
स्वगत उसे मैं कर न सका
बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे
हृदय हमारा भर न सका,

दर्शन सर्ग में जाकर श्रद्धा की ही प्रेरणा से मनु को जीवन की मूल सार्थकता का ज्ञान होता है और आनन्द भावना की प्रतीत। रहस्य सर्ग में विडम्बना का मूल कारण उपस्थित किया गया है—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।

और 'आनन्द' नामक अन्तिम सर्ग में आनन्द चेतना की दार्शनिक सन्दर्भ में ही व्याख्या करते हुए श्रद्धा को 'मगल कामना' के रूप में स्वीकार किया गया है—

वह कामायनी जगत की
मगल कामना अकेली—

इस अखड आनन्द भावना म ही काव्य की सहज परिणिति है—

समरस थे जड या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनद अखड घना था।

इस प्रकार "कामायनी मनु और श्रद्धा की कथा तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक विकास सामजस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास भी है।[1]" बुद्धि की तथा विज्ञान की अतिवादिता सहज मानवता में बाधक है, इस सत्य को कवि ने सर्वथा नये सन्दर्भ म प्रस्तुत किया है, अतः मनु और श्रद्धा-इड़ा सर्वथा आधुनिक प्रतीक से लगते हैं। वृत्तियों की मनोवैज्ञानिकता अपूर्व काव्यात्मक कथात्मक परिधान पाकर नये अर्थ से सम्पृक्त हो उठी है जिसे लक्ष्य कर कहा गया है—"यहाँ मनोविज्ञान में काव्य और काव्य में मनोविज्ञान यहाँ एक साथ दिखाई देते हैं।" [2] प्राकृतिक भाव भूमि पर स्थिति होने

१. प० नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य
२. " "

पर भी 'कामायनी' का दार्शनिक पक्ष अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। 'कामायनी' के सभी चरित्र "जीवन की दार्शनिक इकाइयों के प्रतिनिधि हैं।[३]" जीवन रहस्यों की व्याख्या में सर्वत्र दार्शनिक छाया संकेतों की सहायता ली गई है। हाँ, दार्शनिकता कृति की काव्यात्मकता को अभिनव गरिमा ही देती है, उसे खण्डित नहीं करती।

वस्तु चित्रण, भावनिरूपण तथा अलंकृति—विविध दृष्टियों से इस कृति का हिन्दी कविता के इतिहास में अद्वितीय महत्त्व है। मन के अन्तःसंघर्षों की अपूर्व काव्यात्मक मनोविज्ञानसम्मत एवं दार्शनिक व्याख्या तो कृति का आकर्षण है ही, काव्यगत विशेषताओं की दृष्टि में भी उसका अनन्य स्थान है। प्रसाद की काव्य यात्रा की चरम परिणति या सिद्धि है 'कामायनी'।

कहना न होगा, काव्य-यात्रा के क्रमिक विकास के साथ ही कवि की विचारधारा पुष्ट, संयमित, मर्यादित, विवेक एवं अनुभव से समृद्ध होती गई है और अभिव्यक्ति में अनुकूल परिष्कृति आती गई है।

---

३ पं० नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक साहित्य

"प्रसाद का गीतिकाव्य"

सुश्री सरोजनी मिश्रा एम० ए, "साहित्यरत्न"

व्यक्तिगत सुख-दुखों की सहजानुभूति जब स्वतः द्रवीभूत होकर रागात्मक होती है तो उसे गीति कहा जाता है। गीति में भाव और स्वरों का संगठित रूप होता है। मानव के उच्चारण प्रयत्न का सर्वप्रथम स्फुरण गीति है। संस्कृत साहित्य में गीति-काव्यों का अत्यधिक प्रचलन था। क्रौंच वेदना से आहत करुणार्द्र ऋषि के गीले स्वर ने सम्भवतः प्रथमबार गीति काव्य का स्वर सन्धान किया—

> "मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वती समाः।
> यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधी काममोहितम्॥"

निस्सन्देह गीतिकाव्य के उद्गम में करुण रस ही प्रधान रूप से सहायक है। संसार में सुख और दुख—इन दो प्रकार के भावों की ही प्रधानता है। प्रसाद जी ने भी कहा है—

> "मानव जीवन वेदी पर परिणय हो विरह मिलन का,
> सुख दुख दोनों नाचेंगे, है खेल आंख का मन का।"

परन्तु सुखमय अनुभूति की अपेक्षा दुखपूर्ण भाव हमारे मर्मस्थल को अधिक स्पर्श करते हैं। शैली ने ठीक ही कहा है—"our sweetest songs are those which tell us sadest thought" अर्थात् शोकाकुल अवस्था के सूचक गीत ही मधुरतम होते हैं।

यद्यपि गीतिकाव्य का मूल-स्रोत करुण रस माना गया है, तथापि हम इसका पृथक् लक्षण देखते हैं। पाश्चात्य आलोचकों के अनुसार गीतिकाव्य वेदना का स्फोट है। कविवर सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दों में गीति काव्य का प्रस्फुटन उस समय होता है जब कवि का हृदय दुख से भाराक्रान्त हो जाता है। यथा—

> "वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
> उमड़ कर आंखों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान।"

गीति काव्य की विवेचना करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है—"गीति काव्य की आत्मा है भाव, जो किसी प्रेरणा व भाव से दबकर एक साथ गीति में फूट निकलता है। स्वभाव से ही उसमें हार्दिकता का तत्व वर्तमान रहता है। उसमें एक प्रकार की एक सूत्रता तथा सुसगठित एकता होती है, जो समस्त कविता को अन्वित किये रहती है। वह एक सरल, क्षणिक, एव तीव्र मनोवेग का परिणाम होती है।"

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार गीतिकाव्य के आवश्यक तत्व इस प्रकार हैं :—

(१) संगीतात्मकता, (२) आत्माभिव्यंजना, (३) रागात्मक अनुभूति की इकाई (४) सौन्दर्यमयी कल्पना, (५) वेदना तत्व, (६) लयात्मक अनुभूति, (७) सक्षिप्तता।

गीतिकाव्य का सक्षिप्त विवेचन करने के उपरान्त अब हम उपर्युक्त कसौटी पर प्रसाद के गीतिकाव्य को कसने का प्रयत्न करेंगे।

प्रसाद जी आधुनिक युग के सर्वाङ्गपूर्ण कलाकार थे, उनकी मौलिक प्रतिभा से हिन्दी साहित्य का अङ्ग अङ्ग समुन्नत हुआ।

प्रसाद जी नाटकों में पूर्णतया नाटककार हैं, कहानियों में कुशल कहानी लेखक, उपन्यासों म उपन्यासकार और काव्य में महाकवि एव गीतिकाव्य में भावुक सवदनशील गायक। प्रसाद जी ने गीतों के नवीन रूप उपस्थित कर काव्य क्षेत्र में क्रान्ति कर दी। खड़ी बोली म आधुनिक शैली के गीतों की रचना सर्व प्रथम प्रसाद जी ने ही की। आगे चलकर उन्हीं का सर्वत्र अनुकरण किया गया। वे खड़ी बोली के न केवल सर्व प्रथम कलाकार वरन् सर्वश्रेष्ठ गीतिकार भी हैं। पत की भाँति प्रसाद में शब्द साधना का आग्रह अधिक है। प्रसाद के गीतों में भावुकता और भावात्मकता प्रारम्भ से ही विद्यमान है।

सर्व प्रथम उनके गीतों की साहित्यिक प्रतिभा का मौलिक प्रकाश हमें उनके नाटकों में प्राप्त होता है। अब तक नाटक कम्पनियों म केवल तड़क भड़क के गानों के आधार पर ही गीतों की रचना होती थी। न उनम भाव का लालित्य होता था और न भाषा का सौन्दर्य। किन्तु प्रसाद जी ने गीतों को जहाँ साहित्यिक रूप लावण्य दिया वहाँ संगीत में भी नाटकीय गीतों को बहुत समुन्नत किया—जिससे गीतों का स्तर सदैव ऊपर ही उठता चला गया। फलस्वरूप नवीन नाटकों के अतिरिक्त काव्य म भी उच्चकोटि के गानों की रचना होने लगी। वास्तव में प्रसाद जी से ही आधुनिक गीति काव्य का आरम्भ मानना चाहिए। क्योंकि

उन्होंने ही परम्परागत पद शैली एवं ब्रजभाषा से गीतिकाव्य को उन्मुक्त कर नवीन रूप दिया। साथ ही संगीत की मिटती रुचि को जीवन प्रदान कर साहित्य की वस्तु भी बना दिया। अतएव क्या संगीत, क्या भाव भाषा और शैली, सब ही में उनका गीतिकाव्य युगकारी है। प्रसाद जी की कल्पना प्रकृति के अन्तःकरण में मिलकर अनुभूति की गहरी छाया पड़ते ही हृदय से स्वाभाविक स्रोत में वह निकलती है। उनके गीत मानव हृदय की रह रह कर उठती हुई प्रकृत भावनाओं के स्वाभाविक चित्र हैं। जिनमें कभी सुख है, कभी दुःख है, कभी आशा है, कभी निराशा। वे अन्तःकरण के उच्छ्वास हैं और युग की प्रतिध्वनि के साकार चित्र।

प्रसाद के गीतों में जहाँ निराशा का घनघोर अंधेरा है, वहाँ प्रकाश की उज्ज्वल रेखा—आशा—भी। यही आशा उनके गीतों का महान् सन्देश है। भक्तिकाल के गीतों में भक्ति भावना से आत्मा को परम प्रकाश और पारलौकिक शान्ति मिली, किन्तु प्रसाद जी के गीतों में विकल जीवन को आशा का सन्तोष और आनन्द का दिव्य सन्देश मिलता है। मनुष्य के लिए निराशा एक अभिशाप है और आशा दिव्य प्रोत्साहन। इसी के सहारे मानव जीवित है और उसका विश्व भी। आधुनिक युग में इस सजगता का श्रेय प्रसाद जी को ही है और वह भी उनके दुर्दिन से बरसे हुए 'आँसू' में। वैभवशाली अतीत की स्मृति में कवि व्यथित होकर रो उठता है। निराशा उसे विभ्रान्त कर देती है। तब अनन्त की चाह में विरह वेदना से पीड़ित होकर वह रो रोकर अपनी करुणा-कहानी सुनाने लगता है—

> "रो रोकर, सिसक सिसक कर
> कहता मैं करुण-कहानी
> तुम सुमन नोचते सुनते
> करते जानी अनजानी ॥"

इस घनीभूत पीड़ा से विश्व भर में निराशा की अन्तर्ज्वाला फैल जाती है। किन्तु इसी पीड़ा में चिरन्तन सत्य की मधुर आह है, और आह में गहरी अनुभूति। तब वह कह उठता है—

> "शशि मुख पर घूँघट डाले
> अंचल में दीप छिपाये
> जीवन की गोधूली में
> कौतूहल से तुम आये ॥"

तब उसके हृदय में आशा का आलोक विकीर्ण होता है। वह उस प्रियतम से प्रार्थना करता है—

निर्मम जगती को तेरा
मङ्गलमय मिले उजाला
इस जलते हुए हृदय को
कल्याणी शीतल ज्वाला।'

कवि आशा के इस शुभ आलोक से विभोर हो उठता है। तब उसके हृदय से निकलता है—

हे जन्म जन्म के जीवन—
साथी संसृति के दुख में,
पावन प्रभात हो जावे
जागो आलस के सुख में।'

'आँसू' कवि के अन्तर्जगत का पूर्ण चित्र है। अपने विरह की अत्यन्त तीव्र वेदना में कवि विश्व के कण-कण में व्याप्त परम ज्योति के दर्शन कर लेता है। 'आँसू' का एक-एक पद अनुपम है, काव्य सौन्दर्य का सागर है, भाव जगत का चित्रण है और संगीत की सरल माधुरी है। भावों को विरह में जो मृदुलता मिली है वह सुकुमार भाषा पाकर और भी मधुर हो गई है। आधुनिक गीति काव्य में "आँसू" सर्वश्रेष्ठ गीतिकाव्य है।

"लहर" प्रसाद जी के स्फुट गीतों का संग्रह है। जिसमें मुक्त छन्द की कुछ ऐतिहासिक सुन्दर कविताएँ भी हैं। गीति काव्य की दृष्टि से "लहर" भी "आँसू" के समकक्ष है। "लहर" से कवि की निराशा की प्रतिक्रिया होती है। अब आनन्द, सुख और उल्लास एवं आशा की लहर सर्वत्र फैल जाती है। "लहर" के गीतों की सबसे बड़ी विशेषता है प्रकृति के रूप सौन्दर्य की भावमय व्यंजना करना। भावुक चित्रकार की भाँति प्रसाद भी प्रकृति की रंग बिरंगी वेश-भूषा में तन्मय होकर उसका प्रकृत चित्रण करने में सिद्धहस्त हैं। इस रूप चित्रण में केवल बाह्य सौन्दर्य ही नहीं वरन् उनके अन्तःकरण की हल्की रेखाएँ भी स्पष्ट झलकती हैं।

बीती विभावरी जाग री।
अम्बर पनघट में डुबो रही—
ताराघट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा

लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मुकुल-नवल रस गागरी
अधरों मे राग अमन्द पिये
अलकों मे मलयज बन्द किये—
तू अब सोई है आली।
आँखों मे भरे विहाग री।

इस गीत मे तारों भरी रात का कितना सुन्दर रूप चित्रण किया गया है। एक-एक शब्द में सगीत है, प्राण है। और यह चित्रकार अन्त में मधुर भावना से प्रकृति के प्रेम सौन्दर्य में विह्वल हो जाता है। अतएव प्रसाद में जहाँ आत्माभिव्यक्ति है, भाव व्यजना है वहाँ सवेदना भी है। गीतों में कल्पना, भावना और अनुभूति का अनुपम मिश्रण हुआ है।

'कामायनी' पौराणिक आधार पर निर्मित दार्शनिक और बौद्धिक तत्व में प्रधान काव्य है, किन्तु उसमें प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार के काव्यों के दर्शन होते हैं उसमें मस्तिष्क तथा हृदय का मणि-कचन योग है। निम्नलिखित गीत मार्मिकता और मधुर व्यंजना का द्योतक है—

चिर विषाद विलीन मन की
इस व्यथा के तिमिर वन की,
मैं उषा सी ज्योति रेखा,
कुसुम विकसित प्रात रे मन।

नाटकों के गीतों में राग रागनियों की आदर्श मर्यादा है। शब्द योजना का अनुपम सौन्दर्य है। जिसमें वे गीति साहित्य एवं सगीत की क्लासिकल वस्तु हो गये हैं। "चन्द्रगुप्त नाटक" के निम्नलिखित गीत में प्रगीतत्व अपनी सौन्दर्य-सीमा को पहुँच गया है। ऐसे गीत बहुत ही कम हैं जिनमें भाव-व्यजना के साथ कौतूहल और विस्मय मिलकर नेत्रों में सौन्दर्य का साकार चित्र खींचते हों—

"तुम कनक किरण के अन्तराल मे लुक छिपकर आते हो कौन ?
नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के धन रसकन ढरते
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?
अधरों के मधुर कगारों मे
कल-कल ध्वनि की गुंजारो मे
मधु - सरिता - सी यह हंसी तरल अपनी पीते रहते हो क्यो ?

"लाज भरे सौन्दर्य" की मधुर झंकार पहुँचते ही नेत्रों में समस्त सौन्दर्य साकार होकर रोम रोम को पुलकित कर देता है। इसी प्रकार भाव सौंदर्य, शब्द योजना और माधुर्य में उनके अन्य गीत भी बहुत सुन्दर हैं। "स्कन्दगुप्त नाटक" में एक गीत भावाभिव्यंजन की सुकुमारता और शब्द माधुरी में बेजोड़ है—

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद के गीत अत्यन्त सुन्दर स्निग्ध और भावुकता से पूर्ण हैं। वे हृदय के प्रियतम भावों को स्पर्श करते हैं और मन हठात् मुग्ध हो जाता है। उनके गीतों में—संगीत की प्रधानता, भावों की एकता, अनुभूति की गहराई, सुव्यवस्थित रूप, अत्यन्त मूर्तिमत्ता आदि सभी तत्व उपलब्ध होते हैं।

"आह वेदना मिली विदाई,
मैंने भ्रमवश जीवन संचित,
मधु करियों की भीख लुटाई।
छल-छल थे सन्ध्या के श्रमकण
आँसू से गिरते थे प्रतिक्षण
मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनन्त अंगड़ाई।।"

अतएव प्रसाद जी आधुनिक गीतिकाव्य में सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं। श्री रामनाथ सुमन के शब्दों में—'इस कवि में जो मस्ती है, भावना एवं अनुभूति की जो मृदुता है और मानव जीव के उत्कर्ष का जो गौरव है, उसे देखते हुए उसकी प्रतिभा गीतिकाव्य की रचना के अत्यन्त उपयुक्त थी। + + + गीति काव्य के लिए कवि में सौंदर्यवृत्ति (Aesthetic Sense) होनी चाहिए, वह कवि प्रसाद के जीवन में ओत प्रोत थी। इस प्रकार के काव्य के लिए स्वानुभूति दूसरा अनिवार्य गुण है, जिसकी मात्रा "प्रसाद" में पर्याप्त है।'

प्रसाद, निराला, पंत एवं महादेवी की रहस्य-भावना

प्रो० जगमोहन प्रसाद मिश्रा एम०ए०, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार

वादों के वर्तमान युग में अनेकों वादों का उत्थान-पतन हुआ किन्तु रहस्यवाद का रहस्य आज भी अपनी विशेषता लिए हुए है। न तो इसका उद्‌घाटन पूर्ण रूपेण हो ही पाया और न ही कवियों ने इसका मोह छोड़ा। वर्षा ऋतु में पयस्विनी अपने यौवन की मादकता में जल-रूपी प्रेम रस को बिखेरती हुई कभी अपनी अल्हड़ता का परिचय कलकल के नाद में देती है और कभी अभिमानिनी नायिका की भाँति हहराती हुई प्रियतम की निष्ठुरता के प्रति मानों अपने क्रोध को व्यक्त करने लगती है। शीत ऋतु में प्रौढ़ होने पर युवावस्था की मादकता उतर जाती है और पयस्विनी शांत हो जाती है। ग्रीष्म ऋतु में तो कभी-कभी वह अन्तः सलिला हो जाती है मानो वृद्धावस्था के आने पर सारी प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गई हों। प्रकृति सदा सुहागिन है। गुप्त जी की उर्मिला को भले ही चिन्ता हो—"वह यौवन उन्माद कहाँ से पाऊँगी मं ?" किन्तु हमारी पयस्विनी यौवन उन्माद पुनः प्राप्त कर लेती है।

कुछ ऐसी ही दशा रहस्यवाद की रहा है हिन्दी साहित्य में। कबीर और जायसी के युग से लेकर आज तक यह रहस्यवादी धारा कभी उभरी है और कभी दबी है और कभी पन्त जी की प्रकृति की तरह—"पल पल परिवर्तित वेश", लेकर सामने उपस्थित हुई है।

'रहस्य' का अर्थ है 'गुप्त' प्रच्छन्न और अव्यक्त और जिसमें गुप्त और अव्यक्त का उल्लेख हैं, इङ्गित है, वही रहस्यवाद है। सावरण को निरावरण करने की प्रवृत्ति मनुष्य मात्र में प्रारंभिक काल से रही है। दर्शन की उत्पत्ति इसी जिज्ञासा का परिणाम है। उपनिषदों में इसी प्रच्छन्न को देखने का कुतूहल है। रूप जगत क्या है ? मैं (आत्मा) क्या हूँ ? आत्मा और जगत का क्या सम्बन्ध है ? जगत किसकी सृष्टि है ? वह [सः] कौन है सः, जगत् और आत्मा के बीच क्या कोई शृंखला है ? ये प्रश्न हैं जो दर्शनों में अनेक तर्क-वितर्क मय उत्तरों के पश्चात् भी प्रश्न ही बने हुए हैं ?"

—विनय मोहन शर्मा—

"जीवन के रहस्य को धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि समझाने का प्रयास कर रहे हैं। × × × × जहाँ बहुतसी वस्तुओं का लक्ष्य एक होना है वहाँ उनकी गति भिन्न होने पर भी उनमें विरोध नहीं होता। चरम-सत्य, धर्म, दर्शन और काव्य तीनों का विषय है। धर्म प्रधानत, काव्य अशत' और दर्शन अन्ततोगत्वा इस पर विचार करता है। धर्म में विश्वास का दर्शन तर्क का और काव्य में भावना का प्राधान्य रहता है। इस चरम सत्य का दूसरा नाम ब्रह्म है। दर्शन मे जो सिद्ध है, धर्म से जो विश्वसनीय है वही काव्य में प्रिय बन जाता है। इस प्रकार दर्शन से पुष्ट धर्म का रहस्यवाद ही अन्त मे काव्य का रहस्यवाद बन जाता है।"

—विश्वंभर मानव—

'चिंतन के क्षेत्र मे जो अद्वैतवाद है भाव के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।"

—रामचन्द्र शुक्ल—

"रहस्यवाद अपरोक्ष अनुभूति समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा अहं [आत्मा] का इद [जगत्] से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर इसमें सम्मिलित है।"

"—प्रसाद—"

डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों मे—"रहस्यवाद जीवात्मा की वह अत निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसम वह दिव्य व अलौकिक शक्ति से अपना शात व निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहता है और वह सबध यहाँ तक बढ जाता है कि दोनों म अभिन्नता हो जाती है।"—

महादेवी की दृष्टि मे—"रहस्यानुभूति में बुद्धि का गेय ही हृदय का प्रेय हो जाता है।"—

कुछ विद्वान रहस्यवाद की प्रवृत्ति को अभारतीय मानते हैं और कुछ उसे कुछ शुद्ध भारतीय। श्रीमानव जी के शब्दों मे—"उपनिषदों मे अद्वैतवाद का प्रतिपादन है अत यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वे रहस्यवाद के मूल आधार हैं।

हिन्दी साहित्य मे रहस्यवादी धारा का उभार दो कालों में विशेष रूप से दिखाई देता है। एक तो हिन्दी के आदि काल से सबधित है जब कि सिद्धों और नाथों की रहस्यवादी धारा में आगे चलकर कबीर आदि सतों ने और जायसी आदि सूफियों ने परिवर्तन और सशोधन के साथ योग दिया और दूसरी रहस्यवादी धारा आज के कवियों की है जिनमें प्रसाद, निराला, पत,

महादेवी, रामकुमार, आदि प्रमुख हैं। प्राचीन रहस्यवादी सभी कवि धार्मिक थे और उन्होंने साधना पर अधिक जोर दिया है किन्तु आज के कवियों में प्रेम का तत्व ही विशेष उल्लेखनीय है उनकी प्रवृत्ति न तो विशेष धर्मिक ही है और न ही विशेष ईश्वरोन्मुखी।

डा० नगेन्द्र जी के अनुसार "यह (रहस्यवाद) प्रतिक्रिया का ही प्रतिफल था और हमारे भावुक कवि किसी धार्मिक प्रेरणा से इतने आकृष्ट नहीं हुए थे जितने कि अपनी भावुकता और कल्पना के व्यायाम के लिए विस्तृत क्षेत्र पा जाने के कारण।"

कबीर ने खुले बाजार पुकार कर कहा था—"कहा सुनी की है नहीं, देखा देखी बात।"—आज के रहस्यवादी कवि ऐसा नहीं कह सकते। उनकी रहस्यात्मकता अध्ययन का प्रतिफल है।

आज के रहस्यवादियों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) दार्शनिक रहस्यवादी—निराला
(२) प्रकृति संबधी रहस्यवादी—पंत
(३) धार्मिक तथा उपासक—मैथिली शरण गुप्त
(४) प्रेम एवं सौन्दर्य मूलक—प्रसाद और महादेवी

प्रसाद, निराला, पंत एवं महादेवी के रहस्यवाद की विवेचना करने के पूर्व उन पर पड़े हुए विभिन्न प्रभावों को जान लेना आवश्यक है।

प्रसाद जी ने अपने छोटे से जीवन की बड़ी कथाएँ कहने में भले ही असमर्थता व्यक्त की हो किन्तु स्वतः उनके छोटे से जीवन ने बहुत कुछ कह डाला है। बाल्यकाल से ही उनका जीवन संघर्षमय रहा। लड़ते रहे वे स्वार्थी संसार से और परम शक्तिशाली परमेश्वर से। बारह वर्ष की अल्पायु में पिता का देहान्त हुआ और सत्रह वर्ष होते होते क्रूर काल ने बड़े भाई शम्भुरत्न जी को छीन लिया। बालक प्रसाद पर बुद्ध साहित्य के करुणवाद, दुखवाद, क्षणिकवाद आदि का प्रभाव पड़ा। परिवार शिव का उपासक था इसलिए प्रसाद जी का दुःखवाद आनन्दवाद में परिणत हुआ। श्री नन्ददुलारे बाजपेयी जी के शब्दों में—"प्रसाद जी का आनन्दवाद सर्ववाद के सिद्धान्त पर स्थित है। यह सर्ववाद वैदिक अद्वैतवाद भी कहा जा सकता है किन्तु यह सर्ववाद शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित कहते सिद्धान्त से जिसमें माया की सत्ता भी स्वीकृत की गई है भिन्न है।.........भारतीय दर्शन की वह धारा जो वेदों में

समस्त दृश्य जगत को ब्रह्म मानकर चली है, क्रमशः शैवागम ग्रंथों में प्रतिष्ठित हुई। प्रसाद जी ने शैवागम से ही इस सर्ववाद मूलक आनन्दवाद को ग्रहण किया है।[1]

निराला जी बाल्यकाल म रामकृष्ण मिशन के सन्यासियों के सम्पर्क में रहे। साहित्य के क्षेत्र में रवीन्द्र और सास्कृतिक क्षेत्र म विवेकानन्द की विचार धाराओं से प्रभावित हुए। निराला जी उपनिषदों के अद्वैतवाद के उपासक हैं किन्तु आपने समन्वयवाद को भी अपनाया है आपने अनिर्वचनीय एव अखड सत्ता पर जोर दिया है। ब्रह्म को आपने शकर के अनुसार सृष्टि का उपादान और निमित्त कारण माना है पर 'जगन्मिथ्या' पर आपने जोर नहीं दिया।

प्रकृति की गोद में बसे हुए कूर्माचल प्रदेश क कौशानी ग्राम में जन्म देकर ६ घटे पश्चात् ही माँ बालक पत को मानो प्रकृति देवी को ही सौंप कर अनन्त पथ की ओर बढ़ गई। प्रकृति ही मातृहीन बालक को कवि जीवन के लिए तैयार करने लगी। नीलाकाश में इन्द्रधनुष की सतरगी हँसी, और बिजलियों का नृत्य ऊपर उठने वाला हिमालय और उतरते हुए झरने, ऊँचा सिर उठाये हुए हरित द्रुम सभी बालक को अपनी ओर आकृष्ट करते रहे। बालक मानों प्रकृति के सौन्दर्य के हाथों बिक गया। सुन्दरता का यह आकर्षण ही पत जी को आगे चल कर रहस्यवादी बनाने में सहायक हुआ।

महादेवी जी के ही शब्दों में—"बचपन में ही भगवान बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनके ससार को दुःखात्मक समझने वाले दर्शन से मेरा असमय ही परिचय हो गया। अवश्य ही इस दुख को मेरे लिये नया जन्म लेना पड़ा फिर भी उसमें पहले जन्म के संस्कार विद्यमान हैं।"—

और पडित विनय मोहन शर्मा के शब्दों में—'इसका आशय यह हुआ कि महादेवी ने बुद्ध के ससार को देखने की दृष्टि ग्रहण की। बुद्ध भगवान ने दुख को आर्य सत्य (Eternal truth) माना है। वे कहते हैं कि ससार में दुख की सत्ता ठोस और स्थूल है परन्तु कवयित्री बौद्धों ने संघात या नैराश्यवाद में विश्वास नहीं करती अर्थात् वह आत्मा की वास्तविक सत्ता से इन्कार नहीं करती। .. .. महादेवी आत्मा को नित्य मानती है, उसके अमरत्व में आस्था रखती हैं परन्तु क्षण क्षण परिवर्तित दिखाई देने वाले जगत की क्षण ... को वे बौद्ध मत के समान ही स्वीकार करती हैं।

इस तरह महादेवी जी ने दुख को करुण भाव के रूप में ग्रहण किया है। यही उनके परोक्ष प्रिय की भूमिका भी है।

सोपानों की दृष्टि से रहस्यवाद की कई स्थितियाँ होती हैं। कुमारी अन्डरहिल ने रहस्यवादी साधना के विकास की ५ अवस्थाएँ मानी हैं—

(१) जागरण की अवस्था

(२) परिष्करण की अवस्था,

(३) आत्म प्रकाश की अवस्था,

(४) विघ्न की अवस्था,

(५) मिलन की अवस्था,

डा० त्रिगुणायत ने इन अवस्थाओं की सख्या १४ तक पहुँचा दी है। स्थूल रूप में इन अवस्थाओं को ३ भागों में बाँटा जा सकता है —

(१) जिज्ञासा

(२) विरह

(३) मिलन।

(१) जिज्ञासा—मनुष्य में जिज्ञासा की भावना उसकी एक प्रबल प्रवृत्ति है। आज के भौतिकवादी युग में तरह तरह के आविष्कार हो रहे हैं। कितनी उत्सुकता रहती है इनके बारे में जानने की। इसी तरह जीवन की उत्पत्ति, विश्व के नियन्ता, आदि के विषय में भी मनुष्य ने जानने का प्रयत्न किया है जो रहस्यवाद की प्रथम सीढ़ी मानी गई है।

प्रसाद जी में यह जिज्ञासा वृत्ति स्पष्ट है। 'कामायनी' के मनु प्राकृतिक उपकरणों को देखकर प्रश्न करते हैं —

> विश्वदेव सविता या पूषा,
> सोम, मरुत, चंचल पवमान
> वरुण आदि सब घूम रहे हैं
> किसके शासन में अम्लान ?
>
> × × ×
>
> महानील इस परम व्योम में
> अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान,
> ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण,
> किसका करते से सधान।

उन्हें यह भी भान होता है कि मंद गम्भीर लहराता समुद्र मानों किसी शक्ति की गाथा, गा रहा है और वे पुन कह उठते हैं—

हे विराट ! हे विश्व देव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान
मद गंभीर घोर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान—

यही जिज्ञासा वृत्ति प्रसाद जी के निम्नांकित गीत मे भी प्राप्त होती है।

'भरा नयनों में मन मे रूप
किसी छलिया का अमल अरूप"—

निराला—जी ने भी अभिसारिका रूपी जीवात्मा में उस अनंत अज्ञात प्रियतम के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न की है—

हृदय में कौन जो छेड़ता बाँसुरी
हुई ज्योत्स्ना मयी, अखिल मायापुरी
लीन स्वर सलिल मे मै बन रही मीन
स्पष्ट ध्वनि, प्राणनि, सजी यामनी भली !

उनकी जिज्ञासा में चिंतन की प्रधानता है—यथा:—

रे अपलक मन,
पर कृति में धन आवृत्त,
दर्पण बन तू मसृण सुचिक्कण,
रूप हीन तब रूप बिंब घन
जल ज्यों निर्मल तट छाया घन,
किरणों का दर्शन ।

पंत जी—ने विश्व में एक महान् शक्तिशाली मातृत्व की कल्पना की है एवं उसकी छवि देखने की जिज्ञासा भी व्यक्त की है—

माँ ! वह दिन कब आएगा जब
मैं तेरी छवि देखूंगी
जिसका यह प्रतिबिम्ब पड़ा है
जग के निर्मल दर्पण में ।

उन्होंने विश्व के प्रत्येक कण मे अव्यक्त शक्ति का अनुभव किया है:—

एक ही तो असीम उल्लास,
सरस जलनिधि मे हरित विलास,
शरत अम्बर मे नील विकास,
वही उर उर मे प्रेमोच्छ्वास,
काव्य मे रस कुसुमो मे वास

किसी अज्ञात असीमित शक्ति से उन्हें मौन निमंत्रण प्राप्त होता है किन्तु यह असीमित शक्ति कौन है यह जानने को कवि उत्सुक है—

न जानें कौन अहे! द्युतिमान
जान मुझको अबोध अज्ञान
फूंक देते छिद्रो मे गान
अहे सुख-दुख के सहचर मौन
नहीं कह सकता तुम हो कौन?

परोक्ष प्रियतम का संकेत पाकर महादेवी जी का मन भी जिज्ञासा से भर जाता है। वे कह उठती हैं—

"—सुरभि बन जो थपकियां देता मुझे
नींद के उच्छ्वास-सा वह कौन है?

कभी वे अपने हृदयस्थ अज्ञात के विषय में प्रश्न कर बैठती हैं

कौन मेरी कसक मे नित, मधुरता भरता अलक्षित?
कौन प्यासे लोचनों मे घुमड़ घिर आता अपरचित?
स्वर्ण स्वप्नों का चितेरा, नींद के सूने निलय मे
कौन तुम मेरे हृदय मे?

(२) विरह :—मन में जिज्ञासा की भावना ज्यों ही उठती है, अज्ञात और अनंत के प्रति उसे प्राप्त करने की इच्छा भी हो आती है। ज्यों ही रहस्यवादी उस अनंत और रमणीय पथ में बढ़ता है। तरह तरह की कठिनाइयाँ उसके मार्ग में उपस्थित होती हैं इस मार्ग के बारे में कहा भी गया है—क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया"—तलवार की धार पै धावनो है—"। मन भटक जाता है विघ्नों के द्वारा और तभी विरह की अभिव्यक्ति हो उठती है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रसाद जी आनंदवाद के उपासक हैं, अतः उनमें विरह के गीत बहुत कम ही प्राप्त होते हैं।—

प्रियतम की आतुर प्रतीक्षा प्रेमी को पागल बना देती है। उसकी वेदना लाख रोकने पर भी व्यक्त हो ह. जाती है

ध्वनि कम्पित करता बार बार,
धीरे से उठता पुकार
मुझको न मिला रे 'कभी-प्यार।

कभी वह इसी विरह में प्रश्न कर उठता है —

अरे कहीं देखा है तुमने,
मुझे प्यार करने वाले को,
मेरी आँखों में आकर फिर
आँसू बन ढरने वाले को ?

आँसू में भी लौकिक विरह में आध्यात्मिक विरह का आभास मिल ही जाता है

× × × ×

निष्ठुर ! यह क्या, छिप जाना ?
मेरा भी कोई होगा।
प्रत्याशा विरह निशा की
हम होंगे औ' दुख होगा।

इसी वेदना के फलस्वरूप कभी कभी कवि यह प्रश्न भी कर बैठता है—

अरे कहीं देखा है तुमने
मुझे प्यार करने वाले को ?

और कभी अपनी इच्छा व्यक्त करता हुआ कहता है —

—मेरी आँखों की पुतली में
तू बन कर प्राण समा जा रे—"

अद्वैतवादी होने के कारण निराला जी आत्मा और परमात्मा की अखंड सत्ता पर विश्वास करते हैं। इसीलिए उनके काव्य में भी विरह के गीत बहुत कम हैं। पर जादू तो वही है जो सिर पर चढ़ कर नाचता है। कहीं कहीं विरह की भावनाएँ आ ही गई हैं—

प्राणघन का स्मरण करते
नयन झरते, नयन झरते।

पंत जी—ने भी विरह के गीत बहुत ही कम गाए हैं फिर भी अनंत का आकर्षण उनके जीवन को उद्वेलित कर ही देता है—

इस धरती के उर में है
उस शशि मुख का असीम सम्मोहन
रोक नहीं पाते भू के तट
जीवन वारिधि का उद्वेलन।।—

माँ को सम्बोधित की गई निम्नांकित पंक्तियों में विरह की अभिव्यक्ति स्पष्ट है—

माँ वह दिन कब आएगा जब
मैं तेरी छवि देखूँगी
जिसका यह प्रतिबिम्ब पड़ा है,
जग के निर्मल दर्पण में।,

महादेवी जी की रहस्य भावना में विरह की प्रधानता है। कसक, पीड़ा, दुख, वेदना आदि की अधिकता ने मानो दुख को ही उनका साध्य बना डाला है। तभी वे अज्ञात प्रियतम के प्रति कहती हैं—

"—तुमको पीड़ा में ढूँढा,
तुममें ढूँढूँगी पीड़ा—"

बौद्ध दर्शन के दुखवाद का प्रभाव ऊपर पड़ा और पीड़ा उनकी चिर सहचरी हो गई प्रारम्भ से ही —

इन ललचाई पलकों पर
पहरा था जब व्रीड़ा का
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का।—

वे इस पीड़ा में सुखी हैं। ठीक भी है। दो व्यक्ति साथ साथ मित्र बन ही जाते हैं। इसीलिए वे मिलन का नाम भी नहीं लेना चाहतीं—

"मिलन का मत नाम लो
मैं विरह में चिर हूँ—"

उनकी पीड़ा कभी भी समाप्त होने वाली नहीं है —

—परशेष नहीं होगी यह
मेरे प्राणों की क्रीड़ा,
तुमको पीड़ा में ढूँढा
तुममें ढूँढूँगी पीड़ा—"

उन्हें प्रिय-पथ के शूल अत्यधिक प्यारे हैं। वे अज्ञात प्रियतम को दुख बन कर आने का आह्वान करती हैं। ठीक भी तो है—

—"क्या हार बनेगा वह जिसने
सीखा न हृदय को बिंधवाना—"

उन्हें विरह की घड़ियाँ। मधुर मधु की यामिनी सी प्रतीत होती हैं।

३—मिलन —

अनत और अज्ञात प्रियतम की खोज में आगे बढ़ता हुआ साधक उसे प्राप्त ही कर लेगा ऐसा कहा नहीं जा सकता। कभी विघ्नों की बाधाओं से वह विचलित हो जाता है, और कभी पथ को अनन्त समझ वह उसकी खोज करना ही छोड़ देता है फिर :—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः,
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।
—कठोपनिषद्—

[जो पाप कर्म से निवृत्त नहीं है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित है, वह इसे आत्म ज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता है।

वह असीम तो स्वतः ही अपना उपयुक्त पात्र खोज निकालता है :—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन,
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य—
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥
—कठोपनिषद्—

[यह आत्मा वेदाध्ययन द्वारा प्राप्त होने वाली नहीं है और न धारणा शक्ति अथवा अधिक श्रवण से ही प्राप्त हो सकती। यह [साधक] जिस [आत्मा] का वरण करता है उस [आत्मा] से ही यह प्राप्त की जा सकती है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देती है।

तुलसी ने भी कहा है—

"जानहिं सोइ देहि जनाई"

मिलन की दशा का वर्णन करते हुए कबीर ने लिखा है :—

पानी ही ते हिम भया,
हिम ह्वै गया बिलाय
मैं जो था सोई भया—
अब कछु कहा न जाय।

प्रसादजी अनन्त प्रियतम का सान्निध्य पा कह उठते हैं—

—मिल गए प्रियतम हमारे मिल गए,
यह अलस जीवन सफल अब हो गया—"

'कामायनी' में भी मिलन का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है।

—वल्लरियाँ नृत्य निरत थीं
बिखरी सुगन्ध की लहरें
फिर वेणु रंध्र से उठकर
मूर्च्छना कहाँ अब ठहरे।"

निराला जी मिलन की आनन्ददायिनी स्थिति का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

—अविचल निज शांति में
क्लांति सब खो गई
डूब गया अहंकार
अपने विस्तार में
टूट गया सीमा बंध
छूट गया जड़ पिंड…

अपिच—

नयनों का नयनों से बंधन
काँपे थर, थर, थर, थर, तन—"

पंत जी उन्मुक्त प्रकृति के गायक हैं। उन्होंने अपने अनन्त प्रियतम को प्रकृति में ही देखा है—

कभी उड़ते पत्तों के साथ,
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते फिर मुझको उस पार—

वीणा में उस प्रियतम की अभिव्यक्ति निम्नांकित रूप में की गई है—

बताऊँ मैं कैसे सुन्दर
एक हूँ मैं तुम से सब भाँति
जलद हूँ मैं यदि तुम हो स्वाति,
तृषा तुम, यदि मैं चातक पाति
दिखा सकता है क्या सुचि सर ?

महादेव जी इस तदाकार स्थिति का वर्णन करती हुई लिखती हैं—

'बीन भी हूँ मैं, तुम्हारी रागिनी भी हूँ।'

उनके असीम और ससीम, प्रियतमा और प्रियतम, आत्मा और परमात्मा का भेद मिट जाता है—वे कहती हैं—

तू असीम में सीमा का भ्रम,
तुम मुझ मे प्रिय फिर परिचय क्या ?"

इस तरह हमारे आलोच्य कवियों ने उस परम तत्व को प्राप्त करने के लिए परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न साधनों का आश्रय लिया है किन्तु गन्तव्य स्थल एवं प्राप्य वस्तु सभी की एक ही रही है—

प्रसाद और पंत का प्रकृति-चित्रण

श्री कैलाशचन्द भाटिया एम० ए०, साहित्यरत्न, रिसर्चस्कालर

इस विशाल भूमण्डल में मनुष्य अपने अतिरिक्त प्रकृति को अपनी शाश्वत संगिनी के रूप में पाता है। कभी-कभी वह अपने अन्तर्जगत का भाव लहरियों का साम्य प्रकृति के व्यापारों में देखने लगता है। इस प्रकार जहाँ एक ओर वह प्रकृति को माध्यम बनाकर अपने भावों को प्रकट करता है, वहाँ दूसरी ओर उससे प्रेरणा भी ग्रहण करता है। महादेवी जी कहती हैं "प्रकृति के विविध कोमल परुष, सुन्दर विरूप, व्यक्त रहस्यमय रूपों के आकर्षण विकर्षण ने मानव की बुद्धि और हृदय को कितना परिष्कार और विस्तार दिया है, इसका लेखा जोखा करने पर मनुष्य प्रकृति का सबसे अधिक ऋणी ठहरेगा।" मानव प्रकृति के साम्य रूप का आस्वादन कर आनन्दित होता है और उसकी तृषित माननाएं रूप को निहार निहार कर तृप्त होता है। वह प्रकृति के सहारे सूक्ष्म रहस्य को जानने की चेष्टा करता है। प्रकृति के विभिन्न उपादानों के अद्भुत, रौद्र, शिव एवं सुन्दर रूपों का अवलोकन कर उसने नवीन भावों को ग्रहण किया है। आदि कवि बाल्मीकि से लेकर अधुनातम कवियों ने प्रकृति से प्रेरणा ग्रहण की है। निस्सन्देह आज यह अस्वीकार करते हुए मन क्षुब्ध होता है कि सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य प्रकृति से दूर भागता जा रहा है।

प्रसाद और पन्त छायावादी युग के दो प्रतिनिधि कवि हैं, जिनसे पूर्व प्रकृति का चित्रण या तो उद्दीपन रूप में होता था या वस्तु परिगणन रूप में। प्रकृति का सचेतन व्यक्तित्व इस युग में ही प्राप्त हुआ। डा० किरणकुमारी के मत से "प्रसाद जी की धारा के पावन सलिल और सिंचन से एक नवीन काव्य-तरु विकसित हुआ। प्रसाद जी का 'कानन-कुसुम' उनके मधुसिक्त काव्य-स्रोत से प्रस्फुटित 'झरने की लहर' में रहस्यवाद के शीतल सुरभित समीर से अठ-खेलियाँ करता हुआ पन्त के मंजुल मृदुल पल्लवों के मध्य सुशोभित हुआ।

प्रसाद काव्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में प्रसाद जी की दृष्टि प्रकृति के गति विधान पर ही टिकी थी, किन्तु बाद में उनके काव्य

में प्रकृति के अनेक शुद्ध एवं रहस्यात्मक चित्र मिलते हैं। दर्शन उनके प्रकृति के चित्रण का आधार एवं दृढ भित्ति रूप में है। प्रसाद जी की कामायनी की अधिकांश कथा प्रकृति की ही गोद में बैठकर ही घटित हुई है, अतः उसमें प्रसाद जैसे प्रकृति के पुजारी के लिए अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त अवकाश मिल सका।

पन्त जी ने तो आधुनिक कवि की भूमिका में स्वयं ही लिखा है कि "कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि जीवन से पहले भी मुझे याद है, मैं घंटों एकान्त में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था। और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।" ······प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पनाजीवी बनाया वहाँ दूसरी ओर जन भीरु भी बना दिया।[1]

'मेरा विचार है कि वीणा से ग्राम्या तक मेरी सभी रचनाओं में प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेम किसी न किसी रूप में वर्तमान है।[2]

इस प्रकार पन्त जी ने स्वयं ही यह स्वीकार किया है कि प्रकृति के अनेक रूपों से वह प्रभावित हुए हैं।

प्रसाद ने प्रकृति को तटस्थ दृष्टि से देखा है, जबकि पन्त ने प्रकृति के भीतर से प्राणशक्ति प्राप्त की है और उसमें अपने को खो दिया है। मानव से अधिक प्रकृति से उनका अगाध प्रेम 'वीणा' में ही परिलक्षित होता है'—

'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन॥

प्रारम्भ में पन्त प्रकृति के चरणों में थे। प्रसाद के लिए प्रकृति सदैव परिचित और पन्त को रहस्यमयी दिखाई पड़ती है:—

पन्त जी के लिए प्रकृति का साहचर्य छोड़ना जीवन मरण का प्रश्न है, जबकि प्रसाद शीघ्र ही दार्शनिक होकर विमुख हो सकते हैं, किन्तु पन्त दार्शनिक गुत्थियों में उलझ कर भी अंत तक प्रकृति का पल्ला पकड़े हुए हैं।

१. पन्त आधुनिक कवि २। स० २००६—पर्यालोचन पृष्ठ १-२।
२. वहीं।

प्रसाद उस असीम नीले अचल मे
देख किसी की मृदु मुस्कान।
× × × ×
सिर नीचा कर जिसकी सत्ता।
सब करते स्वीकार यहा।

पन्त—स्तब्ध ज्योत्सना मे सब समार, चकित रहता शिशु सा नादान।
विश्व के पलकों पर सुकुमार, विचरते हैं सब स्वप्न अजान।
न जाने नक्षत्रों से कौन, निमन्त्रण देता मुझको मौन॥

प्रसाद शैव मत में विश्वास रखने के कारण प्रकृति की कोमल और कठोर दोनों रूपों को प्रसन्नतापूर्वक अपना सके हैं, किन्तु पन्त नारी सुलभ, कोमल एव नम्र स्वभाव के कारण कोमलता के प्रति ही समर्पित रहते हैं। 'परिवर्तन' कविता में यदि उन्होंने कठोर रूप देखा है भी तो एक भयभीत और सकुचित दृष्टि से।

प्रसाद की कामायनी' में प्रकृति के रम्य रूप तो भरे हुए हैं —

उषा सुनहले तीर बरसती
जय लक्ष्मी सी उदित हुई।
उधर पराजित काल रात्रि भी
जग मे अन्तर्निहित हुई॥

प्रसाद-आशा सर्ग

पन्त जी की प्रकृति का रम्य रूप भी निरखिये '—

मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर,
सुभग स्वाति के मुक्ताकर।
विहग वर्ग के गर्भ विधायक,
कृषक बालिका के जल धर॥

पन्त बादल

वही प्रकृति प्रलय के समय कैसे दुर्दमनीय और भयकर रूप में दृष्टिगोचर होती है :—

उधर गरजती सिन्धु लहरियां,
कुटिल काल के जालों सी।
चली आ रहीं फेन उगलतीं
फन फैलाए व्यालो सी॥

प्रसाद चिन्ता सर्ग

उसी प्रकार पन्त जी का प्रकृति का कठोर रूप भी हमारे सम्मुख आता है :—

काल का अकरुण भृकुटि विलास
तुम्हारा ही परिहास,
विश्व का अश्रुपूर्ण इतिहास !
तुम्हारा ही इतिहास !

प्रकृति का यथातथ्य चित्रण दोनों ही कवियों ने किया है। आलम्बन रूप में प्रकृति साधन न होकर साध्य हो जाती है —

स्वर्ण शालियों की कलमें थीं,
दूर दूर तक फैल रहीं।

× × × ×

अचल हिमालय का शोभनतम,
लता कलित शुचि सानु शरीर॥

प्रसाद-आशा सर्ग

पपीहों की वह पीन पुकार,
निर्झरों की भारी झर झर,
झींगुरों की झीनी झनकार,
हृदय हरते थे विविध प्रकार,
शैल-पावस के प्रश्नोत्तर !

पन्त आनू से

बासों का झुरमुट,
सन्ध्या का झुटपुट,
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी वी टी-टुट टुट !

पन्त कलरव

प्रसाद ने मानवीय पक्षों के बाह्य और आन्तरिक पक्षों के उद्घाटन के लिए उपकरण रूप में प्रकृति को अपनाया है। प्रकृति के उपादान अपने वास्तविक स्वरूप को बनाए हुए केवल उन भावनाओं से युक्त दिखाई देते हैं जो मानव हृदय की वस्तुएँ हैं।

दूर दूर तक विस्तृत था हिम,
स्तब्ध उसी के हृदय समान।

× × × ×

'उस तपस्वी से लम्बे थे
देवदार दो चार खड़े,
प्रसाद चिन्ता सर्ग

अमूर्त से मूर्त हिमालय की ऊँचाई के लिए—
विश्व कल्पना सा ऊँचा वह,
सुख शीतल सतोष निदान,
प्रसाद आशा सर्ग

गिरिवर के उर से उठ-उठकर
उच्चाकाक्षाओं से तरुवर
है झाक रहे नीरव नभ पर
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्ता पर ! पन्त

कवि अलकारों का मोह भी कविता के समान ही रखते हैं। अपने सीधे सादे भावों के साथ कवि को कभी-कभी अटपटे भाव भी व्यक्त करने पड़ते हैं। ऐसी ही स्थिति में प्रकृति को माध्यम बनाकर अलकार का आश्रय लेकर कवि की अभिव्यजना में सरलता प्रतीत होती है। प्रसाद तथा पन्त दोनों के प्रकृति-वर्णन में इस प्रकार के सुन्दर और कोमल वर्णनों का प्राचुर्य है।

प्रकृति का अलकार रूप में :—

सुख, केवल सुख का वह सग्रह
केन्द्रीभूत हुआ इतना,
छाया पथ मे नव तुषार का,
सघन मिलन होता जितना।

× × × ×

ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कप सी मतवाली ॥
प्रसाद चिन्ता सर्ग

उपमान रूप में :—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ-घन बीच गुलाबी रग ॥
प्रसाद-श्रद्धा सर्ग

मेमनों से मेघों के लाल
फुदकते थे प्रमुदित गिरिपर।
पंत आँसू से

तुम्हारी आँखों का आकाश
सरल आँखों का नीलाकाश
खो गया मेरा खग अनजान।

प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप ही मानवीकरण (Personification) है। अंग्रेजी में इस प्रकार की कविताओं का प्राचुर्य है। छायावादी कवियों की यह विशेषता है। छायावाद की अभिव्यंजना का तो यह परमावश्यक तत्त्व ही रहा है। उन्होंने इस प्रकार की कविताओं में प्रकृति के मानव रूप, गुण, क्रिया और भाव एवं प्रेम का भी आरोप किया है। कवि मानवीकरण से मानव का प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास करता है। "प्रकृति को मैंने अपने से अलग सजीव सत्ता रखने वाली नारी रूप में देखा है।—' आधुनिक कवि २ भूमिका।"

जहाँ वनस्पतियाँ अलसाई
मुख धोतीं शीतल जल से।

× × × ×

नेत्र निमीलन करती मानों
प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने।
प्रसाद कामायनी-आशा सर्ग

शांत, स्निग्ध, ज्योत्सना उज्ज्वल !
अपलक, अनंत नीरव भू-तल !
सैकत-शैया पर दुग्ध धवल तन्वंगी गंगा ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रांत, क्लान्त निश्चल !
पंत नौका विहार

विशालता से सौन्दर्य जड़ और चेतन का सामंजस्य कितना प्रगाढ़ हो उठा है —

सिंधु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी,
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में
मान किये सी ऐंठी सी॥
प्रसाद आशा

परम्परित रूपक तथा सारोपी गौणी प्रयोजनवती लक्षणा के माध्यम से मानवती ललना से रूपक बाधा गया है। इधर पन्त जी भी तो वही रग रंग रहे हैं —

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद हासिनि
मृदु करतल पर शशि-मुख धर,
नीरव, अनिमिष, एकाकिनि !

× × × ×

हैं नाच रहीं शत शत छवि सागर की लहर-लहर पर

× × × ×

दिन की आभा दुलहिन बन आई निशि निभृत शयन पर,
वह छवि की छुई-मुई सी मृदु मधुर लाज से भर भर।

पन्त-चादनी

आदिकाल से ही कवियों ने प्रकृति का उद्दीपन रूप म प्रयोग किया है। भक्ति काल और रीति-काल में यह प्रथा शीर्ष पर थी। प्रकृति को भी मानव के साथ दुःख में दुःखी और सुख मे सुखी होते देखा गया है।

बारह मासा और षड्ऋतु वर्णन लिखने की परम्परा उद्दीपन रूप का ही परिणाम है।—

सयोग के समय प्रकृति के साथ सामजस्य दिखलाते हुए प्रसाद जी वर्णन करते हैं —

निश्चिन्त आह! वह था कितना
उल्लास काकली के स्वर मे।
आनन्द प्रतिध्वनि गूज रही
जीवन दिगत के अम्बर मे॥

प्रसाद काम सर्ग

× × × ×

सृष्टि हसने लगी आँखों मे खिला अनुराग,
राग रजित चन्द्रिका थी, उडा सुमन पराग।

प्रसाद वासना सर्ग

उधर पन्त जी वियोगावस्था का चित्रण करते हुए प्रकृति में भावनाओं का आरोप करते हैं। जिनकी पक्तियाँ पढकर सहसा सूर की पक्तियाँ "निसि

दिन बरसत नैन हमारे। सदा रहत पावस ऋतु हम पर जब तें स्याम सिधारे।" याद आ जाती हैं।

मेरा पावस-ऋतु-सा जीवन,
मानस सा उमड़ा अपार मन,
गहरे धुंधले, धुले, साँवले,
मेघों-से मेरे भरे नयन।

मनुष्य ने प्रकृति के कार्य-कलापों को अनेक रूप में आदर्श मानकर उससे बल, ज्ञान, श्रम और संतोष ग्रहण किया है। पर्वत, पवन, सरिता, वृक्ष सभी हमको निरन्तर उपदेश प्रदान करते रहते हैं :—

चींटी से परिश्रम—

देखो, ना, किस भाँति
काम करती है यह सतत ?
कन कन करके चुनती अविरल !

पन्त-चींटी

पतझड़ से आशावाद—

कंकाल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर, पल्लव लाली !

पन्त-पतझड़

प्रसाद जी भी अणुओं से उपदेश भी ग्रहण करते हैं :—

अणुओं को है विश्राम कहाँ
यह कृतिमय वेग भरा कितना,
अविराम नाचता कंपन है,
उल्लास सजीव हुआ कितना है !

प्रसाद-का० काम सर्ग

प्रकृति चित्रण के माध्यम से आध्यात्म भाव का निरूपण कर अपनी दार्शनिक विचारधारा कभी स्पष्ट करते चलना भी दोनों कवियों की विशेषता रही है।

निष्कम्प शिखा-सा वह निरुपम, भेदता जगत जीवन का तम,
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र वह सम।

× × × ×

गुंजित अलि सा निर्जन अपार, मधुमय लगता धन अन्धकार,
हलका एकाकी व्यथा भार ! पन्त एक तारा
है जग-जीवन के कर्णधार ! चिर जन्म-मरण के आरपार,
शाश्वत जीवन नौका विहार । पन्त नौका विहार

प्रसाद जी के लिए तो काव्य का प्रधान तत्व आध्यात्म ही है :—

महानील इस परम व्योम में
अतंरिक्ष में ज्योतिर्मान
ग्रह, नक्षत्र और सबका कण
किसका करते ये सधान

पन्त का प्रकृति से तादात्मय है, जबकि प्रसाद में प्रकृति केवल एक सोपान या माध्यम के रूप में भी चित्रित हुई है। प्रसाद के प्रकृति चित्रण की एक और विशेषता है कि प्रकृति कभी भी अकेली नहीं आती, मनुष्य सदा उसके साथ रहता है। हिमगिरि के श्रृंग से लेकर सरस्वती तक और सारस्वत देश से कैलाश तक सर्वत्र प्रकृति के साथ मनुष्य है। कहीं पर एक मनुष्य भींगे नयनों से उसे देख रहा है और कहीं वह स्वयं उसे हसती सी, पहचानी सी लगती है।

पन्त पर योरप का प्रभाव अधिक रहा। वर्डसवर्थ और शैली की डोर पर पन्त की कल्पना ने नृत्य किया, पत ने प्रकृति का सुकुमार, कल्पनामय, सचेतन व्यक्तित्व देकर चित्रण किया। प्रकृति चित्रण के वैविध्य की दृष्टि से पत सर्वश्रेष्ठ कवि मनाने जा सकते हैं। 'पल्लव' की कविताओं के सम्मुख कीट्स भी नत मस्तक प्रतीत होते हैं तथा ऐंद्रिय किशोर कल्पना के सहारे पन्त शैली से होड़ करते प्रतीत होते हैं।

दोनों ही प्रकृति के अनन्य प्रेमी हैं जिससे सफल प्रकृति चित्रण हुआ है। और जिसमें उनके हृदय की विशालता, निरीक्षण शक्ति तथा चित्रण की कुशलता दृष्टिगोचर होती है।

'आँसू' का प्रतिपाद्य

डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

'आँसू' का प्रकाशन सन् १६२५ म हुआ था। उसके प्रणयन को हम एक दो वर्ष पहले का मानकर प्रथम विश्व युद्ध और सन् २१ के भारतीय सत्याग्रह संग्राम से उत्पन्न निराशाजनक परिस्थितियों का परिणाम कह सकते हैं। सीधा उसका प्रभाव न भी मानें तो भी राजनैतिक असफलता की प्रत्येक क्षेत्र में हुई प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उसे प्रेम के क्षेत्र में भी अपना कार्य करते देख सकते हैं। वैसे प्रसाद के 'आँसू' विश्वकल्याण की कामना से धवलित होकर अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं। इस प्रकार आँसू मात्र विरह काव्य ही नहीं है, कवि ने विरह के विष को पीकर मस्ती की उपलब्धि की है और पलक-प्यालों का सौन्दर्य ही प्रेम का रूप लेकर प्रकट हुआ है। विषपायी भगवान भूतभावन शंकर की भाँति कवि ने विरह विष-पान के पश्चात् शिवत्व की जिस उच्च भूमि पर अपने काव्य को प्रतिष्ठित किया है वह निस्सन्देह अभिनन्दनीय है।

कवि की यह प्रौढ़ कृति है और छायावाद का प्रकाशस्तम्भ। छायावाद में लौकिक भावना को सूक्ष्म और अशरीरी प्रसाधनों से अलौकिक बनाने की चेष्टा है। 'आँसू' उसी का विकसित रूप है। छायावाद के प्रवर्तक प्रसाद ने 'झरना' काव्य में जिस नये पथ को ग्रहण किया था उसे 'आँसू' में प्रशस्तता मिली है। इस प्रकार 'आँसू' का ऐतिहासिक महत्व बहुत बड़ा है और उस काव्य का अनुकरण भी हिन्दी में बहुत अधिक हुआ है। पीछे चलकर बच्चन की 'मधुशाला' ने जो हलचल मचाई थी वही 'आँसू' के प्रकाशन ने भी, पर बच्चन की 'मधुशाला' में भौतिक तत्वों की प्रधानता रही जबकि 'आँसू' ने आध्यात्मिक सुख की सीमा को स्पर्श करने का प्रयत्न किया। 'आँसू' ने द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता के विरोध में अपना भावनात्मकता को सफलता के साथ खड़ा किया और विजयश्री ने उसे ही वरण किया।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में प्रसाद की प्रेमवेदना को एक ओर लोक कल्याणोन्मुख और दूसरी ओर व्यक्तिगत भावना से अतिरंजित देखकर अपना मत दिया है—"वेदना की कोई

निर्दिष्ट भूमि न होने से सारी पुस्तक का कोई समन्वित प्रभाव नहीं निष्पन्न होता।" (हि० सा० का इतिहास पृष्ठ ६८१) आचार्य शुक्ल का यह मत 'आँसू' के प्रथम संस्करण पर ही आधारित जान पड़ता है अन्यथा द्वितीय संस्करण में लोक कल्याणोन्मुख प्रवृत्ति ही प्रधानता ग्रहण कर लेती है। वैसे समन्वित प्रभाव उस समय की असमन्वित स्थिति में संभव नहीं हो सकता था। स्वयं आन्तरिक और बाह्य जीवन में कवि की स्थिति समन्वित नहीं थी। व्यक्तिगत प्रेम को लोक के साथ मिलाने की परम्परा रीतिकाल से तुम चली आ रही थी और प्रसाद के समय में भी रीतिकालीन वाणी में ही कविगण अपनी बात कह रहे थे। प्रमाण लेना हो तो रत्नाकर जी का 'उद्धव शतक' ले सकते हैं, जिसमें उनके जीवन व्यापी शृंगार की भावना ही मूर्त हो उठी है। रत्नाकर के उद्धव शतक के विषय में मुक्तक और प्रबन्ध पर विवाद चलता आया है और अन्त में यह निष्कर्ष भी निकला है कि वह मुक्तक होते हुए भी प्रबन्ध काव्य है क्योंकि उसमें उद्धव के जाने से पूर्व यमुना में प्राप्त कमल से राधा की स्मृति का जगना तथा ब्रज में उद्धव का भेजना और उद्धव के ज्ञानगर्व रहित होकर लौटने पर कृष्ण का उसी स्मृति में डूब जाना भावना के ऐक्य का सूचक है। यही बात प्रसाद के 'आँसू' के दूसरे संस्करण के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। प्रारम्भ में प्रिय की स्मृति से उत्पन्न मनोदशा, फिर प्रिय का रूप-सौन्दर्य वर्णन, तत्पश्चात् प्रेमवेदना का मूर्तीकरण और अन्त में विश्व के प्रति सहानुभूतिशीलता ये चार खण्ड 'आँसू' की भावकथा के हैं। मंगलाचरण में जो घनीभूत पीड़ा आँसू बनकर दुर्दिन में बरसने को उद्यत हुई है वही भरत वाक्य-स्वरूप अन्तिम छन्द में विश्व के सुख रहित जीवन में प्रभात के हिमकन-बनकर बरसने की कामना से युक्त है। यों आँसू में एक निश्चित क्रम है। आचार्य श्री विनयमोहन शर्मा ने ठीक ही लिखा है—"आँसू की आत्मा को देखने पर उसमें तारतम्य जान पड़ता है अतः प्रबन्धमय है। पर आँसू के अनेक पद्य ऐसे भी हैं कि उन्हीं पर मन को केन्द्रित करने से वे प्रत्येक अपने में 'पूर्ण' प्रतीत होते हैं। इस तरह 'आँसू' उस 'मोतियों' की लड़ी के समान है, जिसका प्रत्येक मोती अलग रह कर भी चमकता है और लड़ी के तार में गुँथ कर भी 'आब' देता है। वस्तुतः उसमें 'मुक्तत्व' और 'प्रबन्धत्व' दोनों हैं।" (*कवि प्रसाद आँसू तथा अन्य कृतियाँ* पृष्ठ ७१)।

आँसू की प्रेमवेदना का स्वरूप स्थूल नहीं है। उसमें प्रतीक (Symbols) और सांकेतिकता (Suggestiveness) की इतनी अधिकता है कि उसे दार्श-

निक कहने को जी चाहता है। लेकिन ऐसा कह देना प्रसाद के प्रति अन्याय है। प्रसाद का काव्य मानवोपेक्षी है। 'कामायनी' तक, जिसमें कि दार्शनिकता का प्राधान्य है, मानवीय भावनाओं की ही गाथा गाती है। उसके शैवदर्शनाश्रित रहस्यवाद का लक्ष्य भी मानव जीवन की सफलता को निर्दिशित करना है। मानव के प्रति प्रसाद की तीव्र ममता का ही यह परिणाम है कि प्रसाद के काव्य में प्रकृति ने कभी स्वतन्त्र स्थान प्राप्त नहीं किया। वह सदैव मानवीय भावों से घुली मिली ही आई है। अभिप्राय यह कि प्रसाद मानवात्मा के कवि हैं। 'मानव तुम सबसे सुन्दरतम' का जो निष्कर्ष पन्त ने अपनी 'मानव' शीर्षक कविता में दिया है उसका विराट दर्शन और व्यापक चित्र दोनों प्रसाद के काव्य में पग पग पर मिलते हैं।

प्रसाद में मानव के प्रति इस मोह का कारण उनके व्यक्तिगत जीवन की संघर्षशीलता है—वह संघर्षशीलता, जिसने उन्हें भौतिकता से पीड़ित विश्व को 'कामायनी' की चिन्तामणि दान करने की प्रेरणा दी। जीवन को उन्होंने 'योद्धा की भाँति *जिया और जीवन के एक मात्र आधार प्रेम की गहरी अनुभूति* की रसायन से अपने काव्य को कुन्दन बना दिया। 'आँसू' में विरह का जो रेशमी पट बुना है, उसके लिये उनका निष्ठुर प्रेम पात्र ही उत्तरदायी है। वह प्रेमपात्र लावण्य शैल को राई सा तुच्छ सिद्ध करने वाला और सौन्दर्य का केन्द्र था। वह जीवन की गोधूलि में—किशोरावस्था और यौवनावस्था के सन्धिकाल में—शशि मुख पर घूँघट डाले अर्थात् रहस्य में लिपटा हुआ और अंचल में दीप छिपाये अर्थात् प्रेम और आकर्षण की भावना का प्रकाशन करता हुआ कौतूहल सा अर्थात् सहज भाव से आया था लेकिन वह कवि के साथ न रह सका। कवि उसे जीवन में पूर्णरूपेण प्राप्त न कर सका। या 'परिरम्भ कुम्भ की मदिरा' 'निश्वास मलय के झोंके' और 'मुखचन्द्र चाँदनी' का अनुभव उसने किया पर भी वह छलना ही, जिसे पागल प्रेमी की भाँति कवि ने सत्य मान लिया था। अपने इस प्रेम पात्र के सौन्दर्य को कवि ने रातिकालीन नखशिख-शैली में वर्णन करते हुए भी उसमें नवीनता की छटा प्रदर्शित की है। वह प्रेम पात्र एक ऐसी लकीर के समान अमिट बनकर हृदय में समा गया, जो लाखों में अलग दिखाई देती है। सूर की गोपियों की भाँति कवि का संयोग पक्ष नगण्य है पर विरह का विस्तार अपार है। होना भी चाहिए। जिसकी प्राप्ति के लिए निर्जन रात्रि में तारों के दीप जलाये गये हों, स्वर्गंगा की धारा में उपहार चढ़ाये गये हों और जो दिव्य आत्मा की भाँति ऊपर से नीचे मिलने को आया हो ऐसे प्रातः

कालीन स्वप्न की भाँति सत्य और जन्मजन्मान्तर के सुपरिचित को खो कर यदि कवि का मानस आँसू में परिवर्तित न हो जाय तो और क्या होगा !

प्रसाद ने अपने प्रेम पात्र के मिलन-काल की स्थिति का चित्र रतिक्रीड़ा के विवरण से संयुक्त नहीं खींचा प्रत्युत मानव जीवन की मनोवैज्ञानिक स्थितियों को ही मुखर किया है। इसीलिए वह सनातन और सार्वभौम है। प्रेमी को प्रेम पात्र ही इस असार संसार में सत्य और एकमात्र जीवनसंगी दिखाई देता है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता, चेतना पर उसी का पूर्णाधिकार हो जाता है, वह सूने और उजड़े जीवन का बसन्त बनकर आता है। मादकता बनकर आनेवाला वह छलिया जब जाता है तो आदमी की आँखें खुल जाती हैं और वह उतरे हुए नशे की बेचैनी अनुभव करता है। आदि बातें ऐसी ही हैं जो सबके जीवन में घटित होती हैं। प्रसाद की दृष्टि तटस्थ अधिक है। तटस्थ का अर्थ है संयमित होना। लेकिन इस संयमित दृष्टि में उनके हृदय का रस कहीं नहीं छूटने पाया। बुद्धि को हृदय ने सदा साथ रखा है। आँसू की यह विशेषता अद्वितीय है।

कवि ने बार बार अपने प्रेम पात्र को स्मरण किया है और अपने अन्तर की विरह व्यथित दशा का विभिन्न प्रकार से अंकन किया है। विरह से तड़पता कवि का कोमल हृदय उस मादक और मोहमयी क्रीड़ा की याद से काँप जाता है, जीने में सार नहीं जान पड़ता है, हृदय समाधि बन गया है, चातक की पुकार और कोकिल की काकली की भाँति उसकी करुण कथा रुलाने वाली है, कोई उसकी करुण दशा पर ध्यान नहीं देता उल्टे उसके हृदय को विद्ध करके उपेक्षा करते हैं, हृदय के शून्य में उद्विग्नता की झंझा, कसक की बिजली और घोर निराशा है। ऐसे समय में रसबूँदें बरसाने वाले की याद आई है और कवि का मन उमड़ने लगा है। दिवा-स्वप्न देखने वाले की भाँति कवि ने अनेक चित्र इसी प्रकार से अपने आँसुओं से अंकित किये हैं। वे कितने स्पष्ट हैं। इसका आभास नीचे के छन्दों से होगा—

हीरे-सा हृदय हमारा
कुचला शिरीष कोमल ने
हिम शीतल प्रणय अनल बन,
अब लगा विरह से जलने—
अलियों से आँख बचाकर
जब कुंज संकुचित होते

धुँधली संध्या, प्रत्याशा
हम एक-एक को रोते

प्रकृति में कवि ने प्रात, संध्या, रात्रि आदि के दृश्यों का अङ्कन अपनी विरहानुभूति के संदर्भ में ही किया है। सभी ऋतुओं के उपकरण लेकर उसने अपने मन की व्यथा व्यक्त की है। वह किसी समय या ऋतु का सकेतात्मक चित्र देते समय या उपकरण विशेष का वर्णन करते समय अपने को नहीं भुला पाता—नीचे के छन्दों में पहले में वसन्त की रात्रि के पिछले पहर में विकसित होकर प्रभात में मुरझाने वाले शिरीष कुसुम का चित्र है तो दूसरे में संध्या के लाल पीले बादलों के ऊपर विजय प्राप्त करते अन्धकार का। पहले दृश्य से अपनी साधर्म्य भावना और दूसरे से सुख के प्रयत्नों के पश्चात् दुःख का आगमन सूचित है—

१ कुसुमाकर रजनी के जो
पिछले पहरों में खिलता
उस मृदुल शिरीष सुमन सा
मैं प्रात धूल में मिलता ।।
२. जब शान्त मिलन संध्या को
हम हेम जाल पहनाते ।
काली चादर के स्तर का
खुलना न देख हम पाते ।।

आँसू काव्य का प्रणयन प्रसाद ने जिस मनोदेशा में किया है वह विभिन्न प्रकार की रही है। स्थल और समय विशेष पर कवि की भावना उमड़ी है और उसमें वह हृदय की व्यथा व्यक्त कर गया है। 'आँसू' के चतुर्थ संस्करण में पृष्ठ ४० पर नाविक को सम्बोधित कर जो कुछ कहा है वह उनके नौका विहार के क्षणों का लेखा-जोखा है। एकाकी नौका में बैठा कवि कहता है—

नाविक ! इस सूने तट पर
किन लहरों में खे लाया ।
इस बीहड़ बेला में क्या
अब तक था कोई आशा ?
उस पार कहाँ फिर आऊँ
तम के मलीन अंचल में
जीवन का लोभ नहीं, वह
वेदना छद्म के छल में ।

यह कह कर वह जिस मार्ग से आया है उसका नष्ट हो जाना इंगित करता है और आँसू नद से हृदय-रूपी मरुस्थल को आल्पावित बताता है, शून्य आकाश के नीचे शक्ति और सहारे से रहित होकर अपने को अपदार्थ तैरने में असमर्थ बताता है। यहाँ तक तो वह नौका की ही बात करता है लेकिन आगे चल कर वह नौका की बात तो भूल जाता है और प्रेम द्वारा निराशा में पड़े मन की नैय्या को आँसू की धारा में निराधार रूप से—अनिर्दिष्ट पथ पर खेये जाने की बात कहने लगता है। अभिप्राय यह कि प्रकृति का वर्णन करते-करते कवि अपनी व्यथा में डूब जाता है। 'आँसू' में पाठक को अस्पष्टता का जो आभास मिलता है उसका एक बड़ा कारण यही है कि कवि प्रत्येक दृश्य को अपनी करुणा या वेदना से ही अनुरंजित नहीं देखता प्रत्युत उसको भूमिका रूप में लेकर अपनी व्यथा कथा कहने लग जाता है। पृष्ठ ४४ पर कलियों का वर्णन यों किया गया है—

मत कहो कि यही सफलता
कलियों के लघु जीवन की
मकरन्द भरी खिल जायें
तोड़ी जायें बेमन की
यदि दो घड़ियों का जीवन
कोमल वृन्तों पर बीते
कुछ हानि तुम्हारी है क्या
चुपचाप चू पड़े जीते।

इतना कह कर कवि झट उसमें अपने भावों का आरोप कर प्रेमी की निष्ठुरता की व्यंजना करने को कह उठता है—

सब सुमन-मनोरथ अंजलि,
बिखरा दी इन चरणों मे
कुचलो न कीट सा, इनके
कुछ है मकरन्द कणों मे

आगे चलकर काल के पट पर सुख दुख की कहानी के अंकित होने, दुख-सुख के क्रमिक परिवर्तन के साथ संसार के आगे बढ़ने और गत को न देखने के सत्य का उद्घाटन कर सुख दुख में सामञ्जस्य की स्थापना की कामना करता हुआ जीवन दर्शन देता है—

मानव जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का
दुख सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।

इस प्रकार भावना की तरंग सी उठती है और कवि दस बीस छन्द कहता चला जाता है। उनमें प्रकृति से समन्वित छन्द भी होते हैं और शुद्ध भाव व्यंजना भी। तारतम्य न मिलने की जो बात 'आँसू' के विषय में कही जाती है वह इसीलिए कि एक भावना कुछ दूर जाकर दूसरी में पर्यवसित हो जाती है। पाठक सोचता है कि अभी तो अमुक बात कही जा रही थी अब यह क्या कहने लगे? लेकिन यदि गंभीर मानस की रह रह कर कसक उठने वाली पीड़ा की गतिविधि समझ ली जाय तो यह शंका न उठे।

'आँसू' का दार्शनिक तत्व क्या है, यह आँसू के अन्तिम भाग में स्पष्ट होता है। यदि एक शब्द में कहें तो करुणा, वेदना या व्यथा ही वह दर्शन है जिस पर प्रसाद बल देना चाहते हैं। प्रसाद जी पर बौद्ध दर्शन की गहरी छाप है, यह सर्वमान्य है। कवि की विकल वेदना चौदहों भुवनों में फिर आई पर उसे न तो कहीं सुख मिला और न जीवन में विश्राम के दर्शन हुए। विश्राम का स्थान उच्छ्वास और आँसुओं ने ले लिया है और रोते रोते लग जाने वाली आँखों को स्वप्न दर्शन भी नहीं होता। ऐसी स्थिति में निशा से कवि का विनम्र अनुरोध है कि वह नभ के आँगन में नीलिमा की शैया पर बैठी अपने अन्धकार के घन से विस्मृति का मकरन्द बरसा दे और आलोक माँगने वाली चिर दग्ध दुखी वसुधा को और सुलाने के लिए तुहिन कण बरसा दे। कारण, विस्मरण की स्थिति में ही मनुष्य का कल्याण है। तब न सुख की चिन्ता रहेगी न दुख की। तब जीवन का समुद्र चेतना तरंग रहित हो जायगा और सृष्टि और प्रलय की समाप्ति। इसके पश्चात् विच्छेद मिलन में परिवर्तित हो जायगा। भाव यह कि कुछ दिन शून्यता रहने के पश्चात् जब नई सृष्टि होगी तो मिलन स्वाभाविक रहेगा। 'कामायनी' में चिन्तित मनु भी विस्मृति और अवसाद का आह्वान करके नीरवता से चुप करने और चेतना से जाने तथा जड़ता से अपने अभाव-ग्रस्त हृदय को पूर्ण करने की प्रार्थना करते हैं—

विस्मृति आ, अवसाद घेर ले
नीरवते बस चुप कर दे।
चेतनते चलजा, जड़ता से
आज शून्य मेरा भर दे।

घोर दुःख में विस्मृति ही एक मात्र सुखदायी होती है अतः कवि उसमें ही अपनी मुक्ति देखता है। न सज्ञा रहेगी और न वेदना का अनुभव होगा। न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। लेकिन कवि की वेदना निरन्तर तीव्रता प्राप्त करती चली जाती है। किसी प्रकार प्रेम पात्र की स्मृति विस्मृति के गर्भ में लीन नहीं होती। जब सूरज, चाँद, सितारे अदृश्य हो जाते हैं, और बिजली बादल में छिप जाती है तब भी विश्वरूपी मंदिर की मणिदीप सदृश यह वेदना अन्तर्ज्वाला प्रकाश पुंज लिये जगती रहती है; अथाह सागर के तट पर खड़े पर्वत को शीश पर उठाये इस निस्तब्ध आकाश के नीचे सुप्त ज्वालामुखी जब शान्त पड़ा रहता है तब भी कवि की अन्तर्ज्वाला जलती रहती है। वस्तुतः वह व्यथित विश्व के पतझड़ को बासन्ती छटा से युक्त बनाने वाली है। वह सदासुहागिन है और मानवता का शृंगार है। यह वेदना, यह ज्वाला, यह व्यथा ही मनुष्य को मनुष्य बनाने वाली है। वह बड़ा भाग्यशाली है, जिसे यह मिल जाय। कवि ने अपनी उस ज्वाला के कारण दुखी संसार को अपने समीप समझा है—

तेरे प्रकाश में चेतन—
संसार वेदना वाला
मेरे समीप होता है
पाकर कुछ करुण उजाला।

उसके कारण दुखी प्राणी परिचित से लगते हैं और वे रुदन का मूल्य चुकाने के लिए सब कुछ स्वीकार करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। बिना इस कल्याणी शीतल ज्वाला के संसार में सहृदयता का प्रवेश नहीं हो सकता इसलिये कवि कहता है—

निर्मम जगती को तेरा।
मंगलमय मिले उजाला।
इस जलते हुए हृदय की
कल्याणी शीतल ज्वाला ?

प्रसाद के लिए यह चिर जीवन-संगिनि और अश्रुमय रंगिणि दुख-दग्ध हृदय की वेदना सर्वाधिक महत्त्व की वस्तु है। प्रेम से उत्पन्न इस वेदना को कवि ने जीवन, मृत्यु और अमरता का आधार बताकर विश्व को नवजीवन देने वाला कहा है। वह चाहता है कि उसकी आहें जागरण का गीत बन जायें, स्वप्न सत्य में परिवर्तित हो जायँ और निराशा आशा का रूप ले ले। आँसू की वर्षा से सुख दुख दोनों हरे रहें और उसके कारण हृदय की सरिता में जीवन

को पावनता प्लावित होने लगे। यह प्रसाद का शैवागमों से प्राप्त आशावाद है जो बौद्ध दर्शन के दुःखवाद के समानान्तर चलता है। इसी से दुःख सुख में सामंजस्य होता है। व्यष्टि और समष्टि की एकता का रूप यही है। इसी को और अधिक गहरा करने के लिये वे अपनी मन की पीड़ाओं को पुष्प सदृश हँसता देखने को उत्सुक होते हैं। न केवल मनुष्य वरन् कुमुदों का शशि के लिये रुदन, जलनिधि का शशि छूने को मचलना, शैलमालाओं की व्यथा, कलियों की पीड़ा, निराश और दुःखी प्राणियों की उदासी, शुष्क सरिता का हाहाकार लघुदीप का रात भर जलकर बुझ जाना आदि जड़ चेतन सभी पदार्थों में वह अपनी वेदना को यथार्थ प्रेरित करता है ताकि सब के अभाव पूर्ण हो सकें। केवल अकेले को ही वेदना मरहम न बने वरन् समस्त विश्व का जीवन उससे सरस हो जाय और आँखों के आँसुओं की दो बूँदें सब की पंकिलता को हर लें। विश्व बन्धुत्व की इस कामना के साथ 'आँसू' समाप्त होता है। जैसे चट्टान को फोड़कर निकली जल धारा बहुत देर तक पर्वत में लुकती छिपती है और अपने जनक के मोह को छोड़ने में असमर्थ होकर उसी में लीन होने को विकल हो जाती है परन्तु पर दुःख-कातर पर्वत उसे मैदान में बहते हुए जन समुदाय की हित साधिका बनने की प्रेरणा देकर आगे ठेलता देता है, जिससे वह कर्त्तव्य परायणता से तृप्ति लाभ करती महासागर की गोद में लीन हो वैसे ही प्रसाद के गंभीर हृदय से निकले हुए आँसुओं की यह धारा रह रह कर उनके मानस को मथती रही है और उसके हर कोने को अपना निवास बनाने को उत्सुक बनी है परन्तु प्रसाद ने उसे पावनता, व्यापकत्व और गाम्भीर्य देने के लिये जन-कल्याण के लिये प्रेरित कर दिया है, जिससे कि वह अमर होकर युग-युग तक अपनी शीतलता से मानव की प्रेम वेदना को मुखरित करती रहे।

'आँसू' का प्रतिपाद्य यही है। लेकिन यदि आँसू की भाषा शैली के सम्बन्ध में विचार न किया जाय तो आँसू का प्रतिपाद्य विषयक विवेचन अधूरा ही रहेगा। कारण जैसे रीतिकालीन श्रृंगार का एकांगिता और स्थूलता पर आँसू की सार्वभौम वेदना और सूक्ष्मता ने विजय पाकर अनुभूति पक्ष को नई दिशा दी वैसे ही उसकी भाषा शैली ने भी लाक्षणिक प्रयोगों, सांकेतिक अभिव्यंजनाओं और प्रतीकात्मक भाव चित्रों से नवीन पथ निर्माण किया। अस्तु।

प्रसाद का व्यक्तित्व गंभीर था और वे प्रेम और सौन्दर्य के चित्रकार

थे। बहुधा प्रेम और सौन्दर्य के चित्रण में गंभीर स्वभाव वालों की रुचि नहीं होती और यदि होती भी है तो वे उसे बड़ी ही सावधानी के साथ लेते हैं। प्रसाद ने भी वही किया। अपने प्रथम प्रेम की असफलता से उत्पन्न स्थिति के प्रकाशन में उन्होंने संयमित कला को ग्रहण किया है। यह कला रीतिकालीन रूप सौंदर्य के स्पष्ट चित्रों से भिन्न है। दूसरा कारण यह है कि द्विवेदी युगीन पवित्रतावादी प्रवृत्ति का भी प्रसाद को भय था। रीतिकालीन, अश्लीलता और द्विवेदी युगीन पवित्रता के बीच ऐसी रचना करना प्रसाद का ध्येय था जो प्रेम और सौंदर्य का आदर्श रूप प्रस्तुत कर सके। इस प्रकार उनकी रचना नितान्त मौलिक पथ का अनुसरण कर आगे बढ़ी।

उन्होंने अपनी व्यथा को विश्व में व्याप्त देखा है। जब मनुष्य दुखी होता है तो उसे सर्वत्र अपना ही दुख दिखाई देता है। प्रकृति के समस्त उपादान उसी में रंगे दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिये मलयानिल कवि को इसलिये विकल और आह भरता दिखाई देता है कि उस मधु सौरभ (प्रिय के सौन्दर्य) की अनुभूति उसको हो चुकी है और समुद्र मानो दुखी वसुधा के खारे आँसुओं का ही बना है—

व्याकुल उस मधु सौरभ से
मलयानिल धीरे-धीरे
निश्वास छोड़ जाता है
अब विरह तरंगिनि तीरे

× × × ×

नीचे विपुला धरणी है
दुख भार वहन-सा करती
अपने खारे आँसू से
करुणा का सागर भरती

कभी विरही को अन्य सब सुखी दिखते हैं और स्वयं को वह सर्वाधिक अभागा अनुभव करता है। जो विरोध या (Contrast) द्वारा भी कवि अपनी व्यथा प्रकट करता है। नीचे के छन्द में चकित होकर पुकारने वाला चातक और श्यामा (कोकिल) की रसीली ध्वनि एक ओर है और कवि की अश्रुसिक्त करुणा क्या दूसरी ओर है—

चातक की चकित पुकारें
श्यामा-ध्वनि सरस रसीली

मेरी करुणाद्र कथा की
टुकड़ी आँसू से गीली।

इसी प्रणाली से कभी वह अपने में नव प्रेरणा भी भरता है। विरह में व्यथित वह टूटते तारे से यह पाठ पढ़ना चाहता है कि इस दुःख के समय में वह आँखों में आँसू न लाये—

अपने आँसू की अंजलि
आँखों से भर क्यों पीता
नक्षत्र पतन के क्षण में
उज्ज्वल होकर है जीता

विरोधाभास अलंकार को भी उन्होंने अपने ढंग से अपनाया है। 'शीतल ज्वाला जलती है ईंधन होता दृग जल का' या 'आँसू से धुला निखरता, यह रंग अनोखा कैसा' में उसी की झलक है। कहीं-कहीं प्रतीकात्मकता और विरोधाभास दोनों को एक करके भी नवीनता उत्पन्न की है। जैसे—

है चन्द्र हृदय में बैठा
उस शीतल किरण सहारे
सौन्दर्य-सुधा बलिहारी
चुगता चकोर अंगारे

यहाँ चन्द्र (प्रेम पात्र) शीतल किरण (सुखद सौंदर्य) चकोर (प्रेमी) अंगारे (विरह वदना) के प्रतीक हैं। ऐसा सुन्दर प्रेमपात्र हृदय में है फिर भी प्रेमी कष्ट पाता है, यह विरोधाभास है।

कभी-कभी अपनी विषाद मयी स्थिति के चित्रण के लिये कवि जल थल और नभ तीनों को एक साथ ले लेता है—

बुल-बुले सिन्धु के फूटे
नक्षत्र मालिका टूटी
नभ मुक्त-कुन्तला धरणी
दिखलाई देती लूटी

यहाँ समुद्र में बुदबुदों का उठना, आकाश से नक्षत्रों का टूटना और नभ रूपी खुले बालों वाली धरिणी का लुटा हुआ रूप प्रत्यक्ष है इसके साथ प्रतीकात्मक अर्थ भी निहित है जो इस प्रकार है "बुलबुले उमंगे हैं, सिंधु हृदय है, नक्षत्र मालिका आँसू है, नभ मुक्त कुन्तलाधर ही कवि का विषाद मय अभाव पूर्ण जीवन है।

लक्षणा और प्रतीक का कवि सर्वत्र प्रयोग करता है। रूपक, रूपकातिशयोक्ति और उपमा उसके अन्य प्रिय अलंकार हैं। विरोधाभास की बात तो कही ही जा चुकी है। वह 'शीतल ज्वाला' या 'कठोर कोमलता' में ही नहीं है प्रतीकों के साथ पूरे छन्द में भी है। बहुधा ऐसा भी होता है कि कवि प्रथम दो या तीन पंक्तियों में सीधी सादी बात कहता है और अन्तिम पंक्ति में एक प्रतीक रखकर पूरे छन्द को अलौकिक कर देता है। ऐसा प्रकृति वर्णन में अधिक होता है। कहीं-कहीं अमूर्त और मूर्त उपमान एक ही छन्द में साथ चलते हैं जिनसे नवीनता आ जाती है। जैसे—

> अभिलाषा के मानस में,
> सरसिज- सी आँखें खोलो,
> मधुपों से मधु गुंजारो,
> कलरव से फिर कुछ बोलो,

यहाँ 'अभिलाषा के मानस' के अतिरिक्त और सब मूर्त उपमान हैं। कवि का अभिप्राय है कि मेरे अभिलाषाओं से पूर्ण हृदय में तुम कमल-सी आँखें खोलो, मधुपों-से गुंजन करो और कलरव से बोलो। अभिप्राय यह कि मेरा हृदय तुम्हें इस रूप में देखने की अभिलाषा रखता है।

सारांश यह है कि आँसू की शैली में रीतिकालीन अलंकारिक शैली और छायावादी लाक्षणिक मूर्तिमत्ता दोनों का गंगा यमुनी संगम है। वह भावानुमोदित है पर किसी निश्चित रूपरेखा से नहीं इसीलिये प्रत्येक छन्द अपने प्रभाव को हृदय में उतारने में सफल है। कहीं कहीं भाषा में व्याकरण दोष भी है पर वे नगण्य हैं। अर्थ गाम्भीर्य की दृष्टि से 'आँसू' अपना विशिष्ट स्थान रखता है। हम समझते हैं कि उसकी अनुभूति की गहराई और अभिव्यक्ति का कलात्मक होना दोनों ने एक साथ मिलकर ही 'आँसू' को सहृदयों का हृदय हार बना दिया है।

कामायनी का रचना-विधान

डा० रामानन्द तिवारी शास्त्री एम० ए०, डी० फिल्०,

अँग्रेजी के प्रसिद्ध दार्शनिक और साहित्यकार बर्नार्ड बोसान्क्वेट (Bernard Bosanquet) ने अपने 'सौ दर्य शास्त्र के इतिहास" (A History of Aesthetic) म दान्ते के महान् ग्रन्थ "डिवाइन कौमेडी' (Divine comedy) की एक महत्वपूर्ण विशेषता की ओर संकेत किया है। बोसान्क्वेट के अनुसार 'डिवाइन कौमेडी' को काव्य अथवा साहित्य को किसी भी परिचित और परम्परागत विभाग में सम्मिलित करना कठिन है। (पृष्ठ १५२-१५३)। डिवाइन कौमेडी का साहित्यिकरूप पूर्णत निराला और अपूर्व है। सामान्यत 'डिवाइन कौमेडी' का रूप काव्य कहा जा सकता है, क्योंकि वह छन्दोबद्ध कविता की शैली म है। किन्तु इस प्रकार कविता की शैली म नाटक भी लिखे गये हैं। शेक्सपियर के सभी नाटक कविता की पद्यमय शैली में हैं। छन्दोबद्ध काव्य एक बड़ी और व्यापक कोटि है। नाटक, महाकाव्य, गीतिकाव्य, नीतिकाव्य आदि अनेक श्रेणियाँ इस व्यापक कोटि के अन्तर्गत हैं। इन में से किसी भी एक श्रेणी में, "डिवाइन कौमेडी" का सम्मलित नहीं किया जा सकता।

स्वय दान्ते ने अपने ग्रन्थ को कौमेडी का नाम दिया है। किन्तु उसे प्रचलित अर्थ में कौमेडी कहना अधिक उचित नहीं है। कौमेडी नाटक का एक रूप है, जो सुखान्त होता है। "डिवाइन कौमेडी" को नाटक नहीं कहा जा सकता। उस म नाटक की सन्धियों और एकताओं का समुचित निर्वाह नहीं है और न नाटक के समान क्रिया और चरित्र की प्रधानता है। दान्ते ने केवल सुखान्त होने के कारण उसका नाम कौमेडी रक्खा है। एक दूसरा कारण यह है कि "डिवाइन कौमेडी" प्राचीन ट्रेजडी की शिष्ट भाषा और गम्भीर शैली की तुलना म लोक भाषा की नम्र शैली म लिखी गई है। भाषा और शैली म प्राचीन ट्रेजडी से भिन्न होने के कारण भी दान्ते ने अपने ग्रथ को कौमेडी का नाम दिया। किन्तु यह स्पष्ट है कि जब वह नाटक नहीं है, उसे कौमेडी कहना उचित नहीं है। वह सुखान्त अवश्य है, किन्तु नाटक की किसी श्रेणी के अन्तर्गत नहीं है।

"डिवाइन कौमेडी" को महाकाव्य भी नहीं कहा जा सकता। अँग्रेजी में महाकाव्य को ऐपिक (Epic) कहा जाता है। पश्चिमी काव्य शास्त्र की परिभाषा के अनुसार ऐपिक एक उदात्त शैली की रचना है, जिसकी विभिन्न घटनाओं के अंग समग्र व्यवस्था में समवेत रहते हैं। "डिवाइन कौमेडी" में ऐसी समवेत व्यवस्था नहीं है। क्रिया के अभाव के कारण उसे रोमान्स कहना भी उचित नहीं है। उसे नीतिकाव्य कहना व्यर्थ है क्योंकि नीति का अभिधान उसका मुख्य उद्देश्य नहीं है। उसे गीतिकाव्य भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें कुछ गीत-तत्वों के रहते हुए भी ऐतिहासिक तथा अन्य तत्वों की प्रचुरता है।

किन्तु 'डिवाइन कौमेडी" कोई रूपहीन रचना नहीं है। उसमें अपनी एक व्यवस्था है। उसका एक निराला और अपूर्व रूप है। काव्य की परिचित श्रेणियों में गण्य न होते हुए भी वह एक अद्भुत काव्य है। व्यक्तिगत होते हुए भी उसके भाव का उद्देश्य सार्वभौम है। बोसांक्वेट के अनुसार व्यक्ति और विश्व के भागों के परिपूर्ण समन्वय की व्यंजना होने के कारण "डिवाइन कौमेडी" कला और काव्य के उत्कृष्टतम रूप का उदाहरण है। किसी परम्परागत श्रेणी के अन्तर्गत परिगण्य न होते हुए भी वह काव्य का एक अनन्य, अपूर्व और उत्कृष्ट रूप है।

हिन्दी साहित्य में जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' दान्ते की 'डिवाइन कौमेडी' के समान ही एक उत्कृष्ट और अनमोल कृति है। "डिवाइन कौमेडी" के समान ही 'कामायनी' का रूप भी असाधारण और अपूर्व है। आधुनिक हिन्दी आलोचना में सामान्यतः 'कामायनी' को एक महाकाव्य माना जाता है। 'कामायनी' में 'महाकाव्य' के अनेक गुण हैं। किन्तु वह महाकाव्य की परिभाषा के पूर्णतः अनुरूप नहीं है। वह सर्गबद्ध काव्य है तथा उसका कथानक पौराणिक अथवा ऐतिहासिक है। किन्तु उसका नायक धीरोदत्त नहीं है। 'कामायनी' का कथा भाग स्वल्प है। उसमें महाकाव्य के लिए अभीष्ट प्रभात, सन्ध्या, पर्वत आदि के वर्णनों के प्रसंग अवश्य हैं, किन्तु परिचित महाकाव्यों की भाँति वर्णनों का प्राधान्य नहीं है। वर्णन की प्रचुरता के कारण महाकाव्य की गति मन्थर होती है। 'कामायनी' के प्रबन्ध और भाषा दोनों में गतिशीलता बहुत है। इसके अतिरिक्त 'कामायनी' में गीतितत्व इतना अधिक है कि उसे महाकाव्य कहना जितना उचित है, उतने ही औचित्य के साथ उसे गीतिकाव्य कहा जा सकता है। 'निर्वेद' सर्ग के एक गीत तथा 'इड़ा' और 'दर्शन' सर्गों के पूर्णतः गीतिमय प्रबन्ध के अतिरिक्त 'कामायनी' के अन्य

सर्गों की शैली, भाषा भावपद्धति आदि महाकाव्य की अपेक्षा गीतिकाव्य के अधिक अनुरूप है। उसमें महाकाव्य के अनुरूप पात्रों, भावों और वर्णनों की मूर्तिमत्ता की अपेक्षा छायावादी गीतिकाव्य की शैली और भावभंगिमा अधिक है। अँग्रेजी 'एपिक' की मूलभावना तथा भव्य और अलङ्कृत शैली भी 'कामायनी' को असफल महाकाव्य कहना अनुचित है। कवि का उद्देश्य सम्पन्न किया परम्परा गत परिभाषा के अनुरूप महाकाव्य की रचना करना नहीं था, यद्यपि उसमें महाकाव्य के अनेक अंगों का निर्वाह हुआ है तथा सर्वत्र महान् काव्य का उदात्त और उच्च धरातल है।

यद्यपि 'कामायनी' के दो सर्ग (इड़ा और दर्शन) पूर्णतः गीतों में हैं, फिर भी कामायनी' पूर्णतः गीतिकाव्य नहीं है। यदि महाकाव्य के लिए 'कामायनी' का कथानक स्वल्प है तो गीतिकाव्य के लिए अधिक है। गीतिकाव्य भावना और संगीत प्रधान होता है। 'कामायनी' में दोनों तत्व पर्याप्त होते हुए भी क्रिया वार्तालाप, वर्णन और कथा का परिमाण इतना है, जितना गीतिकाव्य के अनुरूप नहीं है। अँग्रेजी के 'बैलड' (Ballad) में गीतितत्व और कथातत्व का समन्वय होता है—किन्तु बैलड का सौंदर्य उसकी लघुता में है। सम्पूर्ण 'कामायनी' को 'बैलड' कहना उचित नहीं है। दूसरे 'बैलड' एक लोक शैली की सरल कृति होता है 'कामायनी' की शिष्ट और गम्भीर शैली उससे विपरीत है।

'कामायनी' में वार्तालाप बहुत हैं, फिर भी उसे नाटक नहीं कहा जा सकता। नाटक के योग्य क्रिया और संघर्ष उसमें नहीं है। यद्यपि उसमें सन्धियों के नाटकीय क्रम का सूत्र अवश्य मिलता है। उसके आरम्भ, उत्कर्ष और परिणाम का नाटकोचित अनुक्रम है। फिर भी नाटक का भाँति क्रिया और व्यापार 'कामायनी' का सर्वस्व नहीं है। प्रसाद के नाटककार की प्रतिभा का पूर्ण वरदान 'कामायनी' को मिला है। फिर भी चिन्तन, वर्णन आदि का 'कामायनी' में जो स्थान है, वह नाटक में सम्भव नहीं है।

क्रिया प्रधान न होने के कारण अँग्रेजी काव्य विभाजन के अनुरूप उसे रोमांस भी नहीं कहा जा सकता। मनु और श्रद्धा के प्रारम्भिक मिलन में और सारस्वत प्रदेश के मनु के पराक्रम में बहुत कुछ रोमांस की भावना और क्रिया है। फिर भी 'कामायनी' के समान गम्भीर उदात्त और विचार प्रधान काव्य को रोमांस कहना उचित नहीं। 'कामायनी' में नीतितत्व बहुत है, किन्तु नीति उसका उद्देश्य नहीं है। अतः वह नीतिकाव्य भी नहीं है। सुखान्त और दुखान्त का निर्णय यदि फल के आधार पर ही किया जाता है, तब तो प्रसाद की गमी

रचनायें सुखान्त हैं। अन्यथा उनमें दुःख और करुणा का भी अंश बहुत है। प्रसाद के नाटकों की भाँति 'कामायनी' को भी सुखमय या दुःखमय कहना एकांगी कथन है।

अस्तु, परिचित और परम्परागत परिभाषा के अनुरूप 'कामायनी' को महाकाव्य, गीतिकाव्य, रोमांस, नाटक, नीतिकाव्य आदि किसी भी एक कोटि में परिगणित करना कठिन है। 'कामायनी' के रूप का यह लक्षण बहुत कुछ दान्ते की डिवाइन कौमेडी' के ही समान है। किन्तु दोनों में एक महान अन्तर है। 'डिवाइन कौमेडी' में काव्य की किसी भी कोटि के लक्षणों की प्रचुरता नहीं है। उन लक्षणों के पर्याप्त परिमाण में न मिलने के कारण ही बोसान्क्वेट ने उसे काव्य की यथायथ कोटियों से पृथक् किया है। किन्तु 'कामायनी' की गति इसके विपरीत है। वह पूर्णतः महाकाव्य, गीतिकाव्य, रोमांस, नाटक अथवा नीतिकाव्य नहीं है। फिर भी उसमें इन सबके लक्षण और तत्व प्रचुरमात्रा में पाये जाते हैं। इनकी प्रचुरता होते हुए भी वह किसी कोटि में नहीं है। 'कामायनी' में काव्य के सभी रूपों का (संकर नहीं) समन्वय है। यह समन्वय ही 'कामायनी' का अपूर्व रूप है। 'कामायनी' का यह अपूर्व रूप प्रसाद की सर्वतोमुखी प्रतिभा का वरदान है। वे एक महान् कवि, नाटककार, गीतिकार और नीतिकार थे। रोमांस की क्रिया उनके ऐतिहासिक नाटककार की ओर, भावना उनके छायावादी गीतिकवि की विशेषता थी। 'कामायनी' उनकी अंतिम रचना है। उसमें उनकी प्रतिभा की समस्त सम्पन्न शक्तियाँ और काव्य के समस्त रूपों का अद्भुत और अपूर्व समन्वय है। जहाँ 'डिवाइन कौमेडी' विभिन्न काव्य कोटियों के लक्षणों के अभाव के कारण किसी भी श्रेणी में परिगणित नहीं की जा सकती, वहाँ 'कामायनी' के उन लक्षणों की प्रचुरता होते हुए भी वह एक विलक्षण कृति है। महाकाव्य की उदात्तता, गम्भीरता और वर्णनात्मकता, गीतिकाव्य की भाव प्रवणता, तन्मयता और अगानमयता, नाटक की क्रिया, गति, वार्तालाप और सन्धियाँ, रोमांस की क्रिया, भावुकता और अल्पकथात्व तथा नीतिकाव्य की श्रेयशीलता, साधना और शिक्षा आदि काव्य के विविध रूपों के विविध तत्वों की प्रचुरता के समन्वय से सम्पन्न 'कामायनी' साहित्य की एक अपूर्व अद्वितीय और अनमोल विधि है।

———

कामायनी में व्यापक जीवन-दृष्टि

डा० विजयेन्द्र स्नातक

भारतीय दर्शन अध्यात्म मूलक होने के कारण व्यक्ति के आत्म विकास को प्रमुखता देते हैं। मूलत प्रत्येक व्यक्ति का विकास आत्म निष्ठ है। आत्म विकास के द्वारा ही समाज या समष्टि का विकास सम्भव है अत व्यष्टि साधना ही इन दर्शनों का प्रतिपाद्य रहा है, वेदान्त और योग दर्शन तो व्यष्टि-परक साधना के द्वारा ही आत्मज्ञान को स्वीकार करते हैं, साधना की दृष्टि से व्यक्ति की प्रमुखता उचित ही है, साधना के क्षेत्र म व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, व्यक्ति एक इकाई है अत व्यष्टि विकास को प्राथमिकता मिलना स्वाभाविक है। शैव दर्शन में भी साधना के क्षेत्र में, व्यक्ति का स्थान प्रमुख है, कायिक साधना का मेरु दड तो व्यक्ति होता ही है, मानसिक चिन्तन के क्षेत्र म भी समष्टि भावना को कोई स्थान प्राप्त नहीं है, नैतिक परिवेश म समष्टि का व्यष्टि से सम्पर्क है किन्तु वह दर्शन की गम्भीरता तक नहीं पहुँचता महाचिति शक्ति के परमानन्द म लीन होने वाला आत्मा व्यक्ति सत्ता का तब तक परिहार नहीं करता जब तक वह अपने सोपाधिक बधनों को उच्छिन्न नहीं कर लेता, अत शिवाकाक्षी साधक को आत्मनिष्ठ होकर ही परमात्म चिन्तन करना पड़ता है।

बौद्ध दर्शन म व्यक्ति सीमाओं को व्यापक रूप दिया गया है अत बौद्ध दृष्टि अन्य भारतीय दर्शनों से भिन्न है, व्यष्टि साधना के लिए तृष्णाक्षय या दुख समुत्पाद का विधान करते समय भी समष्टि मूलक करुणा को छोड़ा नहीं गया है। बुद्ध की शरण में जाने का विधान करते समय सघ और धर्म की शरण में जाने की अनिवार्यता व्यष्टि सीमाओं से बाहर व्यापक रूप से समष्टि का ही ग्रहण समझना चाहिए। गौतम बुद्ध के धर्म प्रवर्तन के साथ ही घोषित कर दिया था कि करुणा मूलक धर्म व्यक्तिगत कल्याण का अभिनिवेशी न होकर समुदाय का अभ्युदय लेकर आया है। गौतम बुद्ध का नैरात्म्यवाद इसका प्रेरक तत्त्व न था वरन् समष्टि विकास या प्राणिमात्र के कल्याण की व्यापक कल्पना ने इस तात्त्विक जीवन दृष्टि को गौतम के अन्त करण म उत्पन्न किया था। कामायनी की रचना करते समय तत्त्वदर्शी कवि प्रसाद ने वैयक्तिक आत्म विकास को सीमित दृष्टि

तथा समष्टि कल्याण की व्यापक दृष्टि के दोनों पक्षों पर विचार किया था। आस्तिक दृष्टि रखने वाले शैव उपासक के लिए यह प्रश्न बड़ा जटिल था कि वह व्यष्टि-साधना के परम्परानुमोदित अध्यात्मवाद को स्वीकार करे या व्यापक जीवन दृष्टि को अंगीकार करता हुआ वैयक्तिक विकास को उसका पोषक अंग बना कर काव्य सर्जन करे। निश्चय ही प्रसाद ने व्यापक जीवन दृष्टि स्वीकार करते हुए कामायनी में समष्टि सुख या सर्वभूत हित की भावना को प्रमुख स्थान दिया।

अध्यात्म विद्या के प्रतिपादक ग्रंथ उपनिषदों में व्यक्ति साधना विधान अपेक्षाकृत व्यापक आधार फलक पर हुआ है। व्यक्ति का साध्य तत्त्व केवल उसी का कल्याण करने वाला कोई सीमित भाव न होकर समष्टि कल्याण का प्रतीक है। उपनिषदों की आत्म साधना को प्रसाद ने इसी कारण ग्रहण किया कि उसकी व्यापकता ने उनकी व्यापक जीवन दृष्टि को प्रसाद के लिए पूर्ण अवकाश था, यदि वह संकुचित दृष्टि होती तो निश्चय ही उसे प्रसाद जी स्वीकार न करते। छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम प्रपाठक में नारद और सनत्कुमार संवाद के प्रसंग में भूमातत्त्व का विवेचन हुआ है, प्रसाद जी ने साधक के लिए इसी भूमातत्व को सुख का प्रतीक मानकर उपस्थित किया है। भूमा शब्द का शाब्दिक या व्युत्पत्तिपरक अर्थ व्यापकता या अतिशयता का द्योतन कराने वाला है। इसी व्यापक अर्थ को लक्ष्य करके प्रसाद जी ने 'भूमा का मधुमय दान' कामायनी के श्रद्धा सर्ग में प्रस्तुत किया है। उपनिषदों में प्रतिपादित 'भूमैव सुखमस्ति, नाल्पे सुखमस्ति' का तात्विक बोध प्रसाद जी को था अतः उन्होंने अद्वैत तत्त्व के साथ इसका सम्बन्ध स्थापित करते हुए इसी को श्रेयस्य माना। व्यष्टि विकास की भावना चाहे वह साधना की किसी भी उदात्त कोटि तक पहुंची हुई क्यों न हो—संकीर्ण दृष्टि ही है। समष्टि में व्यष्टि पर्यवसित होकर सबके सुख को अपना सुख मानने का आनन्द प्राप्त करता है अतः वही व्यापक जीवन दृष्टि सच्ची और यथार्थ दृष्टि है। 'भूतहित-मत्यन्तम्' मान कर चलने से जो व्यापक सुख वर्षा होता है व्यक्ति सीमाओं में आबद्ध आत्म चेतना से सम्भव नहीं है। अतः यह समझना कि प्रसाद ने कामायनी में किसी व्यक्ति विकास की भावना को स्थापित किया है या कामायनी का मन्तव्य व्यक्ति निष्ठ है, सर्वथा भ्रमपूर्ण और कवि के मन्तव्य के विपरीत है। अपने इस कथन की पुष्टि में कामायनी से कतिपय उद्धरण प्रस्तुत करना कदाचित् अप्रासंगिक न होगा।

श्रद्धा सर्ग में व्याकुल मनु को सांत्वना देती हुई श्रद्धा की उक्तियों में एक

व्यापक जीवन दृष्टि आद्योपान्त झाँक रही है। व्यक्ति सीमाओं में उलझे हुए अहंकारी मूढ मनु को प्रबोधती हुई श्रद्धा कहती है कि इस संसार में समस्त क्रिया व्यापार एक विराट् यज्ञ हैं जिसे पूर्ण करने के लिए संकुचित दृष्टि से काम नहीं चलेगा। जब तक तुम आत्म विस्तार नहीं करोगे—अपने से बाहर दूसरों को—समाज को नहीं देखोगे तुम्हारा कल्याण सम्भव नहीं है। मानवता को विजयिनी बनाने के लिए शक्ति के बिखरे हुए कणों को एकत्र करना होगा—उनका सामूहिक धरातल पर समन्वय करना होगा। केवल व्यक्तिवादी बने रहने से तुम्हारा अपना कल्याण भी सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार कर्म सर्ग में मनु और श्रद्धा का संवाद इसी तथ्य को उद्घाटित करने वाला है। मनु आत्म सुख भोगी बनकर व्यक्ति निष्ठ बना रहना चाहता है। आत्म सुख को श्रद्धा उज्ज्वल मानवता नहीं मानती वरन् उसे जड़ शवता समझती है—

"मनु क्या यही तुम्हारी होगी,
उज्ज्वल नव मानवता।
जिसमें सब कुछ ले लेना ही
हन्त! बची क्या शवता ॥"

इतना ही नहीं, मनु को निरुत्तर करती हुई व्यापक जीवन-दृष्टि का सम्पूर्ण चित्र श्रद्धा ने स्वयं प्रस्तुत किया है। वह स्पष्ट शब्दों में कहती है कि आत्म साधना और आत्म सुख में लीन मानव अपना भी विकास नहीं कर सकता, समष्टि हित तो दूर की बात है। आत्म सुख के लिए व्यापक पर सुख की सृष्टि नितान्त आवश्यक है। जो संकीर्ण दृष्टि वाले आत्म सुख की साधना को ही सब कुछ मान बैठते हैं, वे न तो अपना कल्याण कर सकते हैं और न समाज को सुखी बनाते हैं।

'अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा।
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा ॥"
सुख को सीमित कर अपने में,
केवल दुख छोड़ोगे।
इतर प्राणियों की पीड़ा लख,
अपना मुँह मोड़ोगे।"

व्यापक जीवन दृष्टि के लिए अहिंसक एवं करुणा परायण होना नितान्त आवश्यक है। बौद्ध धर्म की करुणा भावना का प्रतिपादन ईर्ष्या सर्ग में श्रद्धा द्वारा प्रसाद जी ने कराया है। श्रद्धा प्रत्येक प्राणी को जीवनाधिकार देती हुई व्यग्य करती है कि यदि मनुष्य अन्य प्राणियों से अपने को श्रेष्ठ मानता है तो उसका यह परम पावन कर्त्तव्य है कि वह इतर प्राणियों की जीवन यात्रा को सुखी और निर्भय बनाने में योग देने वाला हो।

'कामायनी' में देवताओं का वर्णन चिन्ता सर्ग में जिस रूप में किया गया है वह सकुचित दृष्टि वाले आत्म सुखलीन प्राणी हैं। मनु उन्हीं देवताओं में से बचे हुए व्यक्ति हैं। उनकी जीवन दृष्टि आत्म सुख-लीन साधक की जीवन दृष्टि है जिसमें परिवर्तन लाना कवि को अभीष्ट है। दूसरे शब्दों में मनु का परिष्कार कर उसे व्यापक जीवन दृष्टि वाला व्यक्ति बनाना ही कामायनी का प्रतिपाद्य है। यह केवल प्राचीन कथानक की कथा-कल्पना पर आश्रृत नहीं हो सकता था। कवि ने युग-चेतना के प्रकाश में अपनी उपज्ञात प्रतिभा और कल्पना से इस युग के अनुकूल मनु को संघर्ष की भूमिका में प्रस्तुत किया है। मनु का संघर्ष जिस सीमा में चित्रित किया गया है वह युगीन समस्याओं से बहुत दूर नहीं पड़ता, अतः पाठक के समक्ष युग और युगीन समस्याओं के साथ चिन्ताधारा का वह रूप सामने रहता है जिससे वह भलीभाँति परिचित है।

इड़ा सर्ग में भी प्रसाद जी ने व्यापक जीवन दृष्टि की स्थापना की है और आत्म सुख या आत्म विकास से बढ़कर समष्टि सुख को स्थान दिया है। 'दुख देगी यह संकुचित दृष्टि' कहकर द्वयता की भावना रखने वाली इड़ा को धिक्कारा ही है। संघर्ष सर्ग में पुनः व्यक्ति चेतना के ऊपर समष्टि चेतना की कामना की गई है। एक व्यक्ति का अधिकार जो व्यक्तिनिष्ठ भावना रखने वाला मनु का सदा रहा है, कवि को स्वीकार्य नहीं है। जीवन का उपयोग यही है कि समाज का कल्याण साधन उसके द्वारा बन पड़े, अन्यथा जीवन व्यर्थ है—

> 'लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया में,
> प्राण सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया में।
> देश कल्पना काल परिधि में होती लय है,
> काल खोजता महा चेतना में निज क्षय है।
> क्षितिज पटी को उठा बढ़ो ब्रह्मांड विवर में।
> गुंजारित घन नाद सुनो इस विश्व कुहर में॥''

आनन्द सर्ग में जिस लोक का चित्र प्रसाद जी ने अंकित किया है वह विराट् जीवन दर्शन वाला लोक है जहाँ किसी एक व्यक्ति की सुख सीमाओं का आग्रह न होकर समष्टि हित की सार्वभौम कामना है।

शापित न यहाँ है कोई,
तापित पापी न यहाँ है।
जीवन वसुधा समतल है,
समरस है जो कि जहाँ है।

× × × ×

सब भेद भाव भुलवा कर
दुख सुख को दृश्य बनाता
मानव /कह रे 'यह मैं हूँ,
यह विश्व नीड़ बन जाता"

संक्षेप में, कामायनी के प्रणयन करते समय कवि का अन्तर्मन में यह विचार अवश्य रहा है कि वह एक ऐसा उदात्त और व्यापक जीवन दृष्टि इस काव्य के माध्यम से प्रस्तुत करे जो संघर्ष, स्वार्थ, प्रतारणा और संकीर्णता के युग में भूले भटके मानव को आलोक पथ दिखा सके। यदि व्यक्तिनिष्ठ भावना के आधार पर कोरा अध्यात्म-पथ ही कवि को प्रशस्त करना होता तो वह युगचेतना की भूमिका उपस्थित न करके केवल पुरातन इतिवृत्त के आधार पर भारतीय दर्शनों की दृष्टि तक ही अपने को सीमित बनाए रखता। किन्तु कवि के सामने व्यापक क्षितिज का उसी में उसे विचरण करना था। कदाचित् वर्तमान युग की मानव जाति के लिए यही उपयोगी और आवश्यक भी था।

कामायनी में दार्शनिकता

डा० द्वारिकाप्रसाद एम० ए०, पी-एच० डी०

'कामायनी' की दार्शनिक विचारधारा प्रमुख रूप से काश्मीर के प्रत्यभिज्ञादर्शन से अनुप्राणित है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में आत्मा को विमर्श रूपिणी, पराशक्ति, चिति, स्वतन्त्ररूपा, विश्वसाक्षी परमानन्दमय, सर्वज्ञ, सर्वज्ञ आदि माना गया है। उसे नित्यश पंचकृत्य करने वाली अर्थात् सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान एवं अनुग्रह नामक पंच कर्मों में लीन रहने वाली बतलाया गया है। उसके प्रमुख रूप से परमशिव या महाचिति नाम दिये गये हैं और उसकी अनन्त शक्तियाँ मानी गई हैं, जिनमें से चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये पाँच प्रमुख शक्तियाँ हैं, जिनके द्वारा वह महाचिति विश्व के उन्मीलन एवं निमीलन में व्यस्त रह कर एवं नित्य लीलामयी होकर आनन्द किया करती है। 'कामायनी' में भी लिखा है —

> ' कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यस्त,
> विश्व का उन्मीलन अभिराम इसी में सब होते अनुरक्त।"

प्रत्यभिज्ञादर्शन में जीव के बारे में लिखा है कि जब वह आत्मा आणव, कार्म तथा मायीय नामक तीन प्रकार के मलों एवं माया, कला, विद्या, राग, काल एवं नियति नामक षट् कंचुकों से आवृत्त होती है, तब इसे 'जीव' संज्ञा प्राप्त होती है। उस समय उक्त मल एवं कंचुक रूपी पाशों से आबद्ध होने के कारण यह जीव 'पशु' भी कहलाता है। इसे प्रमाता, अणु, पुमान् या पुरुष भी कहते हैं। इस जीव की विमुक्ति के लिए प्रत्यभिज्ञादर्शन में तीन उपाय बतलाए गये हैं— शाम्भव, शाक्त एवं आणव। शाम्भव उपाय में जिस समय गुरु दीक्षा देकर शिष्य को 'शिवोऽहम्' का मंत्र देता है, तो इस मंत्र के सुनते ही जीवात्मा में 'शिवोऽहम्' का आवेश हो जाता है और वह स्वयं को शिव या आत्मा का स्वरूप मानने लगता है। उसे उसी क्षण यह ज्ञान हो जाता है कि यह सम्पूर्ण विश्व मुझ से ही उदित हुआ है, मुझमें ही प्रतिबिम्बित है और मुझ से सर्वथा अभिन्न है। दूसरे शाक्तोपाय में निरन्तर ध्यान, पूजा, अर्चना द्वारा जीवात्मा अमल विकल्प रूपी दर्पण में बार बार अपने स्वरूप का साक्षात्कार करता है। उस समय उसमें कुछ भेदबुद्धि और कुछ अभेदबुद्धि रहती है। किन्तु निरंतर अभ्यास के द्वारा भेद

बुद्धि का नाश होकर पूर्ण अभेदत्व की प्राप्ति हो जाती है। तीसरा आणवोपाय वह है, जिसमें जीवात्मा पहले तो विकल्पपूर्ण रहता है तथा जड़ और चेतन में भेद मानता रहता है। परन्तु दीक्षा, मंत्रोच्चारण, जप, पूजा आदि के द्वारा उसकी भेद-बुद्धि नष्ट होने लगती है और अन्त में जड़-चेतन का भेद भी विलीन होकर उसे सर्वत्र एक चैतन्य का साक्षात्कार होने लगता है।-'कामायनी' में प्रसाद जी ने भी मनु का वर्णन करते हुए पहले उन्हें तीनों मलों एवं षट् कंचुकों में आवृत एक साधारण जीव की भाँति भेद-बुद्धि प्रधान अंकित किया है। 'निर्वेद' सर्ग तक मनु की 'आणव स्थिति' ही चलती है और वे सभी पदार्थों एवं प्राणियों को अपने से भिन्न मानकर जीवन यापन करते हैं। 'निर्वेद' सर्ग से लेकर 'रहस्य' सर्ग तक उनकी भेद अभेद प्रधान शाक्त स्थिति है, जिसमें एक ओर वे तप, या अर्चना द्वारा शिव का साक्षात्कार करते हैं और दूसरी ओर संसार से खिंचे हुए भी दिखाई देते हैं। परन्तु जब श्रद्धा अपनी मुस्कान से इच्छा, ज्ञान और क्रिया के त्रिकोण को मिलाकर एक कर देती है, उसी क्षण से मनु में शांभव स्थिति का दर्शन होने लगता है, जिसके उन्मेष से वे आत्म-साक्षात्कार करके सर्वत्र शिव की व्यापक सत्ता को स्वीकार करते हुए अखंड आनन्दमय हो जाते हैं। 'आनन्द' सर्ग में मनु के इसी शाम्भव आवेश का वर्णन है। इसके अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञादर्शन में ब्रह्म या शिव, सृष्टि, नियति, आनन्द आदि के बारे में जिन सिद्धान्तों की स्थापना हुई है उनका पूरा-पूरा प्रभाव 'कामायनी' पर पड़ा है। उनमें से प्रमुख सिद्धान्त ये हैं:—

अभेदवाद—प्रत्यभिज्ञादर्शन में शिव तत्त्व से लेकर पृथ्वी तक जो ३६ तत्त्व माने गये, हैं उन सभी को एक चिति रूप परमानन्दमय प्रकाशैक घन महाशिव से अभेद रूप में स्फुरित होते हुए बतलाया गया है। विश्व में जो नाना रूपात्मक परिमित पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे सब प्रकाशरूप शिव के ही स्वरूप हैं। शिव से रहित किसी पदार्थ की कोई सत्ता नहीं है। जिस प्रकार एक पूर्ण विकसित मयूर के समस्त अंग एवं नीलादि रंगों का विकास उसके अंडे से होता है और मयूर के अंडे में ही मयूर के अंग एवं रंगों की स्थिति अभेद रूप से रहती है उसी भाँति यह जड़ाजड़ात्मक जगत् भी उसी महाचिति के अन्तर्गत अभेदरूप से विद्यमान रहता है। अतः जड़ और चेतन का भेद करना व्यर्थ है। कामायनी में भी इसका संकेत दिया गया है:—

"एक तत्त्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन।"

अथवा

वैसे अभेद सागर में प्राणों का सृष्टि क्रम है,
सब में घुल मिलकर रसमय रहना यह भाव चरम है।

आभासवाद--प्रत्यभिज्ञादर्शन में विश्व के उन्मीलन को 'आभास' कहा गया है। अभिनवगुप्ताचार्य ने ससार के उदय या उन्मीलन पर विचार करते हुए तन्त्रालोक में लिखा है कि जिस तरह निर्मल दर्पण में भूमि, जलादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी तरह पूर्ण सविद् रूप चिति में यह सम्पूर्ण जगत् अभिन्न रूप से आभासित होता है। नेत्रतन्त्र में भी सम्पूर्ण विश्व को शिव का ही आभास कहा है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी में तो स्पष्ट ही लिखा है :—

"चेतनो हि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिम्बवत् आभासयति इति सिद्धान्तः।" अर्थात् यह चितिशक्ति ही अपने दर्पण में समस्त पदार्थों को प्रतिबिम्बवत् आभासित करती है। इसी कारण यह आभासवाद कहलाता है। परन्तु यह जगत् शिव का आभास होते हुए भी सत्य माना गया है। अभिनवगुप्ताचार्य ने तन्त्रालोक में जगत् की सत्यता सिद्ध करते हुए लिखा है कि जब हम ब्रह्म या शिव को सत्य मानते हैं, तब उसके प्रतिबिम्ब या आभास को कैसे असत्य कह सकते हैं। 'कामायनी' में प्रसाद जी ने भी जगत् को शिव का आभास अथवा महाचिति का विराट् शरीर कह कर उसे सत्य सिद्ध किया है :—

"अपने सुख दुख से पुलकित यह विश्व मूर्त सचराचर,
चिति का विराट वपु मंगल यह सत्य, सतत चिर सुन्दर।"

नियतिवाद--प्रत्यभिज्ञादर्शन में 'नियति' को ११ वाँ तत्व माना गया है और अभिनवगुप्ताचार्य ने तन्त्रालोक में "नियतिर्योजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले" कहकर नियति को विशेष विशेष कार्यों के लिए विशेष विशेष कारणों की योजना करने वाली शक्ति बतलाया है। योगवशिष्ठ में 'नियति' को महासत्ता, महाचिति, महाशक्ति आदि कह कर तृण से लेकर महारुद्र पर्यन्त सम्पूर्ण विश्व का नियमन करने वाली सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त मालिनी विजयोत्तरतन्त्र, मृगेन्द्रतन्त्र, स्वच्छन्दतन्त्र प्रभृति शैवागमों में भी 'नियति' विश्व के सम्पूर्ण कार्य कलापों की योजना करने वाली अथवा सम्पूर्ण विश्व का नियमन करने वाली बतलाई गई है। स्वच्छन्दतन्त्र में नियति के अन्तर्गत वामदेव, शर्व, भव, उद्भव, वज्रदेह, प्रभु, धाता, क्रम, विक्रम और सुप्रभेद नामक शिव के दस रूपों की स्थिति भी बतलाई गई है, जो चराचर

जगत् के कर्मों की योजना करते हैं। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन में नियति को चराचर जगत् का नियमन करने वाली एक महान् शक्ति माना गया है, जिसके शासन में समस्त जगत् अपने नाना कार्य करता है और जिसकी स्वतन्त्र सत्ता के सामने कोई भी दम्भी या अहंकारी व्यक्ति अपनी इच्छा से कुछ नहीं कर सकता। यह आत्मा को सीमित बनाकर उसको भिन्न भिन्न कार्यों में लगाती है तथा उसके कार्यों की बागडोर अपने हाथ में रखती है। 'कामायनी' में भी इसी नियतिवाद को अपनाया गया है जिसके शासन में मनु धीरे-धीरे अपना जीवन यापन करते हैं —

'उस एकान्त नियति शासन में चले विवश धीरे धीरे।

यह नियति संसार में अनाचार देखकर तुरन्त विकम्पमयी हो जाती है तथा संसार में संतुलन स्थापित करने के लिये एवं दम्भी और क्रूरों को दंड देने के लिए उग्ररूप धारण कर लेती है और उसका भीषण अभिनय प्रारम्भ हो जाता है —

"इस नियति नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाच रही।

अथवा

तांडव में भी तीव्र प्रगति परमाणु विकल थे
नियति विकर्षणमयी त्रास से सब व्याकुल थे।

किन्तु इस नियति का नियन्त्रण सीमित आत्मा या जीव पर ही रहता है और जैसे ही यह जीव अपनी सीमित अवस्था का परित्याग करके कुछ उन्नत होकर शिव तत्व की ओर बढ़ने लगता है, फिर वह नियति के नियन्त्रण से परे हो जाता है। प्रसाद जी ने 'कामायनी' के रहस्य सर्ग में श्रद्धा की सहायता से हिमगिरि की उन्नत चोटी पर पुनः पहुँचाकर मनरूप जीवात्मा के नियति तत्व के नियन्त्रण से परे हो जाने का उल्लेख किया है। इसी कारण श्रद्धा कहती है —

'निराधार हैं किन्तु ठहरना हम दोनों को आज यहीं है
नियति खेल देखूँ न सुनो अब इसका अन्य उपाय नहीं है।

अतः प्रसादजी का यह नियतिवाद भाग्यवाद से सर्वथा पृथक् है। भाग्य तो अत्यन्त सीमित है जबकि नियति प्रकृति का नियमन और विश्व का शासन करने वाली व्यापक शक्ति है। यह मानव को ठीक मार्ग पर लाकर जगत् का कल्याण करती है तथा संसार के दंभ और अहंकार का दमन करके विश्वभर में संतुलन स्थापित करती है।

समरसता—प्रत्यभिज्ञादर्शन में समरसता का सिद्धान्त एक विशिष्ट सिद्धान्त माना गया है। स्वच्छन्दतन्त्र में लिखा है कि जिस तरह एक नदी समुद्र में मिलकर समरसता को प्राप्त होती है और समुद्र तथा उस नदी में किसी प्रकार की भी पृथक्ता नहीं रहती, उसी तरह जब आत्मा परमात्म भाव को प्राप्त होकर पूर्णतः अभेद को प्राप्त हो जाता है, तब उसे सामरस्य कहते हैं। नेत्रतन्त्र में लिखा है —

"नाहमस्मि न चान्योऽस्ति ध्येय चात्र न विद्यते।
आनन्दपरसलीन मन समरसीगतम् ॥"

अर्थात् जिस समय योगी यह जानने लगता है कि न तो मैं हूँ, न कोई अन्य है और न ध्येय ही यहाँ विद्यमान है अपितु एकात्म भाव को प्राप्त होकर उसका मन आनन्द पद में लीन हो गया है, उस समय उसकी ऐसी स्थिति को सामरस्य की अवस्था कहा जाता है। अभिनवगुप्ताचार्य ने इस स्थिति को योगी की 'अनुत्तरावस्था' कहा है क्योंकि इस समरसता की स्थिति में पहुँचकर योगी के लिए फिर और कुछ शेष नहीं रहता और वह अखण्ड आनन्दघन शिव रूप हो जाता है। श्रीमत शंकराचार्य ने भी 'सौन्दर्य लहरी' में "समरस परमानन्दपरयो" कहकर यही बात स्वीकार की है और 'बोधसार' में श्री नरहरि स्वामी ने समरसता का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

"जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम् ।
मित्रयोरिव दाम्पत्यो जीवात्मपरमात्मनो ॥

अर्थात् जिस प्रकार परस्पर अत्यन्त प्रेम करने वाले दम्पतियों का द्वैत दोनों के समरस हो जाने पर आनन्ददायक हो जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा एवं परमात्मा के समरस हो जाने पर जो आनन्द निर्बाध रूप से उत्पन्न होता है, उसमें यह कल्पित द्वैत या पार्थक्य भी ब्रह्मानन्द के तुल्य हो जाता है।

प्रसाद जी ने कामायनी में प्रत्यभिज्ञादर्शन के इसी समरसता के सिद्धान्त को अपनाते हुए प्रत्येक प्राणी को समरसता का अधिकारी बतलाया है और इस दार्शनिक विचारधारा को जीवन के अनुकूल बनाकर लिखा है कि गृहस्थ जीवन में नर और नारी, सामाजिक जीवन में प्रत्येक नागरिक तथा अधिकारी और अधिकृत एवं शासक और शासित के अन्तर्गत विषमता को दूर करके समरसता की स्थापना होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी तरह वैयक्तिक जीवन में सुख और शान्ति की स्थापना के लिए प्रसाद जी ने इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय करके इस समरसता के सिद्धान्त की पुष्टि की है :—

"ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके यह विडम्बना है जीवन की।

अन्त में शैवागमों की ही भाँति कामायनी में भी मनु की स्थिति का वर्णन करते हुए मनु के 'अहं' का 'इदं' में पर्यवसान दिखलाया गया है, क्योंकि उसके हृदय में ममत्व परत्व का भेद भाव नहीं रहता, जीवन वसुधा समतल हो जाती है और उन्हें सभी पदार्थ समरस प्रतीत होने लगते हैं :—

"शापित न यहा है कोई तापित पापी न यहाँ है
जीवन वसुधा समतल है समरस है जो कि जहाँ है।"

आनन्दवाद—प्रत्यभिज्ञादर्शन में आनन्दवाद के सिद्धान्त का भी विशेष महत्व है। आनन्द की इस भावना का सर्वप्रथम उल्लेख उपनिषदों में मिलता है और तैत्तिरीयोपनिषद् में आनन्द से ही सम्पूर्ण प्राणियों का उत्पन्न होना, आनन्द में ही स्थित रहना और अन्त में आनन्द में ही विलीन होना सिद्ध किया है। इतना ही नहीं वहाँ 'आनन्दोब्रह्मेति" कहकर आनन्द को ही ब्रह्म बतलाया है। इसी आधार पर प्रत्यभिज्ञादर्शन के नेत्रतन्त्र में भी "यत्तत्तदिति ब्रह्म परमानन्द रूप" कहकर परमशिव या ब्रह्म को परमानन्द रूप कहा है और लिखा है कि "शिव की आनन्द शक्ति चित् रूप शिव से अभिन्न होकर अद्भुत आनन्द का प्रसार करती है और जब योगी समरसता को प्राप्त कर लेता है तब वह इस आनन्द पद में लीन हो जाता है।" माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने अनुत्तरावस्था में पहुँचे हुए योगी को अखण्ड आनन्द में लीन बतलाया है और उस स्थिति को 'शिवोऽहम्' की अवस्था सिद्ध किया है। नरहरिस्वामी ने 'बोधसार' में "आनन्द सागर' शम्भु" कहकर शिव को अखण्ड आनन्द का समुद्र सिद्ध किया है। 'कामायनी' में प्रसाद जी ने भी प्रत्यभिज्ञादर्शन के इस आनन्दवाद को अपनाते हुए प्रथम तो मानव का लक्ष्य ही 'आनन्द' सिद्ध किया है, जिसका कि संकेत उन्होंने पहले 'प्रेम पथिक' में इस प्रकार किया है :—

"इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन मे टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं,
अथवा उस आनन्द-भूमि मे जिसकी सीमा कहीं नहीं।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसाद जी 'कामायनी' में अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हुए आनन्द भूमि तक पहुँचे हैं। इस भूमि तक पहुँचने के लिए आपने इच्छा ज्ञान-क्रिया का समन्वय किया है, प्रवृत्ति और निवृत्ति में

संतुलन स्थापित किया है, बुद्धि और हृदय का मन से समन्वय जोड़ा है और बतलाया है कि जब तक जीवात्मा ममत्व एवं परत्व की भावना में लीन रहता है एवं बुद्धिवाद के कारण विभाजन प्रणाली को अपनाता रहता है, तब तक उसमें आत्मीयता नहीं आती और वह आनन्द के अविरल स्रोत से दूर रहता है। परन्तु जब उसके बुद्धि और हृदय का समन्वय हो जाता है, उसमें समरसता की भावना जाग्रत हो जाती है, तब वह मनु की भाँति जीवात्मा एवं परमात्मा, ब्रह्म और जगत्, जड़ चेतन में कोई भेद नहीं देखता और वह स्वयं शिवरूप होकर अपनी शक्तिरूपी तरंगों से तरंगायित होता हुआ अखंड आनन्द-सागर का रूप धारण कर लेता है। उस क्षण उसे सर्वत्र आनन्द ही आनन्द दृष्टिगोचर होने लगता है, जड़ और चेतन सभी समरस प्रतीत होने लगते हैं, सर्वत्र एक चेतनता विलास करती हुई दिखाई देने लगती है और वह स्वयं अपने चिति रूप का साक्षात्कार करके अखंड आनन्द में लीन हो जाता है।

सारांश यह है कि प्रसाद जी ने कामायनी में प्रत्यभिज्ञादर्शन के उक्त विचारों को काव्य रूप देकर उन्हें इस तरह अंकित किया है कि जिससे वे दर्शन और काव्य दोनों का समन्वित रूप प्रगट करते हुए व्यावहारिक होकर मानव-जीवन के अत्यन्त निकट आ गए हैं और जिन्हें अपनाकर मानव इसी जीवन एवं इसी जगत् में सुख और आनन्द को प्राप्त कर सकता है।

'कामायनी' का सामाजिक दर्शन

डॉ० शिवस्वरूप शर्मा एम० ए०, पी-एच डी०

'कामायनी' का सांकेतिक अर्थ कुछ भी हो उसका एक सामाजिक महत्व भी है। साहित्य और समाज का अविच्छिन्न सम्बंध हुआ करता है। यही कारण है कि प्रसाद 'कामायनी' को सामाजिक क्षेत्र से परे नहीं ले जा सके। 'कामायनी' के मनु केवल रोबिन्सन क्रूसो की भाँति एकाकी नहीं हैं। उनका सामाजिक व्यक्तित्व है। महाकाव्य के नायक के रूप में वे न तो देवता हैं और न दानव। वे केवल मानव हैं—समाज की इकाई हैं—फिर चाहे मन्वन्तर के आदि पुरुष ही क्यों न हों। उनका मानवीय व्यक्तित्व है। जहाँ उनके गुणों का दिग्दर्शन है वहाँ उनके दोषों की भी उपेक्षा नहीं की गई है। व्यक्ति, परिवार और समाज तीनों के क्रमिक विकास की भूमियाँ इस महाकाव्य में मिलती हैं।

समष्टि का अंग होने के नाते व्यष्टि भी कम आवश्यक नहीं। वह अपनी स्वतंत्र सत्ता भी उसी के अस्तित्व के लिये बनाये रखता है। वैयक्तिक विकास ही समाज का इतिहास है। इसी की पुष्टि 'कामायनी' द्वारा की गई है। देव समाज का तो विध्वंस हो चुका। उसकी एक इकाई मनु जल प्लावन के पश्चात् भी जीवित हैं। वह कुछ काल तक अपने अतीत का चिंतन करता है। अपनी तत्कालीन परिस्थिति से क्षुब्ध हो उठता है। निराशा उसे घेर लेती है। पर उसकी यह विकृत मानसिक स्थिति अधिक समय तक नहीं रह पाई। ज्यों ज्यों जल-प्लावन का अवसान होता गया मनु की चिन्ता भी समाप्त होने लगी। इस अवस्था तक मनु का न तो कोई समाज है और न परिवार ही। अपना सर्वस्व खोकर-अपनी सभ्यता का ह्रास अपनी आँखों से देखकर मनु को क्षोभ हुआ था किन्तु अब उन्हें अपने आगामी जीवन के लिये कुछ कुछ आशा होने लगी थी—

धीरे-धीरे हिम-आच्छादन
हटने लगा धरातल से। ...

सब व्यापार धीरे धीरे ही हुए। मनु की चिन्ता का अन्त एक नवीन आशा लेकर आया। प्रकृति का नवीन रूप उन्हें कौतूहल की ओर ले जा रहा था। उनका मानस जिज्ञासा के प्रकाश से ज्योतिर्मय हो उठा। अब उन्हें जीवन

से मोह हो चला। किन्तु अभी व्यक्ति अपने तक ही सीमित है। वह 'जीवन' जीवन की पुकार, लगाने लगा। अब वह 'नभ के शाश्वत गानों में' अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहता है इसीलिये अपने पूर्व संस्कारों के आदर्शानुसार फिर से यज्ञ की सामग्री जुटाने लगा। मनु कर्म रत हुये! इसी प्रकार कुछ समय और व्यतीत हुआ। धीरे धीरे—

नव हो जगी अनादिवासना,
मधुर प्राकृतिक भूख समान,

अब उसको (व्यक्ति को) अभाव खलने लगा और यह एकाकी जीवन अब भार हो उठा।—

कब तक और अकेले ? कह दो-
हे मेरे जीवन बोलो ?

व्यक्ति समाज की ओर आकर्षित होना चाहता है किन्तु अभी उसे कोई साधन नहीं मिला। दैवयोग से उसका परिचय एक दूसरी सामाजिक इकाई से होता है जो स्वयं अपूर्ण होते हुए भी मनु के जीवन का पूरक बन सकती है। दोनों परिवार के बंधन में बँधते हैं। तथा दोनों एक नवीन सामाजिक जागृति की ओर उन्मुख होते हैं। श्रद्धा (कामायनी) तपस्वी मनु को समाज की ओर लाने का प्रयास करती है—

तपस्वी, क्यों इतने हो क्लान्त ?
वेदना का यह कैसा वेग,
× × × ×
दुःख के डर से तुम अज्ञात-
जटिलताओं का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज,
भविष्यत से बन कर अनजान।

विरक्त मनु को सक्रिय बनाने के लिये श्रद्धा की यह उक्ति ही पर्याप्त होती है—

काम मंगल से मंडित श्रेय
सर्ग इच्छा का है परिणाम
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल,
बनाते हो असफल भवधाम !

यह सम्पूर्ण सृष्टि उस विराट की एक इच्छा का ही तो परिणाम है। यह विश्व वास्तव में कर्मभूमि है। अतः श्रद्धा नहीं चाहती कि मनु इस प्रकार कर्म से विमुख

होकर इस भवधाम असफल बनावें। उसका पहला उपदेश ही उसे (मनु को) ठीक मार्ग पर ले आया। यह सब मानते हुये भी मनु के मन से निराशा नहीं निकल पाई। वे तो अपनी विगत आपत्तियों के कारण श्रद्धा के कथन पर अधिक विश्वास नहीं कर सके। उनका सदेह स्वय ही भ्रम मूलक है—

किन्तु जीवन कितना निरुपाय
लिया है देख नहीं सदेह
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह कल्पित गेह।

मनु के विचार से जीवन निरुपाय है। सफलता को तो उसमें कल्पना मात्र ही है। उसका परिणाम तो निराशा है अत वे जीवन की आस्था को छोड़कर तप की ओर जाना चाहते हैं इसी समय श्रद्धा कह उठती है—'तप नहीं केवल जीवन सत्य' क्योंकि जीवन एक समाज की अभिव्यक्ति है और तप उसको विरक्ति! एकाकी मानव वास्तव में कुछ भी नहीं कर सकता उसका वैयक्तिक महत्व समाज पर ही आधारित है—

अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते तुच्छ विचार
तपस्वी आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्म विस्तार।

यहीं 'आत्म विस्तार' की नैसर्गिक भावना समाज की प्रेरक शक्ति है। श्रद्धा आत्म समर्पण करती है तथा ससार के नव निर्माण के लिये मनु का आह्वान करती है—

बनो ससृति के मूल रहस्य,
तुम्हीं से फैलेगी वह बेल
विश्व भर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुन्दर खेल।

विश्व में आत्मीयता का प्रसार होने पर वे उसकी विजय के इच्छुक बनते हैं। एक से दो होकर फिर अनेक होजाना ही प्रकृति का रहस्य है। सामाजिक सर्जना के लिये हर व्यक्ति उत्तरदायी है। उस पर यह समाज ऋणि है। इसी कारण श्रद्धा भी एक सदेश देती है—

शक्ति के विद्युत कण जो व्यस्त
विकल बिखरे हों, हो निरुपाय

समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

इन बिखरें हुए शक्ति के विद्युत-कणों का समन्वय करके ही मानवता विजयिनी हो सकती है। इसी समन्वयवाद से विश्व की दुर्बलता बल बन सकती है।

अत मानवता की शुभाकांक्षिणी श्रद्धा निराश मनु को एकान्त तप से हटाकर विश्व के नवीन विकास की ओर उन्मुख करती है। जल प्लावन के पश्चात बचे हुये ये दो प्राणी फिर से अपने अतीत को बुला लेना चाहते हैं। दोनों इसके उपयुक्त हैं। मनु एक अनुपम संस्कृति के ध्वसावशेष हैं तथा श्रद्धा गधर्वों के देश में रहने वाली पिता की प्यारी संतान है। वह ललित-कलाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिये पर्वतों में अकेली यात्रा भी कर सकती है। यह उसकी सभ्यता का उच्चतम परिचय है। दोनों व्यक्ति अब अपने निजी व्यक्तित्व का समन्वय करके एक परिवार के रूप में बदल जाना चाहते हैं। यहीं से परिवार की रूप रेखा बनती है। दोनों के पारस्परिक सम्पर्क से काम उत्पन्न होता है। वासना प्रस्फुटित होती है। पारिवारिक जीवन के आवश्यक उपकरण प्रस्तुत किये जाते हैं और—

चले दोनो स्नेह पथ मे स्नेह संबल साथ।

अब श्रद्धा का स्वरूप परिवर्तित होता है। यह सम्बन्ध नवीन पवित्र मानसिक भावना को जन्म देता है।

गिर रही पलकें, झुकी थी नासिका की नोक।
भ्रू लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल
खिला पुलक कदम्ब सा था भरा गद्गद बोल।

स्त्री और पुरुष के उस विनिमय के पश्चात दोनों सृष्टि सृजन में प्रवृत्त होते हैं। मनु असुर पुरोहित किलात आकुलि की सहायता से यज्ञ करते हैं जिसमें उनके पालित पशु (हिरन) की हवि दी जाती है। मनु और श्रद्धा का जीवन अधिक सुखी नहीं रह पाया। मनु ने केवल श्रद्धा को सुखी रखने तथा उसका सम्पूर्ण प्रणय प्राप्त करने के लिये यज्ञ किया था किन्तु यज्ञ की भीषणता उस निरीह पशु की कातर वाणी, वेदी के समीप बिखरे हुये शोणित के कुत्सित बिंदु श्रद्धा की जुगुप्सा को जाग्रत कर चुके थे। वह मान कर उठी। किन्तु मनु का पुरुषत्व उसके सामने झुक नहीं पाया—

रूठ गई तो क्या फिर उसे मनाना होगा?

का प्रश्न उनके मन में हुआ तथा अकेले ही पुरोडाश के साथ सोमपान करने लगे और—

श्रद्धा अपनी शयन गुहा में
दुखी लौटकर आई!

उसके मन में द्वन्द्व प्रारम्भ हुआ। उसे भी विराग होने लगा। स्नेह में अब अन्तर्दाह ने भी स्थान लिया—

आज स्नेह का पात्र खड़ा था
स्पष्ट कुटिल कटुता में।

वासनोन्मुख पुरुष (मनु) अपने को अधिक नहीं सँभाल सका। सोमपान कर उसी गुहा की ओर बढ़ा जहाँ श्रद्धा तन्द्रावस्था में व्यस्त थी। वह समाज का इस प्रकार विध्वंस नहीं चाहती थी। वह कह उठती है—

और किसी की फिर बलि होगी
किसी देव के नाते
कितना धोखा! इससे तो हम
अपना ही सुख पाते।

× × ×

वे जीवित हों मांसल बनकर
हम अमृत दुहें, वे दुग्ध धाम,

× × ×

पशु से यदि हम ऊँचे हैं
तो भव जलनिधि के बनें सेतु

किन्तु मनु चार्वाक के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। वे अपने ही सुख के लिए सब कुछ कर सकते हैं मनु के इस जड़वादी बुद्धिवाद से श्रद्धा सहमत नहीं हो सकी—

अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा।
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा।
औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ

अपने सुख को विस्तृत करलो
सबको सुखी बनाओ।

व्यष्टि का कर्तव्य समष्टि के हित चिन्तन में ही है। मनु उस वास्तविकता को एक बार मान तो गये पर वासना की विजय थी, श्रद्धा की नहीं।

अब परिवार की वृद्धि के लक्षण दिखाई देने लगे। श्रद्धा का मातृत्व अब भविष्य की चिन्ता करने लगा। वह धान संग्रह करती, तकली कातती और गुहा में झूला सजाती। किन्तु मनु ? वह उन्मुक्त पुरुष बंधन में नहीं रह पाया। ईर्ष्या से उसका हृदय चंचल हो उठा। वह तो नारी का अबाध स्नेह चाहता है किन्तु उसे अब वह नहीं मिल सकता। प्रतिक्रिया स्वरूप उसका ध्यान मृगया की ओर जाता है। सम्पूर्ण आकर्षण विकर्षण में परिवर्तित हो चुका। वह किसी अज्ञात अभाव का अनुभव करने लगता है—

श्रद्धे तुमको कुछ कमी नहीं
पर मैं तो देख रहा अभाव।

मनु परिवार से असन्तुष्ट हो गये।

उधर मनु की हिंसक मृगया-वृत्ति से श्रद्धा असन्तुष्ट हुई। मनु माँगते ही रह गये—

यह जीवन का वरदान मुझे—
दे दो रानी! अपना दुलार!!

किन्तु श्रद्धा की ममता अपने शिशु की काल्पनिक क्रीड़ा में आत्मविभोर थी। पुआलों का छाजन, कोमल लतिकाओं की डालों से बनाया हुआ सघन कुंज, उसमें कटे हुए सुरम्य वातायन, वेतसी-लता का हिंडोला, धरातल पर सुमनों के पराग का सुरभित चूर्ण, सभी उसके भावी स्वप्न के अवलम्बन थे। माता सोचती थी—

झूले पर उसे झुलाऊँगी
दुलरा कर लूँगी बदन चूम,

× × ×

वह आवेगा मृदु मलयज सा
लहराता अपने मसृण बाल!
उसके अधरों पर फैलेगी,
नव मधुमय स्मिति-लतिका प्रवाल!

इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप मनु का ईर्ष्या बढ़ती है—

तुम फूल उठोगी लतिका सी,
कम्पित कर सुख सौरभ तरंग
मैं सुरभि खोजता भटकूँगा
वन वन बन कस्तूरी-कुरंग।

और अन्त में—"तुम अपने सुख से सुखी रहो मुझको दुख पाने दो स्वतंत्र" कहते हुए वे चले जाते हैं। वे दाम्पत्य बंधन को नहीं चाहते। उनका चरम लक्ष्य अपनी वासना तृप्ति ही है। यही मनु के चरित्र की ही दुर्बलता है। अतः श्रद्धा की आर्तवाणी "रुक जा ओ सुन ले निर्मोही" मनु के कानों तक भी नहीं पहुँच पाई।

अब परिवार से पलायनवादी मनु का कार्य क्षेत्र भी बदलता है। एकाकी भटकते हुए वे सारस्वत प्रदेश में पहुँचते हैं तथा वहाँ के नियम नियन्ता भी बनते हैं। यहीं पर उनकी भेंट इड़ा से होती है। यहाँ की समाज सेवा वासना प्रसूत ही है। साम्राज्ञी इड़ा से वे अपने आने का कारण कहते हैं—

मैं तो आया हूँ देवि !
बतादो जीवन का क्या सहज मोल !

वे अपने वैयक्तिक जीवन का 'सहज मोल' पूछते हैं। इड़ा उसका उत्तर नहीं दे सकी। मनु ने—वहाँ का समाज व्यवस्थित किया पर उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। वे अपनी दक्षता का इड़ा से प्रतिदान माँगने लगे—

प्रजा नहीं तुम मेरी रानी, मुझे न अब भ्रम में डालो।

व्यक्ति की इस महत्वाकांक्षा से समाज क्रोधित हो उठा। परिणामस्वरूप व्यक्ति की इकाई कुचल दी गई।

मूर्छित अवस्था में मनु को श्रद्धा ने फिर सँभाला। स्वस्थ होकर मनु ने अपने कुमार को भी देखा। जब उन्होंने *'पिता आ गया लो'* का कोमल स्वर सुना तो उन्हें एक प्रकार की आत्म जागृति का अनुभव हुआ। अब उन्होंने एक छोटा सा परिवार देखा—

आत्मीयता घुली उस घर में
छोटा सा परिवार बना।
छाया एक मधुर स्वर उस पर
श्रद्धा का संगीत घना।

इड़ा भी इस छोटे परिवार की एक सदस्या है किन्तु मनु अब विरक्त हो गये, इसलिए श्रद्धा से याचना करते हैं—

दूर दूर ले चल मुझको
इस भयावने अन्धकार में खो दूँ कहीं न फिर तुझको !
× × ×
ले चल इस छाया से बाहर मुझको दे न यहाँ रहने !
× × ×
सुखी रहें सब सुखी रहें बस छोड़ो मुझ अपराधी को !

कहते हुए मनु फिर भाग निकलते हैं। परिवार फिर भी बना रहता है। मनु श्रद्धा के साथ वैभव से परांग मुख होकर आनन्द की शोध में चल देते हैं। कुमार इड़ा के साथ रह जाता है। मनु इच्छा, किया और ज्ञान लोकों को देखते हुए आनन्द का अनुभव करते हैं अब मनु वास्तव में समाज की ओर झुकते हैं। अब उनकी प्रवृत्ति निवृत्ति मूलक है। उसमें विराग की मात्रा अधिक है। सारस्वत प्रदेश के सब यात्रियों को, जिसमें इड़ा और मानव भी हैं उसी आनन्द की ओर ले जाने का प्रयास मनु करते हैं। अब वे दोनों (श्रद्धा और मनु) समाज सेवी हैं—

वे युगल वहीं बैठे बैठे
संसृति की सेवा करते
संतोष और सुख देकर
सबकी दुख ज्वाला हरते।

अन्त में सम्पूर्ण समाज भी एक कुटुम्ब बन जाता है। यह घनत्व कुटुम्ब से भी फिर व्यक्ति की इकाई की ओर बढता है—

हम और न अन्य कुटुम्बी
हम केवल एक हमी हैं।
तुम मेरे सब अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है।

इस प्रकार व्यक्ति, परिवार और समाज सब पारस्परिक व्यवधान समाप्त हो जाता है। व्यक्ति की इकाई का विकास समाज की इकाई तक होता है तथा समष्टि का पर्यवसन व्यष्टि में होता है।

'कामायनी' में श्रद्धा सर्ग का महत्व

डा० सोमनाथ गुप्त एम० ए०, पी एच० डी०, साहित्यरत्न

कामायनी का श्रद्धा सर्ग 'प्रसाद' की दार्शनिक मान्यताओं की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है। महाप्रलय के पश्चात्—शैव दर्शन की भाषा में 'शक्ति सकोच' के पश्चात्—जब 'शक्ति विकास' होता है तो एकाकी मनु का सर्वप्रथम साक्षात्कार श्रद्धा से ही होता है। अपने को उद्भ्रांत, वायु की भटकी एक तरंग, विस्मृति का एक अचेत स्तूप, ज्योति का धुंधला सा प्रतिबिम्ब, जड़ता की जीवन राशि और सफलता का संकलित विलम्ब मात्र समझने वाले मनु[1] को श्रद्धा, अपना परिचय देती हुई, उनका ध्यान जीव और उसके कर्त्तव्य, जगत और उसकी वास्तविकता तथा परम शिव एवं शक्ति के स्वरूप की ओर आकर्षित करती है। चिंताग्रस्त मनु को उद्बोधन देते हुए श्रद्धा ने सर्वप्रथम कहा है—

"तपस्वी! तुम इतने क्लान्त क्यों हो? तुम म वेदना का यह कैसा वेग है! क्या तुम्हारे हृदय में जीवन की अधीर लालसा निश्शेष नहीं रह गई? कहीं ऐसा तो नहीं है कि जटिलताओं का अनुदान करके दुख से डरकर तुम कर्म से झिझक रहे हो? कहीं तुम्हारे मन में त्याग की भावना उठकर तुम्हें तुम्हारे वास्तविक कर्त्तव्य से विमुख तो नहीं कर रही!"[2]

श्रद्धा के इन प्रश्नों में एक जिज्ञासा है—जीवन का लक्ष्य क्या है और मनु उसे पहिचान रहे हैं अथवा नहीं? जीव का जो कर्त्तव्य है उसे करने के लिए मनु तत्पर हैं या नहीं? यदि नहीं हैं तो इसका क्या कारण है? ऐसा तो नहीं है कि मनु जीव के उत्तरदायित्व से अनभिज्ञ हों? उसे यही शंका होती है। अतएव सबसे पहिले वह यह बताना चाहती है कि यह जगत है क्या? श्रद्धा कहती है—

"मनु! विश्व का यह सुन्दर उन्मूलन—'शक्ति विकास'—जिसमें सब अनुरक्त होते हैं, सजग महाचिति द्वारा व्यक्त लीलामय आनन्द है। मङ्गलमय कर्म से

---

१. कामायनी, श्रद्धा सर्ग पृ० ६, प्रथम संस्करण
२. वही पृ० ५२,

मंडित यह श्रेयस्कर सृष्टि (परम शिव की) इच्छा का परिणाम है। मूल में, उस का तिरस्कार कर, इस भवधाम को असफल क्यों बनाते हो?"[1]

श्रद्धा का अभिप्राय स्पष्ट है। जिस प्रकार ब्रह्मवादियों का ब्रह्म 'एकोऽहं बहुस्यामि' की इच्छा रखने पर जगत की सृष्टि करता है, उसी प्रकार शैवों का परम शिव भी 'सिसृक्षा' से जगत की सृष्टि करता है। परन्तु दोनों चिन्तन-धाराओं में मौलिक भेद है। ब्रह्मवादियों की सृष्टि असत्य है, माया है, विवर्त है। परन्तु शैवागमों की सृष्टि सत्य है, नित्य है और परिणाम है। शैवागम परम शिव तत्व में शिव और शक्ति की अपृथकता स्वीकार करता है। उसके अनुसार परम शिव का 'शक्ति' रूप ही संसार की सृष्टि करता है, शिव रूप नहीं। इसी शक्ति का दूसरा नाम 'चित्' अथवा 'महाचित्' शक्ति है। चैतन्य गुण का समावेश भी इसी में है। श्रद्धा ने 'सजग चित्'[2] शब्द द्वारा उसी का संकेत किया है। अतएव इन वाक्यों से तीन रहस्य उद्घाटित होते हैं—

(१) सृष्टि परम शिव की इच्छा का परिणाम है। वह परिणाम है इसलिए सत्य भी है।

(२) सृष्टि का मूल कारण 'चिति' शक्ति है।

(३) सृष्टि लीलामय आनन्द है।

वीर शैव मत के अनुसार पर शिव (स्थल) लीलामय है। उसके दो रूप हैं—'उपास्य' और 'उपासक'—जब इन दोनों रूपों से क्रीड़ा करने की इच्छा होती है तब परम शिव में—शान्त समुद्र के वक्षस्थल पर विपुलाकार तरंगों के उठने से पहले समुद्र कम्पन के समान लीलार्थ कम्पन उत्पन्न होता है। अतएव 'लीलामय' शब्द उसी क्रीड़ा का द्योतक है। इसी सृष्टि के 'आनन्दमय' होने की बात, यह सभी शैव स्वीकार करते हैं। शिव तत्व स्वयं आनन्द है, उनकी शक्ति भी आनन्द है और शक्ति द्वारा उत्पन्न 'प्रकृति' का 'जगत' तथा शिव से उत्पन्न जीव भी आनन्दमय है। काव्य के माध्यम द्वारा प्रसाद बड़ी सरलता से श्रद्धा द्वारा अध्यात्म का प्रतिपादन करा रहे हैं।

श्रद्धा मनु को यह भी बता रही है कि सृष्टि का उद्देश्य विषाद ग्रस्त होना नहीं है। मनु को उसमें आनन्द की प्राप्ति करनी चाहिए। अतएव श्रद्धा मनु से, चिन्ता और निराशा छोड़ कर, कर्म-पथ की ओर बढ़ने की प्रेरणा देती है।

१. कामायनी, श्रद्धासर्ग पृ० ५३।
२. " " " "

'धर्म' का सदेश वीर शैव मत में स्पष्ट है। इसी कारण उसे 'वीर-धर्म' या 'वीर मार्ग' भी कहते हैं। श्रद्धा मनु को इसी निष्काम कर्म का मार्ग बता रही है। आगे चलकर उसने जगत में दिखाई देने वाले दुख की व्याख्या भी बड़े मार्मिक शब्दों में की है। वह कहती है—

'दुख तो एक झीना परदा है जो सुख के शरीर को छिपाए हुए है। जिस प्रकार रजनी के अन्तर से प्रभात का प्रादुर्भाव होता है उसी प्रकार दुखवरण के भीतर से सुख प्रकट होता है। अतएव हे मनु! तुम जिस को ज्वालाओं का मूल या अभिशाप समझ बैठते हो, वह ईश का रहस्यमय वरदान है। और इसका कारण यह है कि समस्त विश्व विषमता की पीड़ा से व्यस्त हो रहा है—जीव उसमें दुख ही दुख का अनुभव कर रहा है। वह यह भूल रहा है कि वह दुख सुख के विकास के लिए है। यही भूमा का मधुमय दान है। दुख का अस्तित्व ही सुख के लिए है। जलधि को देखो मनु! समान कारण से साधारणतया उसे भी शाश्वत समरसता का अधिकार है। अपनी गहराई के कारण उसे भी शान्त रहना चाहिए परन्तु वह भी (किसी कारण से) उमड़ पड़ता है। ऐसी दशा में उसकी व्यथा को व्यक्त करने वाली नीली लहरें उसके अन्त में पड़ी हुई गुप्त द्युतिमान और सुख देने वाली मणियों को किनारे पर बिखेर देती हैं। इसी प्रकार व्यथा से सुख की प्राप्ति होती है।"[1]

सुख और दुख के इस सम्बन्ध को 'प्रसाद' ने एक और भी स्थान पर व्यक्त किया है—राक्षस कहता है—

" ' मैं स्वयं बौद्ध मत का समर्थक हूं; केवल उसकी दार्शनिक सीमा तक—इतना ही कि संसार दुखमय है।"[2]

श्रद्धा ने निरन्तर मनु को कर्म में रत होने के लिए आह्वाहन किया है। जीवन का दाव हार बैठने की सराहना उसने नहीं की। 'तप' को भी वह असत्य कहती है।[3] उसकी मान्यता है जीवन सत्य है, नित्य है और अवसाद केवल क्षणिक—

"तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,"

१. वही पृ० ५४,
२. चन्द्रगुप्त नाटक १, ४,
३ कामायनी, पृ० ५५

बड़ी ही सुन्दर भाषा में कल्पना और अनुभूति दोनों को उद्वेलित करती हुई श्रद्धा कहती है—

"प्रकृति के यौवन का शृंगार
करेंगे कभी न बासी फल।"

उन्हें तो धूल अपने में मिला लेने की उत्सुकता रहती है। यौवन और जरा—जीवन की दोनों अवस्थायें सत्य हैं। अतएव दुख से अभिभूत प्राणी जीवन के आनन्द की प्राप्ति कैसे कर सकता है ? भूमा ने जीवन को आनन्द से सिक्त किया है। उसका तिरस्कार ईश्वर के वरदान की अवहेलना है। युग युगान्तर से सृष्टि काल रूपी दृढ चट्टानों पर इसकी दाग-बेल डालती चली आ रही है और सभी सृष्टियों ने चाहे वे देव, गधर्व अथवा असुर किसी की भी प्रधानता लिए हुए रही हों, उसका अनुसरण करती रही हैं। श्रद्धा मनु से निस्संकोच कह रही है—

"दो सत्तायें सामने हैं—एक तुम हो और दूसरी यह वैभव पूर्ण विस्तृत भू खण्ड। एक चेतन दूसरी जड़, परन्तु इस जड़ में से चेतन आनन्द का उपभोग करना ही कर्म का मोज्य है ! कर्म और आनन्द में कार्य कारण का सम्बन्ध है। जिस प्रकृति को मनु तुम जड़ समझते हो, उसी में आनन्द की प्राप्ति ही जड़-प्रकृति के चेतन आनन्द की अभिव्यक्ति है।"

पहले कहा जा चुका है कि शैवागमों के अनुसार प्रकृति सत्य है और यह जगत रूप में चिति शक्ति का प्रकाश्य रूप है। वह शिव की तरह ही सत्य है, उसमें पाया जाने वाला आनन्द भी सत्य है। जीव जब इस आनन्द की प्राप्ति कर लेता है तभी वह शिव रूप में मिलकर समरसता को प्राप्त करता है। 'प्रसाद' इसी आनन्दवाद के उपासक थे। 'कामायनी' के आनन्द सर्ग में इसी आनन्दवाद का विवेचन है। 'कामायनी' के प्रारम्भ में उन्होंने—

"एक तत्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन"

प्रतिपादित की थी। अन्त भी उसी प्रकार दिखाया गया है—

"समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था।"

अब प्रश्न यह उठता है कि आनन्द की प्राप्ति हो कैसे ? ज्ञान द्वारा उसकी प्राप्ति हो सकती है परन्तु ज्ञानी जीव में 'अहं' की भावना बनी रह सकती है। इस अहं को अहमता रूप छोड़ने के लिए शैवमत में बड़ा जोर दिया गया है। ऐसा

प्रतीत होता है कि शैव मत के अनुयायी होने पर भी 'प्रसाद' भक्ति द्वारा ही 'जीव' और 'शिव' की सरसता के प्रतिपादक थे। उन्होंने श्रद्धा का चित्रण भक्ति के रूप में किया है। आत्म समर्पण भक्ति के लिए परम आवश्यक है। श्रद्धा भी मनु से कहती है—

> "समर्पण लो सेवा का सार,
> सजल संसृति का यह पतवार
> आज से यह जीवन उत्सर्ग,
> इसी पदतल में विगत विकार ॥
> दया, माया, ममता लो आज,
> मधुरिमा लो, अगाध विश्वास।
> हमारा हृदय रत्ननिधि स्वच्छ,
> तुम्हारे लिए खुला है पास ॥"

जल प्लावन के पश्चात् नूतन सृष्टि के विकास में 'अगाध विश्वास' या श्रद्धा की आवश्यकता है—यही 'प्रसाद' का मूल संदेश है। आज के मानववाद के तर्क की विषमता प्रतिपादक और समरसता का विरोधक मानने वाले 'प्रसाद' मनु के समक्ष यह कहलवा रहे हैं—

"यदि विधाता की कल्याणी सृष्टि को इस भूतल पर पूर्ण सफल देखना है तो जीवन को भी आकर्षण का केन्द्र बनाने की आवश्यकता है। उसे अवसाद का घर बनाकर आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती।"[1]

श्रद्धा सर्ग प्रबंध काव्यगत तत्वों की रक्षा करते हुए भी, 'प्रसाद' की मनश्चेतना का उद्घाटन करने में अत्यंत सफल प्रयास है।

---

१. वही पृ० ५८।

'कामायनी' की देव-जाति

डा० कन्हैयालाल सहल एम० ए० पी-एच० डी०

"देव लोक या स्वर्ग दो प्रकार का माना जाता है। सूर्यमंडल, चन्द्रमंडल या उनके समीपस्थ भिन्न भिन्न ग्रह भी एक-एक लोक हैं। ये सब 'स्वर्ग' नाम से कहे जाते हैं। ये मुख्य स्वर्ग हैं और इनके निवासी देव या देवता कहलाते हैं। ये मुख्य देवता हैं। किन्तु हमारी इस पृथ्वी पर भी भू, भूमि, स्वर्ग और पाताल, इन तीनों लोकों की कल्पना प्राचीन काल में थी।

उत्तर दिशा का सुमेरु प्रान्त स्वर्ग लोक नाम से प्रसिद्ध था और उसके निवासी भी देव देवता कहलाते थे। यह सब पुराणों से ही सिद्ध हो जाता है। इन दूसरे प्रकार के देवताओं का भारत-भूमि निवासी मनुष्यों के साथ पूर्ण सम्बन्ध रहता है। वे इन्हें उपदेश देते हैं। कई प्रकार की सहायता देते हैं और समय पर इनसे सहायता लेते हैं जैसा कि दुष्यन्त, दशरथ, अर्जुन आदि का स्वर्ग में जाकर देवताओं के शत्रुओं को मारने की पुराण-वर्णित घटनाओं से प्रकट है।

द्वितीय प्रकार के देवताओं का पूर्ण सम्बन्ध भारतवासी मनुष्यों के साथ रहा है और उनके उपदेश से ही बहुत-सी विद्याएँ प्रकाशित हुई हैं। जैसे व्याकरण विद्या आयुर्वेद विद्या का प्रथम प्रवक्ता इन्द्र को बतलाया गया है। उनसे भरद्वाज, पाणिनि आदि ने ये विद्याएँ प्राप्त कीं और उनका प्रसार भारतवर्ष में किया। इसी प्रकार पुराण-विद्या भी बहुत अंशों में देवताओं से प्राप्त हुई है।*

जिस प्रकार महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के उक्त उद्धरण में दो स्वर्गों अथवा देवलोक के द्विविध रूप की कल्पना की गई है, उसी प्रकार प्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' में भी देवताओं का द्विविध रूप दृष्टिगोचर होता है। देवताओं के एक वर्ग में जहाँ 'सविता, पूषा' आदि को सम्मिलित

* द्रष्टव्य 'पुराणों की वक्तृ-परम्परा' (पं० गिरिधर शर्मा, चतुर्वेदी, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २ सितम्बर १९५६)

किया गया है वहाँ देवताओं के दूसरे वर्ग में प्रसाद ने इसी भूमि पर रहने वाली देव-जाति का समावेश किया है। कामायनीकार के शब्दों में—

> 'देव न थे हम, और न ये हैं
> सब परिवर्तन के पुतले
> हाँ कि गर्व रथ में तुरग सा
> जो चाहे जितना जुत ले॥"

"और न ये हैं"-से प्रसाद का संकेत स्पष्ट ही 'पूषा, पवमान, सविता' आदि देवताओं से है और 'हम' से तात्पर्य इसी भूमि पर रहने वाली देव जाति से है। 'कोशोत्सव स्मारक संग्रह' में प्रकाशित अपने लेख 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट' में प्रसाद ने इन्द्र को आर्यावर्त का प्रथम सम्राट् माना है।

इन्द्र का वास्तविक स्वरूप क्या था, इस प्रश्न को मैं यहाँ उठाना नहीं चाहता। पाश्चात्य विद्वानों ने उसे cepaque देवता की संज्ञा दी है अर्थात् उनकी दृष्टि में इन्द्र एक इस प्रकार का देवता है कि जिस पर अन्धकार का पर्दा गिरा हुआ है। जो हो, प्रसाद ने उसे आर्यावर्त के सम्राट् के रूप में ग्रहण किया है।

प्रसाद ने 'कामायनी' के प्रथम सर्ग में जिन देवताओं की उच्छृंखलता और निर्बाध विलासिता का चित्रण किया है, वे देवता इसी भारत भूमि पर निवास करने वाले थे। हाँ, यह अवश्य है कि जिस आर्यावर्त का निवासी उन देवताओं को बतलाया गया है, उस आर्यावर्त की सीमा निश्चय ही भिन्न थी।

आर्य लोग इस देश में बाहर से आये अथवा भारत ही आर्यों का आदि देश था, इस विषय को लेकर ऐतिहासिक विद्वानों में आज भी विसंवाद दृष्टि गोचर होता है किन्तु प्रसाद का अपना मत यही था कि आर्य लोग इसी भारत भूमि के रहने वाले थे। कामायनी में जिस देव-जाति का चित्रण हुआ है, वह इसी भारत भूमि पर रहने वाली थी और सप्तसिंधु प्रदेश उसका क्रीड़ास्थल था जैसा कि कामायनी के निम्नलिखित पद्य से स्पष्ट है—

> कीर्ति, दीप्ति, शोभा थी नचती
> अरुण किरण सी चारों ओर

सप्तसिंधु के तरल कणों मे
द्रुम - दल मे आनन्द - विभोर

(चिन्ता सर्ग)

अपने प्रसिद्ध नाटक 'स्कन्दगुप्त' में भी प्रसाद ने मातृगुप्त के मुख से कहलवाया है—

"हमारी जन्मभूमि थी यही, कहीं से हम आये थे नहीं।"

"मनुस्मृति म आर्यावर्त की सीमा हिमालय और विन्ध्य के बीच की भारत-भूमि ठहराई गई है किन्तु वैदिक आर्यों का विस्तार यहीं तक परिमित नहीं था। श्री अविनाशचन्द्रदास ने अपने (Rigvedic India) में सिंधु और उसकी सहायक अन्य छ: नदियों के प्रदेश को सप्तसिंधु कहा है किन्तु प्रसाद सिंधु, गगा और सरस्वती इन त्रेधा सप्तकों से आच्छादित प्रदेश को सप्तसिन्धु मानते हैं।"

इस प्रकार ऊपर जो कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि प्रसाद ने अपने महाकाव्य 'कामायनी' में आकाशी और भौमिक दोनों प्रकार के देवताओं का वर्णन किया है किन्तु जिस देव-जाति के उच्छृङ्खल कृत्यों का वर्णन उन्होंने किया है, वह उनकी दृष्टि में इसी आर्यावर्त में निवास करने वाली थी।

किन्तु यहाँ पर एक प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। जिस देव-जाति का चित्रण प्रसाद ने किया है, उसे 'अमर' क्यों कर कहा जा सकता है। कामायनी में 'अरे अमरता के चमकीले पुतलो! तेरे वे जय नाद' आदि अनेक पद्य ऐसे हैं जिनमें इस देव-जाति के अमरत्व का उल्लेख हुआ है। निश्चय ही ये भूमि पर रहने वाले देवता अमर नहीं थे क्योंकि यदि ये अमर होते तो खड प्रलय में (जिसका चित्रण कामायनी में हुआ है) इन देवताओं का नाश न होता। हाँ, यह अवश्य है कि कामायनी में चित्रित देवता अपने आपको 'देवता' समझते थे जिसका दुःखद परिणाम स्वय प्रलय क रूप में उन्हें भोगना पड़ा। कामायनीकार ने उन्हीं के मुख से कहलवाया है:—

"स्वय देव थे हम सब तो, फिर
क्यों न विशृंखल होती सृष्टि ?"

श्री दिनेश्वर प्रसाद का मत है कि 'कामायनी' में जिस देव-जाति का वर्णन हुआ है, वह अपने आपको आकाशवासी देवताओं की संतान मानने वाली देव-जाति थी। मनु इसी देव जाति के अवशेष थे जिनसे देव-सृष्टि के विलक्षण मानव सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ।

अन्त में यह कह देना आवश्यक है कि देवताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं है। मीमांसक तो देवताओं को केवल मंत्रात्मक मान कर चले हैं। देवताओं और देव जाति के सम्बन्ध में भी प्रसाद का अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण है जिसे कामायनी का अनुशीलन करते समय हमें ध्यान में रखना चाहिए।

'कामायनी' और 'पद्मावत' का रूपक-तत्व

डा० भगवत व्रत मिश्र एम० ए०, पी-एच० डी०

रूपक—साहित्य में रूपक शब्द, दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। एक दृश्य काव्य के अर्थ में, जहा रूपक शब्द नाटक के लिये प्रयोग किया जाता है, क्योंकि साहित्य शास्त्रियों के अनुसार नाटक रूपक के अनेक भेदों में से एक प्रमुख भेद है। "रूपारोपातु रूपकम्" एक व्यक्ति का दूसरे पर आरोप करने को रूपक कहते हैं। नट पर जब अन्य पात्रों का आरोप किया जाता है, तब रूपक बनता है।

दूसरे, रूपक नाम एक साम्य-मूलक अलकार भी होता है। इस अलकार में अप्रस्तुत का प्रस्तुत पर अभेद आरोप रहता है। रूपक अलकार के तीन प्रकारों (निरग, साग और परपरित) में से साग रूपक, निम्न लिखित, भिन्न रूपों में पाया जाता है —

१—रूपकातिशयोक्ति इसमें उपमेय का लोप करके केवल उपमान का कथन किया जाता है और उसी से उपमेय का अर्थ लिया जाता है। जैसे—

"जुगल कमल पर गज बर क्रीडत, तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर सर पर गिरवर, गिरि पर फूले कज पराग।"

यहा पर गज, सिंह, आदि उपमेयों द्वारा उपमान (नख शिख) का वर्णन हुआ है।

२—समासोक्ति—इससे प्रस्तुत प्रसग का वर्णन करने में अप्रस्तुत अर्थ का भी व्यग होता है अथवा इस अलकार में वाच्यार्थ तो प्रस्तुत होता है और व्यग्यार्थ अप्रस्तुत होता है। जैसे—

'मिलहु सखी ! हम तहवां जाहीं।
जहां जाइ पुनि आउब नाहीं॥
सात समुद्र पार वह देसा।
कितरे मिलन, कित आव अंदेसा।'

यहाँ पद्मावती के ससुराल जाने का अर्थ प्रस्तुत अर्थ है। इसी में मानव के परलोक जाने का अप्रस्तुत अर्थ भी सूचित होता है।

३—अन्योक्ति—इसमें प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत का कथन किया जाता है। पर उससे अर्थ प्रस्तुत का निकलता है। अथवा इस अलंकार में कथा प्रसंग से भिन्न वस्तुओं के द्वारा प्रस्तुत प्रसंग की व्यञ्जना होती है। जैसेः—

"माली आवत देखि कर, कलियन करी पुकारि।
फूले फूले चुन लिये, कालिह हमारी बारि॥"

यहां माली, कलियों और फूलों का कथन अप्रस्तुत है। प्रसंग से इनका सम्बन्ध नहीं है। इसमें प्रस्तुत अर्थ है काल, युवक और वृद्ध-जन। युवक जन कहते हैं कि आज वृद्धजन को काल लिये जा रहा है, कल जब हम वृद्ध हो जायेंगे, तो हमें ले जायगा।

डा० नगेन्द्र ने इसी अन्योक्ति को ऊपर दिये हुए रूपक के दोनों अर्थों (दृश्य काव्य और साम्यमूलक अलंकार) से भिन्न एक तीसरे अर्थ में भी प्रयुक्त किया है। इस नवीन अर्थ में रूपक अँगरेजो की एलीगरी (Allegory) का पर्याय है। एलीगरी एक प्रकार का कथा रूपक ही है। ऐसे कथा रूपक में दो प्रकार के अर्थ निकलते हैं, जिनमें एक अर्थ प्रत्यक्ष और दूसरा गूढ़ होता है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में—"रूपक अलकार मे जहाँ प्रायः एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर अभेद आरोप होता है। वहाँ कथा रूपक मे एक कथा का दूसरी पर अभेद आरोप होता है। वहाँ भी एक कथा प्रस्तुत और दूसरी अप्रस्तुत रहती है। प्रस्तुत कथा स्थूल, भौतिक घटनामयी होती है, और अप्रस्तुत कथा सूक्ष्म सैद्धान्तिक होती है। वह सैद्धान्तिक कथा दार्शनिक, नैतिक, राजनीतिक, सामाजिक वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक आदि किसी प्रकार की हो सकती है। परन्तु इसका अस्तित्व मूर्त नहीं होता। वह प्रायः प्रस्तुत कथा का अन्य अर्थ ही होता है—किसी प्रबन्ध-काव्य की प्रासंगिक कथा की भांति जुड़ा हुआ नहीं होता है॥१

कथा मे रूपक तत्व—

जिस प्रकार समासोक्ति तथा अन्योक्ति ऐसे अलकारों में द्वि अर्थक तत्व होता है, उसी प्रकार ऊपर के उद्धरण के अनुसार कथा में दो अर्थों का बोध कराने वाला तत्व होता है, जिसे कथा का रूपक-तत्व कहते हैं, क्योंकि इसमें किसी सैद्धान्तिक अप्रस्तुत अर्थ या दूसरे अर्थ के प्रस्तुत अर्थ पर अभेद आरोप रहता है। प्रसाद जी 'कामायनी' और जायसी के 'पद्मावत' की कथाओं में इसी

१—डा० नगेन्द्र—'विचार और विश्लेषण' पृ० ६५

प्रकार के रूपक-तत्व का संकेत मिलता है। अब यह विचार करना है, कि इन दोनों महाकाव्यों की कथा-वस्तुओं में रूपक तत्व कितना है और उसका कहां तक निर्वाह हुआ है।

'कामायनी'

रूपक की प्रस्तुत कथा में मौतिक व्यक्तियों तथा घटनाओं की अभिव्यञ्जना होती है, और अप्रस्तुत कथा दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक होती है। कामायनी की प्रस्तुत कथा इस प्रकार है :—

खण्ड प्रलय होती है। देव सृष्टि और वैभव का ध्वंस होता है। केवल मनु बच जाते हैं और वे चिन्ता में मग्न हो जाते हैं, परन्तु शान्त वातावरण में उनके अन्तर में जीवित रहने की इच्छा होती है और धीरे-धीरे उनके मन में आशा का सचार होता है। वे जीवन के साधन जुटाने में लग जाते हैं। 'कामायनी' नामक गांधर्व प्रदेश की नारी आती है और मनु को एकाकी पाकर आत्म-समर्पण कर देती है। दो हृदयों के मिल जाने पर काम और वासना की उत्पत्ति होती है। फिर श्रद्धा (कामायनी) में लज्जा का आविर्भाव होता है। पुरोहित आकुलि और किलात के कहने पर मनु हिंसा पूर्ण (श्रद्धा के पशु शिशु का बध करके) यज्ञ और भोग कर्म में लीन हो जाते हैं। आने वाले शिशु के लिये श्रद्धा तकली से ऊन कातती है। मनु सोचते हैं, कि शिशु के जन्म लेते ही श्रद्धा का प्रेम बंट जायगा। अतः उन्हें ईर्ष्या होती है; क्योंकि वह चाहते हैं कि श्रद्धा का सारा प्रेम एक मात्र उन्हीं पर स्थिर रहे। अतः वह श्रद्धा को छोड़कर चल देते हैं।

मनु सारस्वत प्रदेश को आते हैं। यहा युवती इड़ा के सम्पर्क में आकर वे राज्य की स्थापना करते हैं और कर्म व्यवसाय में पड़कर उद्योग धन्धा और खेती की उन्नति करते हैं फिर वे अपने ही बनाये हुए नियमों को तोड़ कर इड़ा पर एक मात्र अधिकार करने में इड़ा से असफल संघर्ष और प्रजा से युद्ध करते हैं किन्तु घायल होते हैं। उन्हें श्रद्धा फिर ढूंढ लेती है। श्रद्धा को देखकर मनु को ग्लानि होती है। श्रद्धा अपने पुत्र कुमार को (जो अब कुछ बड़ा हो गया है) इड़ा के हाथों में सौंप कर मनु को एक ऐसे स्थल पर ले जाती है, जहां से तीन अग्नि पिण्ड दिखाई देते हैं। इन तीनों पिण्डों का रहस्य बताती हुई वह कहती है कि ये त्रिपुर (भावलोक, कर्म-लोक और ज्ञान लोक) हैं। श्रद्धा की हंसी के प्रकाश से ये तीनों पिण्ड एक हो जाते हैं। मनु का मानसिक कष्ट दूर हो जाता है और वे शान्तिमय आनन्द में लीन हो जाते हैं। श्रद्धा कहती है

कि कर्म, भाव, और ज्ञान के समन्वय में ही आनन्द है। जब तक ये अलग हैं तब तक अशान्ति है। मानसरोवर पर मानव कुमार और इड़ा भी आकर मिलते हैं। मनु उन्हें कैलाश पर्वत का रहस्य बताते हैं।

साकेतिक अर्थ—

'कामायनी' की इस प्रस्तुत कथा में अप्रस्तुत कथा का संकेत करते हुए प्रसाद जी स्वयं कहते हैं—"आर्य साहित्य में मानवों के आदि पुरुष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराण, और इतिहासों में बिखरा हुआ मिलता है...... इसलिए, वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है।

× × × ×

यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।

× × × ×

यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है। ...... ! इन सभी के आधार पर 'कामायनी' की सृष्टि हुई है।'[१]

उक्त उद्धरण के अनुसार इस कथा में भौतिक व्यक्तियों वस्तुओं और घटनाओं का प्रतीकमय सांकेतिक अर्थ इस प्रकार है :—

१—कथा का प्रस्तुत पक्ष ऐतिहासिक और पौराणिक है, परन्तु इसका अप्रस्तुत पक्ष मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक है।

२—मनु—प्रसाद[२] जी के अनुसार मन, मनोमय कोष में स्थित जीव, डा० नगेन्द्र[3] के अनुसार चेतना, (Consciousness) उसका मूल लक्षण है। अहंकार (मैं हूँ) की भावना, जो अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प में अपनी अभिव्यक्ति करती है।

१—प्रसाद जी-कामायनी-आमुख।

२—प्रसाद जी—कामायनी-आमुख।

३—डा० नगेन्द्र—विचार और विश्लेषण पृ० ६७।

"मैं हूँ यह वरदान सदृश क्यों, लगा गूँजने कानों मे।
मैं भी कहने लगा, मैं रहूँ, शाश्वत नभ के गानों मे ।।
× × × ×
यह जलन नहीं सह सकता मैं, चाहिए मुझे मेरा ममत्व।
इस पंचभूत की रचना मे, मैं रमण करूँ बन एक तत्व ।।"

३—कामायनी——(श्रद्धा) प्रसाद जी के अनुसार हृदय की प्रतीक—
"हृदय की अनुकृति बाह्य उदार,
एक लम्बी काया उन्मुक्त;"

आचार्य शुक्ल[1] जी के अनुसार विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति, जीवन में शान्तिमय आनन्द का अनुभव कराने वाली, डा० नगेन्द्र के अनुसार काम और रति की पुत्री, प्रेम कला का सन्देश सुनाने वाली, सहानुभूति, दया, ममता, मधुरिमा, त्याग, क्षमा, विश्वास, उत्साह, प्रेरणा और स्फूर्ति की प्रतीक—
"यह लीला जिसकी विकस चली, वह मूल शक्ति थी प्रेम कला।
उसका संदेश सुनाने को, संसृत मे आई यह अमला।"

४—इडा—बुद्धि, तर्क, भौतिक ज्ञान, विज्ञान, व्यवसायात्मिकता आदि गुणों का समन्वय। "बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल"—इडा के व्यक्तित्व का प्रतीकात्मक चिन्ह है।

५—श्रद्धा मनु का पुत्र कुमार—नव मानव, जो मनन शीलता पिता से, हृदय के गुण माता से और बौद्धिक गुण इडा से प्राप्त करता है।

६—आकुलि और किलात पुरोहित—आसुरी वृत्तियों के प्रतीक; मनु को हिंसा पूर्ण यज्ञ की प्रेरणा देने वाले, सारस्वत प्रदेश के विद्रोहियों के नेता।

७—श्रद्धा का पशु शिशु—जीव दया करुणा या अहिंसा का प्रतीक।
८—वृषभ—धर्म।
९—सोमलता—भोग।
१०—सोमलता से आवृत वृषभ—भोग संयुक्त धर्म।
११—जल प्लावन—माया का प्रवाह।
१२—त्रिलोक—तीन अग्नि पिण्ड, (भाव लोक, कर्मलोक, ज्ञान लोक)
१३—मानसरोवर—समरसता।
१४—कैलाश—आनन्दमय कोष।

१—आचार्य शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० ६६०।

काम और लज्जा अशरीरी पात्र हैं। प्रतीक की दृष्टि से इनका कुछ भी महत्व नहीं है।

इन प्रतीकों के अनुसार कामायनी की सांकेतिक कथा इस प्रकार है—

सुख, वासना और बुद्धि के प्रभाव से मन चिन्ता, अभाव और अशान्ति में लीन है। आशा के उदय के पश्चात् मन में श्रद्धा (विशुद्ध आत्म वृत्ति) का आविर्भाव होता है। परन्तु मन इसे पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर पाता है। अतः मन में काम वासना के भाव उठते हैं। वासना के फलस्वरूप तृष्णा की वृद्धि होती है। उसकी तृप्ति के लिये मन कर्म करता है। कर्म करने से अहं-भाव (मैं हूँ) का विकास होता है। इस अहं भाव की तुष्टि की बाधक वस्तुओं के प्रति मन में ईर्ष्या और द्वेष के भाव उठते हैं।

मन श्रद्धा से दूर होकर बुद्धि (इडा) के जाल में फँस जाता है। बुद्धि के प्रभाव से उसकी आकाङ्क्षाएँ बढ़ती हैं। मन बुद्धि पर भी एकाधिकार करना चाहता है। अतएव संघर्ष होता है मन पर आघात होते ही श्रद्धा वृत्ति स्वतः आ जाती है। मन पश्चाताप करता है। श्रद्धा मन को ऊँचा उठा कर एक ऐसे स्थल पर ले जाती है, जहाँ पहिले तो कर्म, भाव और ज्ञान भिन्न भिन्न दिखाई पड़कर जीवन की विडम्बना सिद्ध करते हैं "ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मनकी एक दूसरे से न मिल सकें, यह विडम्बना है जीवन की।"

बाद को वह मन को ऐसे स्थल पर ले जाती है जहाँ भाव वृत्ति, कर्मवृत्ति और ज्ञान वृत्ति सामञ्जस्य का रहस्य स्पष्ट होता है। यही आनन्द लोक है—

"स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो,
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे

और समरसता की अवस्था प्राप्त कर मन पूर्ण आनन्द मे लीन होता है

दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे"

मानव जीवन की परिणति आनन्द ही है। समरस मानव भोग संयुक्त धर्म के चिरानन्द में मग्न रहता है।

प्रसाद जी की इस कथा पर आधुनिक देश काल का भी प्रभाव है। आज के मनुष्य का मन मानवता (श्रद्धा) का परित्याग कर बुद्धिवाद को अपनाने का प्रयत्न कर रहा है और भौतिक सुख की ओर बढ़ रहा है। आज के वैज्ञानिक युग

में मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के यन्त्रों का प्रयोग करता है और संसार के समस्त सुखों को प्राप्त करने में इतना व्यस्त है कि न तो वह ईश्वरवादी है और न वह गांधी जी की अहिंसा के अनुसार दया धर्म को अपनाने वाला रह गया है। मृगतृष्णा के समान जब उसे पूर्ण सुख की प्राप्ति में असफलता होती है, तब वह आहत और क्षुब्ध होकर यह अनुभव करता है, कि गांधी जी की अहिंसा या मानवता (श्रद्धा) के बिना जीवन एक विडम्बना मात्र है। मानव भावना के साथ जब इच्छा, ज्ञान और क्रिया का सामञ्जस्य होगा, तभी मनुष्य को शान्ति प्राप्त हो सकती है।

इस कथा में सामाजिक मनोविज्ञान का भी विश्लेषण हुआ है। सारस्वत प्रदेश का संघर्ष आधुनिक नियम तोड़ने वाले सत्ताधारी शासक के विरुद्ध प्रजातान्त्रिक समाज के विप्लव की एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक आवश्यकता का संकेत है। जब किसी राष्ट्र का संचालन मनु जैसे अहंकारी स्वार्थी तथा विलासी व्यक्ति के हाथ में रहेगा, तब स्नेह, सहानुभूति, क्षमा आदि भावनाएँ समाप्त हो जायँगी। आत्मवाद और साम्यवाद के संयोग में ही कल्याण है।

प्रसाद जी ने इस महाकाव्य में श्रद्धा सम्बन्धी उन्हीं पात्रों तथा प्रसंगों का कथन किया है, जो सर्वथा उपयुक्त हैं और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का सुन्दरता से निरूपण करते हैं। फिर भी इस रूपक से निम्नलिखित असंगतियाँ हैं—

अ—सारस्वत प्रदेश में इड़ा की सहायता से जब मनु कर्म का विस्तार करते हैं, तब तो बुद्धि और कर्म एक हो जाते हैं परन्तु आगे चल कर भाव, ज्ञान और कर्म तीन त्रिपुरों के रूप में अलग दिखाए गए हैं।

ब—रति और काम की पुत्री श्रद्धा, सहानुभूति और मानव-करुणा की मूर्ति होते हुए भी भाव, कर्म और ज्ञान वृत्तियों से अलग दिखाई गई है।

स—मनु और कुमार दोनों को मन का प्रतीक माना गया है। यहाँ पर पिता और पुत्र दोनों के लिए एक ही प्रतीक का प्रयोग हुआ है।

इन असंगतियों के होते हुए भी यह कहना है कि कामायनी में रूपक तत्व का निर्वाह सफलता से हुआ है। यह असंगतियाँ गौण रूप में पाई जाती हैं फिर किसी भी कथा के एक एक शब्द या अंग को प्रतीक की कसौटी में नहीं कसा जा सकता है। प्रतीकों के अतिरिक्त इतर स्थूल रूप में भी बहुत सी असंगतियाँ ढूँढ़ी जा सकती हैं।

पद्मावती

जायसीकृत पद्मावत की प्रस्तुत कथा इस प्रकार है—

सिंहल द्वीप के राजा गंधर्वसेन के पद्मिनी नाम की एक अति सुंदरी पुत्री है। पद्मिनी के पास एक हीरामन तोता है। तोता पद्मिनी से, उसके विवाह के विषय में बातें करता है। इन बातों को सुनकर राजा गंधर्वसेन तोता पर क्रुध होता है और तोता के मार डालने की आज्ञा दे देता है। किसी प्रकार से तोता अपनी जान बचा कर उड़ जाता है और एक ब्राह्मण के हाथ में लगता है। वह ब्राह्मण उसे चित्तौड़गढ़ के राजा रत्नसेन के हाथ बेच देता है। एक दिन जबकि रत्नसेन आखेट के लिए जाता है, उसकी रूप गर्विता रानी नागमती इस तोते द्वारा पद्मिनी के रूप सौन्दर्य का वर्णन सुनती है। इस भय से, कि राजा तोते के द्वारा पद्मिनी की सुन्दरता सुन कर, कहीं मोहित न हो जाय, नागमती तोते को बध करने की आज्ञा देती है। उसकी दासी राजा के भय से तोते को छिपा डालती है। लौटने पर, जब राजा तोता के प्रस्तुत करने का हठ करता है तब दासी तोते के पिंजड़े को लाकर रख देती है।

तोता रत्नसेन से नागमती की सारी बात बता कर, पद्मिनी के रूप सौन्दर्य का वर्णन करता है। तोते द्वारा पद्मिनी रूप वर्णन के समय राजा उसके ध्यान में बेसुध हो जाता है। मूर्च्छा से जगने के उपरान्त वह शिशु की भाँति रोने लगता है। फिर रत्नसेन पद्मिनी के प्रेम में योगी बनकर उसे प्राप्त करने के हेतु तोते के साथ सिंहलद्वीप की ओर चल देता है। पथ में उसे अनेक कठिनाइयों तथा विघ्नों का सामना करना पड़ता है। अन्त में तोता की सहायता से वह पद्मिनी के दर्शन करता है। संघर्ष और युद्ध के उपरान्त वह पद्मिनी को प्राप्त करता है राजा उसे लेकर चित्तौड़ आता है, और अपनी दोनों पत्नियों के साथ रहने लगता है, परन्तु राघवचेतन और सुलतान अलाउद्दीन पद्मिनी और रत्नसेन के मिलकर रहने में बराबर विघ्न डालते हैं।

सांकेतिक अर्थ—

जिस प्रकार कामायनी के आमुख में प्रसाद जी ने स्वयं रूपक-तत्त्व का संकेत किया है, उसी प्रकार जायसी ने भी इस कथा में रूपक तत्त्व स्पष्ट करने के लिए ग्रंथ के अन्त में निम्नलिखित चौपाइयाँ दी हैं —

> ' तन चित उर मन राजा कीन्हा, हिय सिंघल बुधि पदमिन चीन्हा।
> गुरु सुआ जेहि पथ देखावा, बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।

नागमती यह दुनिया धधा, बाचा सोइ न एहिं चित बधां।
राघव दूत सोइ सैतानू माया अलादीन सुलतानू।''

इन चौपाइयों के अनुसार प्रस्तुत कथा में मौलिक व्यक्तियों, घटनाओं और वस्तुओं के प्रतीकात्मक अर्थ निम्नलिखित हैं —

१—पद्मिनी—ज्ञान, बुद्धि चैतन्य स्वरूप परमात्मा।

२—हीरामन तोता—सद्गुरु, मुर्शिद, कामिल और ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय तथा मार्ग (साधना) बताने वाला।

३—राजा रत्नसेन—मन, जीव, सालिक, परमात्मा को प्राप्त कर लेने वाला साधक।

४—नागमती—माया, जजाल, सूफियों के अनुसार नफ्स (इन्द्रिय सुख), तोते को मार कर राजा का ब्रह्म प्राप्ति में बाधा पहुँचाने वाली नारी (या माया)

५—चितौड़गढ़—तन, (तन रूपी चित्तौड़ का मन रूपी राजा)

६—राघव चेतन—माया।

७—सुलतान अलाउद्दीन—शैतान।

८—तोते द्वारा पद्मिनी के रूप सौन्दर्य का वर्णन—गुरु द्वारा ब्रह्म-तेज और ब्रह्म ज्ञान की अनुभूति।

९—रत्नसेन का योगी बनकर घर से निकलना—साधक का ब्रह्म-प्राप्ति की साधना करना।

१०—रत्नसेन का पद्मिनी तक पहुँचने वाला प्रेम—जीवात्मा का परमात्मा से मिलने वाला प्रेम।

इन प्रतीकों के आधार पर 'पद्मावत' में भी सांकेतिक कथा इस प्रकार है। मन (जीव, साधक, सालिक) अपने तन (चित्तौड़ गढ़) इन्द्रिय सुख (नफ्स या नागमती) में लीन है। मुरशिद या कामिल (सुआ गुरु) उस ब्रह्म (पद्मिनी) के परम तेज मय सौन्दर्य का साधक को बोध कराता है। मन या साधक समाधि में लीन होता है। जब उसकी समाधि टूटती है, तब मन व्याकुल हो उठता है, क्योंकि उस अलौकिक का वियोग उसे सह्य नहीं है। मन इन्द्रिय सुख (नागमती) से छुटकारा पाकर, सहज बुद्धि या परम तेज मय-ब्रह्म की ओर बढ़ता है। इधर इन्द्रिय-सुख (नागमती) भी सुंदर या मोहक है परन्तु मन जब एक बार भी मुअरिफ (ब्रह्म या पद्मिनी) के सामिप्य तथा सौंदर्य के सुख का अनुभव कर लेता है तब इन्द्रिय सुख से उसे कुछ भी आकर्षण नहीं रह जाता है। मन मुअरिफ के समीप जाने की साधना करता है। साधना के पथ में

अनेक विघ्न बाधाएँ आती हैं। इस प्रकार के कष्टों को झेलता हुआ गुरु की सहायता से मन मुअरिफ के दर्शन करने में सफल होता है, और ब्रह्म में लीन हो जाता है, परन्तु शैतान और माया, मन की एकाग्रता में बाधक होते हैं।

यहाँ पर यदि हम सांकेतिक अर्थ को ही प्रधान मान लें तब तो यह निश्चय ही अन्योक्ति है। डा० सूर्यकान्त शास्त्री[1] और आचार्य शुक्ल[2] जी भी इसको अन्योक्ति कहते हैं। परन्तु इस कथा में सभी स्थल ऐसे नहीं हैं। कुछ स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ वाच्यार्थ से अन्य अर्थ को (जो साधना पक्ष में व्यक्त पाया जाता है) प्रबंध काव्य की दृष्टि से, अप्रस्तुत ही कहा जा सकता है। अतएव समासोक्ति है। उदाहरणार्थ—सिंहलगढ़ की दुर्गमता, सिंहल द्वीप के मार्ग की दुर्गमता, रत्नसेन का तूफान में पड़ना और लंका के राक्षस द्वारा बहकाया जाना आदि।[3]

'सो दिल्ली अस निबहुर देसू। केहि पूछहु, को कहै सँदेसू॥
जो कोइ जाइ तहाँ पर होई। जो आवै किछु, जान न सोई॥
अगम पंथ पिय तहाँ सिधावा। जो रे गयउ सो बहुरि न आवा॥'

जायसी की इन चौपाइयों में 'किछु जान न सोई' से 'बहुरि न आवा' के अर्थ 'दिल्ली गमन' और 'परलोक गमन' निस्सृत हैं। अतः यहाँ आचार्य शुक्ल[3] के अनुसार दिल्ली गमन में परलोक गमन के व्यवहार का आरोप करके समासोक्ति मानना ही उपयुक्त है।

यद्यपि पद्मावत की कथा में अन्योक्ति के रूप में रूपक तत्व का संकेत स्पष्ट है, तथापि इस रूपक तत्व में बहुत सी निम्नलिखित असंगतियाँ हैं —

१—नागमती, राघवचेतन और अलाउद्दीन माया के प्रतीक माने गये हैं। धार्मिक ग्रंथों में केवल दो प्रकार की माया विद्या, अविद्या (परा-अपरा) का ही उल्लेख हुआ है। इस कथा में तीन प्रकार की माया का संकेत हुआ है।

२—राजा रत्नसेन और सिंहलगढ़ को मन का प्रतीक माना गया है। यहाँ दो प्रकार के मन की संगति नहीं बैठती है।

३—जब आत्मा या मन (रत्नसेन) परमात्मा या बुद्धि (पद्मिनी) में लीन हो गया है, तो माया या शैतान (राघवचेतन अलाउद्दीन) से किस प्रकार अलग कर सकते हैं।

१—डा० सूर्यकान्त शास्त्री—पद्मावति भाग—१ (१९३४)
२—शुक्ल जी 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका। पृ० २
३—आचार्य शुक्ल—'जायसी ग्रंथावली' का भूमिका पृ० ५७।

४—पद्मिनी से विवाह होने पर (रत्नसेन) मन (नागमती) इन्द्रिय-सुख को क्यों अपनाता है और दोनों ब्रह्म और माया (पद्मिनी और नागमती) से समान व्यवहार क्यों करता है।

५—नागमती पद्मिनी दोनों रत्नसेन के साथ चिता पर बैठ कर भस्म हो जाती है। प्रतीक के दृष्टि से इसका क्या अर्थ हो सकता है।

६—सद्गुरु (सुआ) भी मृत्यु (बिल्ली) से भय खाता है।

इस प्रकार की और भी अनेक असंगतियाँ इस कथा में हैं जिनके आधार पर डा० कुलश्रेष्ठ[1] पद्मावत की कथा को अन्योक्ति नहीं मानते हैं और 'तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा।" वाली चौपाइयों को अप्रमाणिक और सांकेतिक कोष को गलत सिद्ध करते हुए वह कहते हैं —

'यह कोष एक दम गलत है। या तो किसी ने इसे बाद में जोड़ दिया है या कवि ने अपनी लौकिकता को छिपाने के लिए, यह एक जामा अपने काव्य को पहनाया है, जिसमें साधारण व्यक्ति उस काव्य की आध्यात्मिकता में विश्वास रखें।"[2]

डा० कुलश्रेष्ठ को जायसी के पद्मावत की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है, जिसमें इन चौपाइयों (तन चितउर वाला अंश नहीं है। इसी के अनुसार उन्होंने इस रूपक को अन्योक्ति न मानने के लिए अनेक तर्क दिए हैं, जो बहुत ही बल रखते हैं फिर भी उन आपत्तियों अथवा उक्त असंगतियों में कुछ की सफाई इस प्रकार दी जा सकती है :—

१—तीसरी असंगति में शंका है कि आत्मा परमात्मा में लीन हो जाने के उपरान्त माया और शैतान कैसे बाधक होते हैं?

प्रायः यह देखा गया है कि योगी का मन ब्रह्म में लीन होते हुए भी शरीर की इन्द्रियों से सम्बन्धित माया उसके मन को विचलित करने का प्रयत्न सदैव किया करता है।

२—चौथी असंगति है कि ब्रह्म (पद्मिनी) से मिल जाने पर मन (रत्नसेन) इन्द्रिय-सुख (नागमती) को फिर क्यों अपनाता है? और दोनों ब्रह्म और माया (पद्मिनी और नागमती) से समान व्यवहार क्यों करता है?

जो योगी परम हंस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। उनके मन में समरसता

१—डा० कुलश्रेष्ठ—मलिक मोहम्मद जायसी पृ० ९७ १००।

२—डा० कुलश्रेष्ठ—मलिक मोहम्मद जायसी—पृ० ९७ १००।

श्रा जाती है। सुख दुःख उनके लिये समान हो जाते हैं शरीर को धारण करते हुए भी या इन्द्रिय-सुख में रहते हुए भी उनका मन परम ब्रह्म में लीन रहता है। जिस प्रकार से कमल के पत्ते को जल में रहते हुए भी, जल गीला नहीं कर पाता है उसी प्रकार माया या इन्द्रिय सुख के बीच में रहते हुए भी उस पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है और इस स्थिति में पड़ा हुआ जीव माया और ब्रह्म दोनों से समान व्यवहार करता है। समरस मानव भोग संयुक्त धर्म के चिरानन्द में मग्न रहता है ऐसा 'कामायनी' में ऊपर कहा गया है।

इसी प्रकार से और भी असंगतियाँ हैं, जिनका समाधान नहीं हो सका है क्योंकि महान् विद्वान द्वारा लिखी हुई उत्तम से उत्तम रूपक तत्व वाली कथा सम्पूर्ण ग्रंग या शब्द प्रतीक रूप में नहीं बिठाए जा सकते हैं। जायसी एक ऐसे महात्मा थे जिन्होंने केवल सत्संग से ज्ञान प्राप्त कर लिया था, कबीर जैसे संतों की भाँति अधिक पढ़े लिखे न थे। वे वे पढ़ी लिखी जनता का, अपनी प्रेम कथाओं द्वारा, मन बहलाते थे और इन्हीं कथाओं द्वारा अपने सूफी सिद्धान्त भी समझा देते थे। सम्भव है, इस प्रेम कथा के कुछ प्रसंग ऐसे हों जो जनता के आकर्षण और मनोरंजन के तो साधन हों, किन्तु रूपक तत्व की दृष्टि से असंगत हों।

हो सकता है कि जायसी की प्रबन्ध योजना ऐसी न हो जो प्रत्यक्ष प्रतीक पद्धति का सफलता से निर्वाह कर सके। यह भी सम्भव है कि इन प्रतीकात्मक चौपाइयों को जायसी ने सारे ग्रंथ की रचना करने के उपरान्त जोड़ दी हो, और इन प्रतीकों को कथा में उपयुक्त ढँग से जमाने का उन्हें अवसर न मिल सका हो। कुछ भी हो, परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि 'पद्मावत' में कुछ अंशों तक रूपक तत्व का सफलता से निर्वाह हुआ है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में "प्रस्तुत कथा को पूरी तरह अप्रस्तुतार्थ से जकड़ देना ठीक नहीं है—आखिर प्रस्तुत कथा को थोड़ा अवकाश देना ही चाहिए"[1] कहना न होगा कि 'पद्मावत' की कथा के पूर्वार्द्ध में आध्यात्मिक रूपक का जितना विस्तृत रूप से मेल बैठता है, उतना उत्तरार्द्ध में नहीं।

'कामायनी' और 'पद्मावत' के रूपक तत्व की तुलना—

'कामायनी' के रूपक तत्व के सभी पात्र विश्वासनीय और लौकिक हैं, परन्तु 'पद्मावत' के कुछ पात्र अलौकिक जान पड़ते हैं—पद्मिनी, सुआ, महादेव आदि ऐसे पात्र हैं जो विश्वासनीय तथा लौकिक नहीं हैं।

१ डा० नगेन्द्र 'विचार और विश्लेषण' पृ० ७५

नागमती जैसी पतिव्रता स्त्री को माया या जंजाल मानना अनुचित है, परन्तु 'कामायनी' में ऐसे अनौचित्य के दर्शन नहीं होते हैं।

'कामायनी' के सर्गों के नाम मानसिक वृत्तियों के अनुसार रखे गये हैं— 'चिन्ता सर्ग, आशा-सर्ग, काम सर्ग', परन्तु 'पद्मावत' मे सर्गों के नाम घटना और वस्तु के आधार पर पाए जाते हैं—सिंहलद्वीप-खंड, रत्नसेन सूली खण्ड आदि।

'कामायनी' में प्रतीकों का निर्वाह अधिक सफल हुआ है। इसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ एक ही दिशा में चलते हैं और असंगतियाँ भी कम हैं, परन्तु 'पद्मावत' में प्रतीकों का निर्वाह ठीक ढग से नहीं हो पाया है। अतः इसमें असंगतियाँ भी अपेक्षाकृत अधिक हैं और इसके वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी एक दिशा में नहीं चलते हैं।

'कामायनी' के रूपक मे मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक तत्व समरूप में पाए जाते हैं, परन्तु 'पद्मावत' में आध्यात्मिक और ऐतिहासिक तत्व पाए जाते हैं। इसकी कथा में आध्यात्मिक तत्व इतना छाया हुआ है कि ऐतिहासिक तत्व दब सा गया है।

'कामायनी' के सभी प्रसगों में प्रस्तुत अप्रस्तुत दोनों पक्षों का अर्थ सरलता से बैठ जाता है, परन्तु 'पद्मावत' के बहुत से प्रसगों में अप्रस्तुत अर्थ को छोड़ता हुआ मालूम पड़ता है।

निष्कर्ष रूपों में इन दोनों ग्रन्थों में रूपक-तत्व के दर्शन होते हैं, और उसका निर्वाह भी अच्छे ढग से हुआ है।

'कामायनी' का मनोवैज्ञानिक आधार

श्री रामगोपाल द्विवेदी एम० ए०

शेक्सपियर के समय में यद्यपि मनोविज्ञान शब्द अस्तित्व में नहीं आया था फिर भी उसके नाटकों में मनोवैज्ञानिक तत्व बड़ी सरलता से इंगित किये जा सकते हैं – और किये जाते हैं। फिर आज के युग का तो कहना ही क्या? यह तो पग पग पर मनोविज्ञान की दुहाई देता है। वही साहित्यकार सफल माना जाता है जिसका ध्यान पात्रों की बाह्यता की अपेक्षा आंतरिक संघर्ष की ओर अधिक रहता है—और हमारे महाकवि प्रसाद इसी मार्ग के सफल पथिक हैं। उन्होंने 'कामायनी' के ऐतिहासिक पात्रों में भी ऐतिहासिकता की उतनी खोज नहीं की जितनी मनोविज्ञान की, पात्रों के बहिर्पक्ष पर उतनी दृष्टि नहीं डाली जितनी अन्तर्पक्ष पर। उनके विचार से बाह्य जगत में हम जो कुछ दिखाई पड़ता है वह सब अन्तर्जगत का ही प्रक्षेपण है। 'कामायनी' के आमुख में भी उन्होंने यही बात कही है - "यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।" कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सांकेतिक अर्थ ही मनोवैज्ञानिक व्यंजना करता है।

'कामायनी' के सर्गों का नामकरण 'मानस' की भाँति किसी स्थान अथवा बाह्य घटना के नाम पर नहीं है और न 'रामचन्द्रिका', 'साकेत', 'प्रियप्रवास' की भाँति संख्या भर लिख दी है अपितु प्रत्येक सर्ग मन की किसी न किसी वृत्ति का ('ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए') द्योतक है। इसका यह भी अर्थ नहीं कि कवि ने समस्त मानसिक वृत्तियों का एक ढेर (Chaos) लगा है जिसमें से जो वृत्ति उसके हाथ पड़ती है उसे ही उठाकर अपने महाकाव्य के सर्गारम्भ का मुकुट बना देता है। मानव-हृदय में—भारतीय मानव के ही नहीं, सार्वभौमिक मानव के हृदय में—जिस क्रम से मनोवृत्ति का जन्म होता है, उसी क्रम को प्रसाद जी ने अपनाया है।

विश्व द्वार की अर्गला खोलते ही मनुष्य को जिस प्रथम वस्तु के दर्शन होते हैं 'विश्व वन की व्याली', 'अभाव की चपल बालिका', ललाट की खल लेखा', 'व्याधि की सूत्रधारिणी', मधुमय अभिशाप', चिन्ता ! कौन ऐसा व्यक्ति है जिसे इसकी प्रतीति न हुई हो ? मनोविज्ञान का यह चिरतन सत्य है। 'कामायनी' के प्रथम सर्ग का, इसीलिए, प्रसाद जी ने चिन्ता नाम दिया है। इस सर्ग के अन्दर चिन्ता का ही दर्शन नहीं अपितु वैवर्ण्य वैकल्य आदि चिन्ताजन्य अनुभावों का भी लेखा है।

कौन नहीं जानता कि चिन्ता के पनघट पर आशा—नागरी बहुधा बैठी दिखाई पड़ती है। यदि ऐसा न हो तो मानव की गगरी सदैव रीती ही रह जाए और वह प्यास के मारे असमय में ही दम तोड़ दे। फिर यह सृष्टि कैसे बढ़े ? प्रसाद जी ने अपने महाकाव्य के 'चिन्ता' से आगे वाले सर्ग को, इसीलिए, 'आशा' नाम दिया है। 'चिन्ता' सर्ग के अकर्मण्य मनु 'आशा' सर्ग में कर्मशील हो जाते हैं —

> तप मे निरत हुए मनु नियमित
> कर्म लगे अपना करने,
> विश्व रंग मे कर्म जाल के
> सूत्र लगे घन हो घिरने ।

'आशा' के बाद का सर्ग 'श्रद्धा' है। चिन्ता के उपरान्त हृदय मे आशा का उदय होता है जिसके पीछे पीछे श्रद्धा चली आती है। श्रद्धा हृदय की उदात्त वृत्तियों की प्रतीक है—"मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।" (आमुख पृ० ७-८)

श्रद्धा के आगे वाले दो सर्ग 'काम' और 'वासना' है। प्रश्न उठता है क्या श्रद्धा जैसी उदात्त मनोवृत्ति काम एवं वासना की जन्मदात्री बन सकती है ? उत्तर एक है और वह है—नहीं। फिर ? फिर क्या ? इस विशुद्ध मनोवृत्ति की ओर मानव ध्यान ही कब देता है। मन के इस पक्ष पर मनुष्य बुद्धि का आरोप कर देता है अतः वह श्रद्धा जैसे अमृत सरोह को त्याग कर काम वासना जैसे पंकिल पोखरों में घुस पड़ता है। मनु ने ऐसा ही तो किया था।

'कामायनी' का अगला सर्ग है 'लज्जा'। 'श्रद्धा' सर्ग के उपरान्त कुछ दूर के लिए 'कामायनी' का मनोविज्ञान दो मार्गों में विभक्त हो जाता है। एक

भाग पुरुष सम्बन्धी और दूसरा स्त्री सम्बन्धी। काम और वासना वृत्तियाँ पुरुष में जाग्रत होती हैं। जब स्त्री ऐसे पुरुष के समीप आती है तो उसमें कुछ संकोच होता है कुछ लज्जा होती है। यदि लज्जा न हो तो यह सुनिश्चित है कि नारी चलने से पूर्व ही गिर पड़े। यह लज्जा की ही कृपा है कि यह नारी को गिरने से पूर्व ही सचेत कर देती है। स्वयं उसी के शब्दों में —

> मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ,
> मैं शालीनता सिखाती हूँ।
>
> × × ×
>
> चंचल किशोर सुन्दरता की
> मैं करती रहती रखवाली।

'कामायनी' के अगले सर्ग का नाम 'कर्म' है। यह काम-वासना का ही फल है क्योंकि वासना से मनुष्य में तृष्णा का प्रचुर आविर्भाव होता है। वह तृष्णा पूर्ण कैसे हो? इसी के लिए वह कर्म में प्रवृत्त होता है। इस स्थिति में पर मनुष्य उचित-अनुचित सब कुछ करता है। 'कामायनी' के मनु इसके लिए हिंसा भी कर सकते हैं। श्रद्धा उनसे इस घृण्य कार्य के लिए मना करती है।

इसका फल यह होता है कि मनु श्रद्धा से ईर्ष्या करने लगते हैं। 'कामायनी' के 'कर्म' सर्ग के पश्चात् 'ईर्ष्या' ही तो है। मनु स्वार्थ को ही सब कुछ समझते हैं। उन्हें यह नहीं रुचता कि श्रद्धा छोटा सा घर बनाए उसे लतिकाओं से सजाए, उन्हें तो अपने अहं की परिधि का अधिकतम विकास ही अभीप्सित है —

> यह जलन नहीं सह सकता मैं,
> चाहिए मुझे मेरा ममत्व,
> इस पंचभूत की रचना में,
> मैं रमण करूँ बन एक तत्व।

उनकी तो उत्कट इच्छा है कि उन पर किसी प्रकार का कैसा भी अंकुश न रहे। उनके लिए स्वच्छन्दता (liberty) का अर्थ उच्छृंखलता (Licence) है —

तुम अपने सुख से सुखी रहो,
मुझको दुख पाने दो स्वतंत्र।

इतना कह कर मनु श्रद्धा को छोड़कर चले जाते हैं। कहाँ ?—इड़ा की गोद में सात्विक अर्थ में मानव हृदय की बात अनसुनी करके बुद्धि का आंचल थाम लेता है। श्रद्धा को छोड़कर मनु इड़ावादी (बुद्धिवादी) बन जाते हैं। बुद्धि की सहायता से वे सारस्वत प्रदेश में साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं। यहाँ तक तो ठीक है किन्तु वे इससे भी आगे जाते हैं और स्वयं बुद्धि पर ही अधिकार जमाने का प्रयास करते हैं। जब बुद्धि हामी नहीं भरती तो वे बल प्रयोग करते हैं फलतः संघर्ष दुर्निवार (Indispensable) हो जाता है। यहाँ पर कवि ने साथ साथ दो धाराएँ बहाई हैं एक ओर मन का बुद्धि से संघर्ष हो रहा है, दूसरी ओर श्रद्धावृत्ति नितान्त बे खबर नहीं है। उसमें इतना बल है कि वह स्वप्न में ही मनु की आपत्तियों को देख लेती है और बिना बुलाए ही वहाँ तक दौड़ी जाती है। दूसरे शब्दों में बड़े से बड़े दुख में भी श्रद्धा वीणा से स्वर निस्सरित होते रहते हैं। 'इड़ा' के बाद का सर्ग प्रसाद जी ने इसीलिए 'स्वप्न' रखा है। हाँ, तो मनु और इड़ा का यह संघर्ष बहुत ही काल तक चलता रहता है। यहाँ भी मनु वही सोच रहे हैं जो श्रद्धा के साथ सोच रहे थे :—

"कहीं नियामक रहे न ऐसा मैंने माना।" पर बुद्धि श्रद्धा जैसी मालूम नहीं है जो मनु का मुँह जोहती रहे। वह तो सीधे शब्दों में कह देती है :—

मनु सब शासन स्वत्व तुम्हारा सतत निबाहें,
तुष्टि, चेतना का क्षण अपना अन्य न चाहें।
आह प्रजापति यह न हुआ है कभी न होगा,
निर्वासित अधिकार आज तक किसने भोगा ?

मनु को शायद तभी अपने अतीत के वे क्षण याद आ जाते हैं जब वे हृदय से रूठ गए थे :—

मैं सबको वितरित करता ही रहूँ क्या ?
कुछ पाने का यह प्रयास है पाप सहूँ क्या ?
× × × ×
तुम पर हो अधिकार, प्रजापति न वृथा हूँ।

और इसी निर्बंध अधिकार को प्राप्त करने की सनक में मानव हार जाता है। प्रकृति विजय शंख फूँकने लगती है। होश आने पर मानव को अपने पर ग्लानि होती है, 'निर्वेद' हो जाता है जिससे उसकी अब तक बहिर्मुखी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं फलतः उसे ज्ञान, एवं कर्म के सामंजस्य का महत्त्व ज्ञात हो जाता है। जीवन के इसी रहस्य को जान लेने पर मानव को आनंद—अखण्ड आनंद—की प्राप्ति हो जाती है। फिर तो कुछ शेष ही नहीं रह जाता उसके लिये। 'निर्वेद' के उपरांत 'दर्शन', 'रहस्य' एवं 'आनंद' सर्ग ही तो हैं।

इस प्रकार कामायनी की यह मनोवैज्ञानिक व्यंजना अत्यंत ही मधुर है। ऐतिहासिकता का ऐसा सुखद सम्मिलन विश्व के किसी साहित्य में प्राप्त कर सकना दुर्लभ है। महाकवि प्रसाद की धारणा है कि बड़ी ऐतिहासिक घटना आंतरिक भावनाओं का ही प्रतिफल है इसीलिए आदिमानव का इतिहास प्रस्तुत करते समय उन्होंने घटनाओं के क्रम पर—जो इतिहास का पहला तकाजा है—उतना ध्यान नहीं दिया जितना घटनाओं एवं पात्रों की मनोवैज्ञानिकता पर। यदि वे वेदों, पुराणों एवं इतिहास में आए हुए मनु के इतिवृत्त को उसी क्रम से रख देते तो महाकाव्य एकदेशीय एवं एककालीन हो जाता किंतु घटनाओं एवं पात्रों को मनोविज्ञान सरिता में निमज्जित करके उन्होंने सार्वभौमिकता, सार्वकालीनता एवं सनातन सत्य ला दिए हैं। आज का मानव प्रसाद जी के देश का ही नहीं अपितु मानव मात्र—भी उस दिन के मनु के समान कामी, लोलुप एवं उच्छृंखल है। उसने श्रद्धा जैसी हृदयस्थ सुकोमल वृत्ति को बिसार रखा है एवं बुद्धिवाद के पाश में जकड़ता जा रहा है। इसका फल आज भी वही दिखाई पड़ रहा है जो सारस्वत नगर में था—कलह, संघर्ष, सुख शांति का विनाश, पग पग पर हार। जब तक वह श्रद्धाहीन रहेगा, जगत युद्ध विभीषिकाओं से सदैव संतप्त रहेगा। इड़ा (बुद्धि) के संसर्ग से मानव ने सारस्वत नगर में नव नवीन अस्त्र शस्त्रों का निर्माण किया, प्रकृति से शक्ति छीन ली पर उसका फल क्या हुआ? आज के बुद्धिवादी युग में भी प्रति दिन शस्त्रों का अविष्कार होता जा रहा है और नित्य प्रति मानवता के कफन में एक कील ठुकती जा रही है। 'रहस्य' सर्ग की निम्न पंक्तियाँ आज भी उतनी ही सत्य हैं जितनी मानवता के प्रथम चरण में थीं :—

ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडम्बना है जीवन की।

और जीवन की यह विडम्बना कब तक चलती रहेगी—आनंद का प्याला कब हाथ लग सकेगा—इसके उत्तर के लिये हम 'कामायनी' के पन्ने उलटने होंगे। विज्ञान की अधिकतम उन्नति से क्या इस विश्व को युद्धों से (गर्म या ठण्डे) त्राण दिया जा सकता है—इसके जानने के लिए हमें 'कामायनी' का मुँह जोहना पड़ेगा—जोहना ही पड़ेगा।

प्रसाद जी के महाकाव्य का यह काव्यमय मनोविज्ञान वस्तुतः अत्यंत श्लाघ्य है।

'कामायनी' में रहस्य की अनुभूति

श्री शंभु शरण

महाकाव्यों की प्रचलित परिपाटी को त्यागकर 'कामायनी' ने जब अपना अभिनव रूप सँवारा तो उसमें नवीन-युग की समस्याओं की भव्य और काव्यात्मक रेखाएँ, समाधान तथा प्रणालियाँ भी आईं तो सहसा समस्त काव्य-प्रेमी जगत् के लिए अद्भुत आकर्षण का विषय बन गईं। उसमें सूक्ष्म मनस्तत्त्व का जैसा कलात्मक विश्लेषण और निरूपण हुआ वह आसानी से बोधगम्य न होने के कारण किंचित् जटिल तो हुआ ही, वह रहस्यपूर्ण भी हो गया। 'कामायनी' की रहस्यात्मकता का सबसे बड़ा कारण तो यह हुआ कि उसमें जिस अद्वैतवाद तथा आनन्दवाद की स्थापना की चेष्टा की गई, वह सर्वथा रहस्यवाद का ही विषय था। यद्यपि 'कामायनी' का चरम उद्देश्य आधुनिक समस्याओं का मनोवैज्ञानिक समाधान कर, उस अज्ञात और अनन्त की ओर अग्रसर होते हुए सामरस्य की प्राप्ति है तथापि उसमें काव्यात्मकता का अभाव नहीं है। हाँ, इतना तो अवश्य है कि कहीं कहीं जहाँ कवि उस सूक्ष्म सत्ता की सूक्ष्मगत अभिव्यक्ति करना चाहता है, वह एक ऐसे क्षेत्र में अनजाने ही चला गया है जिससे हमारा काव्यगत परिचय पहले नहीं हुआ था। इसीलिए, जहाँ तक कवि उस सूक्ष्म सत्ता के प्रति जिज्ञासा करता है, वहाँ तक तो वह परिचित काव्यात्मक रहस्यवाद के भीतर है, किन्तु जहाँ वह 'इच्छा', 'क्रिया' और 'ज्ञान' के तीन बिन्दुओं से उनके गोलक चक्रों का प्रत्यक्षीकरण करता हुआ उनके सहसा सम्मिलन तथा तज्जन्य अग्नि-ज्वालाओं का साक्षात्कार अपने पाठकों को कराता है, वहाँ वह काव्य-रसिकों के लिए बहुत कुछ चमत्कार प्रदर्शक हठयोगिया सा लगता है। वस्तुतः कामायनी का यह समन्वय इसके पहले तक काव्य का विषय भी नहीं था। इसीलिए पण्डित रामचन्द्र शुक्ल को अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में कामायनी पर विचार करते समय लिखना पड़ा था—"जिस समन्वय का पक्ष कवि ने अन्त में सामने रखा है उसका निर्वाह रहस्यवाद की प्रवृत्ति के कारण काव्य के भीतर नहीं होने पाया है।"[1]

---

[1] "हिन्दी साहित्य का इतिहास," पृ० ६६१।

पण्डित रामचंद्र शुक्ल का कहना है कि कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जग से है, अव्यक्त सत्ता से नहीं।"[२] और यह भी कहना ठीक है कि भारतीय साहित्यिक परम्परा में वाल्मीकि से लेकर पण्डित राज जगन्नाथ तक ऐसा कोई कवि नहीं हुआ जिसने अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर उनके प्रति प्रेम की व्यंजना की। यह भी सत्य है कि अव्यक्त और अज्ञेय विषय होने के कारण ही हम किसी वस्तु को अकाव्यात्मक गर्हित तथा हेय नहीं बना सकते। प्रश्न है, उन अज्ञात और अव्यक्त से आनंद मिल सकने का। यदि आनंद की प्राप्ति होती है तो समस्त वर्णन काव्यात्मक क्षेत्र के भीतर है और यदि आनन्द नहीं मिलता तो ज्ञात और व्यक्त भी काव्य का विषय नहीं हो सकता। सम्भवतः इस तथ्य को बाद में चलकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी ने मान लिया था क्योंकि वे सूफियों के सरस काव्य की ओर अग्रसर होकर उसमें रसे दिखाई पड़े थे;—उन सूफियों की ओर जिनका समस्त काव्य अज्ञात और अनंत के प्रति जिज्ञासा, जिज्ञासा के बाद लालसा, लालसा के बाद आत्म-समर्पण, और आत्म समर्पण के बाद पूर्ण-तादात्म्य का काव्य है। उस महा-मिलन के लिए जिस निश्चित क्रमिक साधनाओं से वे गुजरते हैं वह बहुत कुछ योगात्मक होते हुए भी काव्यात्मक ही रहा है। "कोई सहृदय मर्मज्ञ क्या यह कह सकने का साहस कर सकेगा कि सूफी काव्य में सरसता नहीं है? हृदय के तारों को झंकृत करने की जो अलौकिक क्षमता सूफी साहित्य में है वह संसार के बहुत कम ही स्थानों में मिलेगी। उसका विश्व-साहित्य में अनुपम स्थान है।"[३] अब 'कामायनी' के रहस्य का पक्ष वाला अंश काव्यात्मक है या नहीं, यही प्रस्तुत प्रश्न है क्योंकि कामायनी के शेष भागों की काव्यात्मकता में किसी को संदेह नहीं रहा है। इतना तो अवश्य है कि 'कामायनी' पढ़ते समय हमें एक अखण्ड काव्यात्मक आनंद का अनुभव होता है, पर यह भी नहीं है कि जब हम 'रहस्य' सर्ग में पहुँचते हैं तब बहुत कुछ ऐसा मिलता है जिससे हम परिचित नहीं थे—

> त्रिदिक विश्व आलोक बिन्दु भी
> तीन दिखाई पड़े अलग वे,
> त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे मानो
> वे अनमिल थे किन्तु सजग थे।

२. "चिन्तामणि," भाग ६, पृ० ५४।
३. साहित्यिक निबंधावली, पृ० १११

और, इतना ही नहीं, मनु घबरा कर पूछते हैं—

मनु ने पूछा, "कौन नए ग्रह
ये हैं, श्रद्धे ! मुझे बताओ,
मैं किस लोक बीच पहुँचा, इस
इन्द्रजाल से मुझे बचाओ ।"

अब श्रद्धा उन्हें उस त्रिकोण के प्रत्येक बिंदु को बारी बारी से दिखाती, उनका परिचय कराती उनकी विशेषता को बताती चलती है। वह काफी देर तक ऐसा करती रही है और मनु चुपचाप आश्चर्य विजड़ित देखते-सुनते जा रहे हैं जैसे कोई अलौकिक 'बायस्कोप' देख रहे हों। जब श्रद्धा परिचय करा लेती है, तब मनु को उन तीनों बिंदुओं में श्रद्धा की स्मिति अचानक दौड़ती दिखाई पड़ी। वह स्मिति क्षण भर में उन बिंदुओं अन्तर्व्याप्त हो गई और जैसे ही यह स्मिति उनमें अन्तर्व्याप्त हुई, वे दहक उठे—

महा ज्योति रेखा-सी बनकर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें,
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिसमें।

अग्नि की लपटों से ब्रह्म की अद्वैत सत्ता का संकेत मिलता है, महाकाल का विषम नृत्य होने लगता है और—

स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

इस अनाहत नाद में मन का श्रद्धायुत तन्मयीभवन योगियों के तन्मयीभवन से बहुत कुछ साम्य रखता है। फिर भी, यह तन्मयीभवन न तो योगियों के क्रमिक यम नियम द्वारा उनके घट के भीतर होने वाले अनाहत नाद की साधनात्मक उपलब्धि है, न किसी परम्परागत काव्य की भावना गत अभिव्यक्ति ही। हमें जो कुछ हाथ लगता है, हम इसे सर्वथा अपरिचित पाते हैं। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने इसे 'काव्य के भीतर' नहीं मानना चाहा था। पर 'कामायनी' की स्वाभाविक गति में और उसके उद्देश्य प्राप्ति में यह सम्भव और अनिवार्य था। 'कामायनी' के अध्ययन में कलात्मक आनंद की गहरी अनुभूति होती है।

इसीलिए इस समन्वय पक्ष को भी इस काव्य का स्वाभाविक अनिवार्य अंग तथा सर्वथा काव्यात्मक ही मानते हैं।

वैसे तो रहस्यवाद सर्वथा भारतीय है ही किंतु सूफियों का भी अपना एक रहस्यवाद है जो अद्वैतवाद की स्थापना तथा उसकी उपलब्धि को लेकर भारतीय रहस्यवाद से किंचित् भिन्न है। किंतु 'कामायनी' में जिस रहस्य की अनुभूति की गई है, वह तात्त्विक दृष्टि से शुद्ध भारतीय है। इसमें इडा का मायाजाल तो है ही, इसमें परब्रह्म की भावना पुरुषरूप में ही की गई है। वैसे अभिव्यक्ति में सूफियों के मादन तत्व के प्रभाव के छींटे भी कहीं कहीं पाए गए हैं—

इन्द्र नीलमणि महा चषक था
सोम रहित उलटा लटका,
आज पवन मृदु सांस ले रहा
जैसे बीत गया खटका।

इन्हें छोड़कर यदि हम रहस्यवाद की दृष्टि से विचार करें तो रहस्यवाद की जो प्रमुख विशेषताएँ हैं, 'कामायनी' में मिल जाती हैं। उसमें आध्यात्मिक तत्व तो है ही, अद्वैतवाद की स्थापना भी है और रहस्यवाद के लिए जिस आध्यात्मिक वातावरण की अपेक्षा स्पर्जियन ने समझी है वह भी अपने बड़े मनोहर रूप में कामायनी में विद्यमान है।"[४] जिस लोक में श्रद्धा मनु को ले जाती है वह अत्यन्त अलौकिक तथा आनंद का लोक है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भाव की दृष्टि से चाहे जो हो, माया तथा अभिव्यंजना की दृष्टि से वह (कामायनी) छायावादी अधिक है। इस सम्बन्ध में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में ही कहना हम अच्छा समझेंगे—"यों तो उनका समस्त काव्य ही छायावादी या रहस्यवादी आधार लिए हुए है, वास्तविक और व्यक्त जीवन घटना के स्थान पर भावनाओं और मनोवृत्तियों का छायात्मक निरूपण ही उनके काव्य की मुख्य विशेषता है, परन्तु कतिपय स्थल स्पष्टतः रहस्य की आभा से परिपूर्ण हैं।" आधुनिक साहित्य पृष्ठ ६५, पर स्मरण यह रहे कि 'दर्शन', 'रहस्य' और 'आनद' की अभिव्यंजना प्रणाली शुद्ध रहस्यवादी ढंग की है क्योंकि उसकी वस्तु भी शुद्ध

(४) "रहस्यवाद एक प्रकार की दिव्य अनुभूति है। सिद्धान्त नहीं; वह तो एक प्रकार का आध्यात्मिक वातावरण है, कोई दर्शन—पद्धति नहीं।'—स्पर्जियन।

रहस्यवादी ही है। 'कामायनी' के शेष भागों में रहस्य की जहाँ जहाँ अनुभूति हुई है, वहा वहाँ उसकी अभिव्यक्तियाँ शुद्ध रहस्यवाद की न होकर जिज्ञासा मूलक ही हैं। वस्तुतः यहाँ काव्य के कथा विकास की दृष्टि से शुद्ध रहस्यवाद का कोई उपयुक्त स्थल भी नहीं था। वैसे जहाँ-जहाँ उचित स्थल आए हैं, अभिव्यंजना में, लगता है, कवि शुद्ध रहस्यवाद की अनुभूति की अभिव्यक्ति कर रहा है। इसको हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करेंगे।—

शुद्ध रहस्यवाद की पुण्य वेला में ऐसी दशा आती है जब "वस्तुओं के विविध गुण एक ही इन्द्रिय पाने की क्षमता प्राप्त कर लेती है। ऐसी दशा में शायद इन्द्रियाँ भी अपना कार्य बदल देती हैं।"[५] सेण्ट मार्टिन के साथ भी यही बात हुई थी क्योंकि उन्होंने दृश्य फूलों को सुना था और श्रव्य ध्वनियों की ज्वाला देखी थी। कहने का मतलब यह है कि जो श्रव्य है उसका उन्होंने चाक्षुष प्रत्यक्ष किया था और जो दृश्य है उसका उन्होंने श्रावण प्रत्यक्ष किया था।[६] ठीक यही दशा 'लज्जा' सर्ग के प्रारम्भ में श्रद्धा की हो रही है—

> कोमल किसलय के अचल मे
> नन्हीं कलिका ज्यों छिपती सी,
> गो धूली के धूमिल पट मे
> दीपक के स्वर मे छिपती सी।

श्रद्धा ने 'लज्जा' के लिए जिस उपमान को लिया है वह दृश्य है किंतु उसका श्रावण प्रत्यक्ष किया गया है। यदि हम 'दीपक' का राग विशेष भी अर्थ मान लें तो श्रावण प्रत्यक्ष का चाक्षुष प्रत्यक्ष मानना ही पड़ेगा, किसी तरह से रहस्यानुभूति की इस उच्च मन स्थिति में इन्द्रियों का कार्य-व्यापार विपर्यस्त तो हो ही गया है। यही रहस्यात्मक अनुभूति की तन्मय स्थिति का लक्षण है। वैसे 'दर्शन' 'रहस्य' और 'आनंद' सर्गों को छोड़कर जहाँ कहीं भी रहस्य की अनुभूति 'कामायनी में हुई है, वह तत्त्वतः जिज्ञासामूलक ही है। इस जिज्ञासा मूलक रहस्यवाद के उदाहरण एक नहीं अनेक आए हैं। 'चिंता' सर्ग की समाप्ति के बाद 'आशा' सर्ग का प्रारम्भ होता है और हम इस जिज्ञासामूलक रहस्यानुभूति की पहली अभिव्यक्ति पाते हैं—

५—कबीर का रहस्यवाद, पृ०

६—"I have heard flowers that sounded and saw notes that shone," अण्डर हिल रचित 'Mysticism,' पृ० ८

वह विराट् था हेम घोलता
नया रंग भरने को आज,
कौन ? हुआ यह प्रश्न अचानक
और कुतूहल का था राज ।

कवि को लगता है जैसे कोई अदृश्य सत्ता विश्वदेव, सविता, पूषा, सोम, मरुत, चंचल पवमान, वरुण, ग्रह, नक्षत्र, तृण, वीरुध सब में अन्तर्व्याप्त होकर उन्हें परिचालित तथा आकर्षित कर रही हो। वह सत्ता अत्यन्त ही रमणीय है, पर यह सब अनुभूति है। वह सत्ता कैसी है, कौन है, कुछ भी नहीं कहा जा सकता—

हे अनंत रमणीय कौन ! तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता ।
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार-विचार न सह सकता ।

वैसे 'रहस्य' सर्ग में समन्वित किंतु तीनों बिंदुओं की ज्वालाओं से—उपनिषदों की 'नेति-नेति' की पुष्टि भी हुई है—

महा शून्य में ज्वाल सुनहली
सबको कहती 'नहीं-नहीं'-सो ।

साराश यह है कि हम किसी भी दृष्टि से क्यों न देखें, 'कामायनी' में रहस्यात्मक अनुभूति का अभाव कहीं नहीं मिलेगा। 'कामायनी' की तथाकथित जटिलता का कारण उसमें मनस्तत्त्व का विश्लेषण है। मनोविज्ञान में काव्य और काव्य में मनोविज्ञान यहाँ एक साथ दिखाई देते हैं। मानस का ऐसा विश्लेषण और काव्यात्मक निरूपण हिंदी में शायद शताब्दियों बाद ही हुआ है।"—आधुनिक साहित्य; पृ० ५१।

सूक्ष्म मनस्तत्त्वों के विश्लेषण के कारण ही कामायनी सब के लिए बोधगम्य नहीं हो सकी है। जिसे उसकी उत्कृष्टता का प्रमाण ही समझना चाहिए—"जो वस्तु वास्तव में उत्कृष्ट है वह निर्बल व्यक्ति के लिए सदैव अगम्य होगी और जो वस्तु किसी मूर्ख को स्पष्ट की जा सकती है, वह वास्तव में किसी काम की नहीं।"[७] कामायनी की रहस्यात्मक अनुभूति की उत्कृष्टता का यह भी एक महत्वपूर्ण गुण है।

७. ब्लेक ।

प्रसाद जी का रस-विवेचन

डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित, एम० ए० (हिन्दी तथा संस्कृत) पी एच० डी०

प्रसाद जी की भावुकता और उनका चिंतन दोनों ही महनीय हैं, किन्तु उनके कवि व्यक्तित्व ने उनके चिन्तन को ऐसा आच्छादित कर लिया है कि हम उनकी निबन्ध सम्पत्ति की ओर प्रायः ध्यान नहीं देते, जबकि सचाई यह है कि उनके काव्याधार को समझने के लिये निबन्धों का अध्ययन आवश्यक है। प्रसाद जी के समस्त निबन्धों का विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है अतएव हम उनके रस दृष्टिकोण को ही यहाँ विचार के लिये प्रस्तुत करेंगे।

प्रसाद जी काव्य को मूलतः आध्यात्मिक अतः संकल्पात्मक अनुभूति मानते हैं। इसे आध्यात्मिक स्वीकार करने के कारण ही उन्होंने दार्शनिक भित्ति पर उसे आधृत मानकर काव्यात्मक रस का विवेचन दार्शनिक दृष्टिकोण से उपस्थित किया है। उनका विचार था कि "वास्तव में भारतीय दर्शन और साहित्य दोनों का समन्वय रस में हुआ था और यह साहित्यिक रस दार्शनिक रहस्यवाद से अनुप्राणित है।"[1] इस दार्शनिक रहस्यवाद तक पहुँचने की आवश्यकता 'ब्रह्मानन्द सहोदरता' सिद्धान्त के कारण हुई है। ब्रह्म जो मूर्त भी है और अमूर्त भी उसके आनन्द के समान यदि काव्य का आनन्द है तो उसे आध्यात्मिक श्रेणी से च्युत ही कैसे किया जा सकता है। इस आध्यात्मिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण के समर्थन के लिये प्रसाद जी ने साहित्य को संकल्पवादी तथा विवेकवादी नाम से दो धाराओं में विभक्त किया है। संकल्पवादी धारा का सम्बन्ध नाट्य रस से है और विवेकवादी धारा का सम्बन्ध विज्ञान, शास्त्र और श्रव्य से। आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति ही मानव ज्ञान की अकृत्रिम धारा थी जो लोकपक्ष को ग्रहण करके आनन्द साधना में लगी रही। इसका विकास वेद से नाट्य में हुआ है, इसलिये कहा गया है "जग्राह पाठ्यम् ऋग्वेदात्"। नाट्य क्या है? क्रीड़ा ही। इस क्रीड़ा या नाट्य में ग्रहण शैवागमों के आधार पर हुआ है। शैवागमों में बताया गया है कि यह जगत् क्रीड़ा रूप ही है स्वयं ब्रह्म ने अपनी क्रीड़ा और अपने आनन्द के लिये इसे उपस्थित किया है। 'क्रीड़ात्वेनाखिलम् जगत्।' पश्चि

१—काव्यकला और अन्य निबन्ध पृ० ८०।

इसी की द्योतक है। स्वय भरत ने कहा है "आत्माभिनयन भावो"—(ना० शा०, २६ ३६), अर्थात् आत्मा का अभिनय भाव है। अतएव ऐसा सिद्ध होता है कि ब्रह्म की काव्य म जिस प्रकार उसका आत्मिक प्रस्फुटन माना गया है और उसे आनन्ददायक कहा गया है, वैसे ही नाट्य भी यदि आत्माभिनय है तो सहज ही आनन्दात्मक भी, आध्यात्मिक भी और ब्रह्मास्वाद से उसका आस्वाद तुलनीय भी है। 'भाव हो आत्म चैतन्य म विश्रान्ति पा जाने पर रस होते हैं। जैसे विश्व के भीतर से विश्वात्मा की अभिव्यक्ति होती है, उसी तरह नाटकों में रस की। आत्मा के निजी अभिनय म भावसृष्टि होती है।"[2] अभिनवगुप्त ने इसी भाव को ग्रहण करके रस को दार्शनिक दृष्टिकोण से समझाया और अभेद तथा समरसता के सिद्धान्त का साहित्य के क्षेत्र में प्रयोग किया। इसी बात को लक्षित करके प्रसाद जी ने कहा है—"शिवसूत्रों में लिखा है—नर्तक आत्मा, प्रेक्षाकिण इन्द्रियाणि। इन सूत्रों में अभिनय को दार्शनिक उपमा के रूप में ग्रहण किया गया है। शैवाद्वैतवादियों ने श्रुतियों के आनन्दवाद को नाट्य गोष्ठियों में प्रचलित रखा था, इसलिये उनके यहाँ रस का साम्प्रदायिक प्रयोग होता था। "विगलितभेद संस्कारमानन्दरसप्रवाहमयमेव पश्यति"—क्षेमराज।"[3]

यह रस आत्म-चैतन्य में विश्रान्ति पाने से उत्पन्न होता है, इसका अर्थ है कि हम अपने से बाहर ससार का जो भी प्रसार देखते हैं वह हमें लौकिक सम्बन्धों में भटकाता रहा है और भटकन के रूप में दुखदायी बन जाता है। किन्तु यदि हम लौकिक सम्बन्धों से युक्त करके ममत्व-परत्व की दृष्टि से न देखें और सहज रूप में ग्रहण करें तो वही हमारी आभ्यन्तर प्रकृति में घुलकर ऐसा बन जाता है कि जैसे हमसे उसका कोई भेद और विरोध न हो। चैतन्य निरुपाधिक है, इसक आत्मा में विश्रान्ति पा जाने का अभिप्राय है पूर्ण अहभाव में स्थापित हो जाना, यही अखण्डता की स्थिति है और अखण्डता में ही आनन्द होता है, अतएव रस, जो आत्म चैतन्य म विश्रांति पाने का नाम है, स्वय आनन्दात्मक होता है। इस भेद को मिटाने के लिये ही काव्य में साधारणीकरण का सिद्धान्त समझाया गया है। इसी बात को प्रसाद जी ने दो पृथक् स्थलों पर समझाया है। 'नाटकों में रस का प्रयोग' निबन्ध में उन्होंने कहा है कि "जिस तरह आत्मा की और इदं का भिन्नता मिटाने म अद्वैतवाद का प्रयोग है, उसी प्रकार एक ही प्रत्यगात्मा के भाववैचित्र्यों का—जो नर्तक आत्मा के अभिनय-पात्र हैं—अभेद या

२—वही—पृ० ८१। ३—काव्यकला और अन्य निबन्ध, पृ० ७६।

साधारणीकरण भी रस में है। इस रस में आस्वाद का रहस्य है।"[४] दूसरे स्थान पर उन्होंने समझाया है कि 'अभिनवगुप्त ने नाट्य रसों की व्याख्या में उसी अभेदमय आनन्द रस को पल्लवित किया।—उन्होंने कहा कि वासनात्मकता स्थित रति आदि वृत्तियाँ ही साधारणीकरण द्वारा भेद विगलित हो जाने पर आनन्दस्वरूप हो जाती हैं। उनका आस्वाद ब्रह्मास्वाद के तुल्य है। "परब्रह्मास्वाद सब्रह्मचारित्वम् चास्त्वस्य रसस्य'—लोचन।"[५] इस आत्मा की खोज ने ही रस वादियों को अनेक रसों से पिण्ड छुड़ाकर उन्हें एक रस की कल्पना में लगाया। अभिनवगुप्त के समान ही भोज ने एक नया सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसके अनुसार अहंकार या अभिमान ही सब परिवर्तनों और विविधताओं का मूल कारण है। यह अहंकार आत्मस्थित गुण विशेष होता है जो जन्मान्तर के पुण्य का फल है और यही विषय सम्पर्क से नाना रूपों में, जिन्हें लोग शृंगारादि रस कहते हैं, व्यक्त होता है। *अहंकार की मूल स्थिति पूर्वाकोटि और शृंगारादि रस की कोटि* मध्यमावस्था कहलाती है। इन दोनों के बाद भी एक कोटि है जो पराकोटि कहलाती है। इसमें इन दोनों कोटियों से ऊपर उठकर हमारे भावों का विलय हो जाता है और एकीकृत आनन्दात्मक रूप में उपस्थित होते हैं, यही अहंकार शृंगार की दशा कहलाती है यही साम्य है। अतएव भोज एकमात्र शृंगार रस को ही रस स्वीकार करते हैं और कथित शृंगारादि भेदों से पृथक् मानकर इन्हें केवल व्यावहारिक रूप में औपाधिक या औपचारिक रस मानते हैं और अहंकार शृंगार को ही पारमार्थिक रस मानते हैं। भोज की दृष्टि में इसी विचार से देखें तो आनन्द वर्धन की यह उक्ति भी ठीक उतरती है कि कवि शृंगारी होता है और इसीलिये सारे संसार को रसमय कर सकता है वहां यदि नीरस हो तो सारा जगत ही नीरस हो जायगा।

इस प्रकार के विचारों ने ही *शास्त्रकारों का ध्यान रस के साथ समाधि* सुख के सम्बन्ध की ओर दौड़ा दिया है। यह भावना भी शैव सूत्रों से ही आई है, इसे दिखाते हुए प्रसाद जी ने कहा है "उनके यहां कहा गया है 'लोकानन्द समाधिसुख शिवसूत्र १८। क्षेमराज उसकी टीका में कहते हैं प्रमातृपद विश्रान्ति अवधानात तच्चमत्कारमयो य आनन्द एतदेव अस्य समाधिसुखम्।' इस प्रमातृपद विश्रान्ति में जिस चमत्कार या आनन्द का लोक सत्ता आनन्द के नाम से संकेत किया गया है, वहां रस के साधारणीकरण में प्रकाशानन्दमय

४—वही, पृ० ८०। ५—वही, पृ० ७६।

संविद्-विश्रान्ति के रूप में नियोजित था। इन आलोचकों का यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि चित्तवृत्तियों की आत्मानन्द में तल्लीनता समाधि मुख है। साहित्य में भी इस दार्शनिक परिभाषा को मान लेने से चित्त की स्थायी वृत्तियों की बहुसंख्या का कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया। सब वृत्तियों का प्रमातृपद—अहम् में विश्रान्ति होना ही पर्याप्त था। अभिनव के आगमाचार्य गुरु उत्पल ने कहा है कि "प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहभावो हि कीर्तित"। प्रकाश का यहाँ तात्पर्य है चैतन्य। यह चेतना जब आत्मा में ही विश्रान्ति पा जाय, वही पूर्ण अहभाव है। साधारणीकरण द्वारा आत्मचैतन्य का रसानुभूति में, पूर्ण अहपद में विश्रान्ति हो जाना आगमों की दार्शनिक सीमा है। साहित्यदर्पणकार की रस व्याख्या में उन्हीं लोगों की शब्दावली भी है—सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय, इत्यादि।*"

इस दृष्टि से भारतीय तथा पाश्चात्य दृष्टियों के भेद का कारण सही रूप में समझाया जा सकता है। अतएव प्रसाद जी ने दो बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। एक, नाट्य-प्रयोग से कुतूहल शान्त होता है अथवा आनन्द की सिद्धि होती है तथा दूसरे, नाट्य अनुकरणात्मक है और चरित्रहीनता अभिनेताओं का नित्य गुण है कि नहीं। पहला प्रश्न ध्यान में रखा जाय तो मनोविज्ञान की दृष्टि से जो डा० राकेश ने अपने ग्रंथ 'साइकोलाजिकल स्टडीज इन रस' में अटपटी व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं, उनका निराकरण हो सकता है। उन्होंने इस दार्शनिक पृष्ठभूमि को समझे बगैर ही रस सिद्धान्त पर मनोविज्ञान लादने की चेष्टा की है। इसी मनोविज्ञान के परिणाम-स्वरूप वह आनन्द को रुचि का पर्याय मान बैठे हैं और एक प्रकार से कुतूहल का ही विचार करके रह गये हैं। प्रसाद जी ने स्पष्ट शब्दों में कुतूहल शान्ति का विरोध करते हुए भारतीय पक्ष को इस रूप में रखा है: "हाँ, भारत में नाट्य प्रयोग केवल कुतूहल-शान्ति के लिये ही नहीं था। अभिनव भारती में कहा है: 'तदनेन पारमार्थिकम् प्रयोजनमुक्तमिति व्याख्यानम् सहृदयदर्पणे प्रत्यग्रहीत् यदाह—नमस्त्रैलोक्य-निर्माणकवये शम्भवे यतः। प्रतिक्षणम् जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जनः। इति एवं नाट्यशास्त्रप्रवचनप्रयोजनम्।' नाट्यशास्त्र का प्रयोजन नटराज शंकर के जगन्नाटक का अनुकरण करने के लिये पारमार्थिक दृष्टि से किया गया था। स्वयम् भरतमुनि ने भी नाट्य प्रयोग को एक यज्ञ के स्वरूप में ही माना था।—'इज्यया चानया नित्य प्रीयन्ता देवता इति।'—अध्याय ४।८"

७—वही, पृ० ७७। ८—वही, पृ० ७१।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में वह कहते हैं: "प्लेटो इसलिए अभिनेता में चरित्रहीनता आदि दोष निस्सन्दिग्ध मानता है, क्योंकि वे क्षण-क्षण में अनुकरणशील होते हैं सत्य का ग्रहण नहीं कर पाते। किन्तु भारतीयों की दृष्टि इससे भिन्न है। उनका कहना है कि आत्मा के अभिनय को, वासना या भाव को अभेद आनन्द को स्वरूप में ग्रहण करना। वह देवार्चन है। आत्म प्रसाद का आनन्द मय है। इसका आस्वाद ब्रह्मानन्द सा है।"[९]

इसी आनन्द सिद्धान्त के आधार पर प्रसाद जी ने भारतीय साहित्य में दुःखान्त प्रबन्धों के अभाव और निषेध का भी कारण खोज निकाला है तथा शृंगार की प्रधानता और शान्त रस की स्वीकृति का भी समाधान उपस्थित किया है। वह कहते हैं कि 'विरह भी उनके भारतीयों के लिए प्रत्यभिज्ञान का साधन, मिलन का द्वार था। चिर विछोह की कल्पना आनन्द में नहीं की जा सकती। शैवागमों के अनुयायी नाटकों में इसी कल्पित विरह या आवरण का हटना ही प्रायः दिखलाया जाता रहा है।'[१०] दूसरे, इसका एक और समाधान भी हो सकता है, जिसे प्रसाद जी चरित्र चित्रण तथा व्यक्ति-वैचित्र्य पर बल देने वाले व्यक्तियों के विचारों का तिरस्कार करते हुए उपस्थित करते हैं। उनका विचार है कि इन दोनों पक्षों का रस से सीधा सम्बन्ध नहीं है। उनकी युक्ति है कि इसमें वर्तमान युग की मानवीय मान्यताएँ अधिक प्रभाव डाल चुकी हैं, जिसमें व्यक्ति अपने को विरुद्ध स्थिति में पाता है। फिर उसे साधारणतः अभेद वाली कल्पना, रस का साधारणीकरण कैसे हृदयगम हो? वर्तमान युग बुद्धिवादी है, फलतः उसे दुःख को प्रत्यक्ष सत्य मान लेना पड़ा है। उसके लिए संघर्ष करना अनिवार्य-सा है। किन्तु इसमें एक बात और भी है। पश्चिम को उपनिवेश बनाने वाले आर्यों ने देखा कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए मानवीय भावनाएँ विशेष परिस्थिति उत्पन्न कर देती हैं। उन परिस्थितियों से व्यक्ति अपना सामंजस्य नहीं कर पाता। कदाचित् उन्होंने भूभागों में, उपनिवेशों की खोज में, उन लोगों ने अपने को विपरीत दशा में ही आगे से लड़ते हुए पाया। उन लोगों ने जीवन की इन कठिनाइयों पर अधिक ध्यान देने के कारण इस जीवन को क्रीडा-दुःखमय ही समझ पाया और उनकी मनुष्यता का पुकार था, आजीवन लड़ने के लिए। आज और प्रबल रूप बुद्धिवाद भाग ले, और उसके द्वारा उत्पन्न दुःख संघर्ष करने के लिए अधिक अग्रसर करता रहा।—

१०—वही, पृ० ७७८।

इसी को साहित्य में उन लोगों ने प्रधानता दी। यह भाग्य या नियति की विजय थी।[11] परन्तु अपने घर में सुव्यवस्थित रहनेवाले आर्यों के लिये यह आवश्यक न था—भारतीय आर्यों को निराशा न थी। करुण रस था, उसमें दया सहानुभूति की कल्पना से अधिक थी रसानुभूति। उन्होंने प्रत्येक भावना में अभेद, निर्विकार आनन्द लेने में अधिक सुख माना।[12] कहा जा सकता है कि प्रसाद जी का यह दृष्टिकोण ऐतिहासिक घटनाओं और भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर होने के कारण बहुत कुछ सत्य अवश्य है, भले ही पूर्ण सत्य न हो। साहित्य में परिस्थितियों का जो हाथ रहता है, उसे देखते हुए इस दृष्टि की अवहेलना कदाचित नहीं की जा सकती।

प्रसाद जी ने बताया है कि 'शैवागम के आनन्द सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादी रस की दोनों सीमाओं शृंगार और शान्त को स्पर्श करते थे। यह शान्त रस निस्तरंग महोदधिकल्प समरसता ही है। किन्तु बुद्धि द्वारा सुख की खोज करने वाले सम्प्रदाय ने रसों में शृंगार को महत्व दिया और आगे चलकर शैवागमों के प्रकाश में साहित्य रस की व्याख्या से सन्तुष्ट न होकर, उन्होंने शृंगार का नाम मधुर रस दिया। उज्ज्वलनीलमणि का सम्प्रदाय बहुत कुछ विरहोन्मुख ही रहा और भक्ति-प्रधान[13] भी।

अद्वैत सिद्धान्त का विरोधी होने के कारण ही प्रसाद जी भक्तिरस को रस नहीं मानते। कहते हैं "कदाचित प्राचीन रसवादी रस की पूर्णता भक्ति में इसीलिये नहीं मानते थे कि उसमें द्वैत का भाव रहता था। इसमें रसभास की सी ही कल्पना होती थी।"[14] फिर भी भक्ति अद्वैतमूला हो सकती है, इसका प्रमाण स्वयं उन्होंने ही उपस्थित करते हुए कहा है। "आगमों में तो भक्ति भी अद्वैतमूला थी।"[15] अतएव वस्तुतः भक्तिरस का विरोध वह स्वयं नहीं करते अपितु आचार्य पक्ष को ही प्रस्तुत करते हैं। इसी द्वैत पर आधारित होने के कारण उन्होंने मधुरा भक्ति में परकिया के महत्त्व का विचार किया है। जीव तथा ईश्वर की भिन्नता के कारण ही परकिया प्रेम का महत्व स्थापित हुआ है, इसमें सभी एकमत हो सकते हैं। भक्तिरस पर बढ़ते हुए आनन्द के प्रभाव को उन्होंने समझाते हुए बताया है कि "विवेकवादी भागवत धर्म ने जब आगमों के अनुकरण में आनन्द की योजना अपने सम्प्रदाय के धार्मिक बन्धनों को तोड़ने

११—वही, पृ० ८४। १२—वही, पृ० ८५। १३—वही, पृ० ७८।
१४—वही, पृ० ७८। १५—वही, पृ० ७८।

का प्रयोग प्रारम्भ किया। उनके लिये परमतत्व की प्राप्ति सांसारिक परम्परा को छोड़ने से ही हो सकती थी। उन्होंने स्वीकार किया कि संसार में प्रचलित आर्य सिद्धांत सामान्य लोक आनन्द तत्व से परे वह परम वस्तु है, जिसके लिये गौलोक में लास्य-लीला की योजना की गई, किन्तु समग्र विश्व के साथ तादात्म्य वाली समरसता और आगमों के स्पन्द शास्त्र के ताण्डवपूर्ण विश्व-नृत्य का पूर्ण भाव उसमें न था।"[१६] अतएव उनका निष्कर्ष है कि 'आनन्द की भावना इन आधुनिक हास्य, सख्य आदि—रसों में विशृंखल ही रही।"[१७]

इन प्रश्नों का समाधान उपस्थित करने के अतिरिक्त प्रसाद जी ने रसाश्रय की समस्या पर भी प्रकाश डाला है और बताया है कि "रस विवेचना में संवित् का साधारणीकरण निवृत्त है। कवि नट और सामाजिक में वह अभेद भाव से एक रस हो जाता है।"[१८] इसके लिए उन्होंने अपनी ओर से विशेष तर्क अवश्य उपस्थित नहीं किये हैं, केवल आचार्यों के उद्धरणों से सहायता ली है। इतना अवश्य है कि पाश्चात्य समीक्षाओं को पढ़ कर कवि अथवा नट में रस की घोषणा करके नई खोज करने का दावा करने वाला इसे देख कर अपनी दृष्टि को निर्मल अवश्य बना सकते हैं।

जिसे आचार्य शुक्ल ने रसानुभूति की मध्यम-कोटि कहा है उसका विचार करते हुए प्रसाद ने एक ही धक्के में उसे विध्वस्त करके रसाभास का सही दृष्टि कोण उपस्थित करते हुए कहा है रस में फलयोग अर्थात् अन्तिम संधि मुख्य है इन बीच के व्यापारों में जो संचारी भावों के प्रतीक हैं, रस की खोज कर उसे छिन्न भिन्न कर देना है। ये सब मुख्य रस वस्तु के सहायक मात्र हैं। अन्वय और व्यतिरेक से दोनों प्रकार से वस्तु निर्देश किया जाता है। इसलिये मुख्य रस का आनन्द बढ़ाने में ये सहायक मात्र ही हैं, वह रसानुभूति निम्न कोटि की नहीं होती।[१९] इस प्रकार की कोटि की कल्पना का कारण है चरित्र वैचित्र्य को प्रधान मानकर चलना। किन्तु प्रसाद जी का विचार है कि भारतीय दृष्टिकोण रस के लिये इन चरित्र और व्यक्ति वैचित्र्य को रस का साधन मानता रहा, साध्य नहीं। रस में चमत्कार ले आने के लिये इनको बीच का माध्यम सा ही मानता आया वर्तमान साहित्यिक प्रेरणा जिसमें व्यक्ति वैचित्र्य और यथार्थवाद मुख्य है—मूल में संशोधनात्मक है। कहीं व्यक्ति से सहानुभूति उत्पन्न करके

१६—वही, पृ० ८६। १७—वही, पृ० ८०।
१८—वही, पृ० ८२। १९—वही, पृ० ८३।

समाज का सशोधन है, और कही समाज की दृष्टि से व्यक्ति का। किन्तु दया और सहानुभूति उत्पन करके भी वह दुख को अधिक प्रतिष्ठित करता है, निराशा को अधिक आश्रय देता है। भारतीय रसवाद म मिलन, अभेद सुख की सृष्टि मुख्य है। रस मे लोकमगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अतर्निहित है। सामाजिक स्थूल रूप से नहीं, किन्तु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर। वासना से ही क्रिया सम्पन्न होती है, और क्रिया के सकलन स व्यक्ति का चरित्र बनता है। चरित्र म महत्ता का आरोप हो जाने पर, व्यक्तिवाद का वैचित्र्य उन महती लीलाओं मे विद्रोह करता है। यह है पश्चिम की कला गुणनफल। रसास्वाद में वासनात्मतया स्थित मनोवृत्तियां, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं, इसलिये वह वासना का सशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रससृष्टि वह करता है, उसम व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता हट जाती हैं, और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं। सब प्रकार क भाव एक दूसर के पूरक बनकर, चरित्र और वैचित्र्य क आधार पर रूपक बनाकर रस की सृष्टि करते हैं। रसवाद की यही पूर्णता है।[२०]

फिर भी उन्हें यह स्वीकार है कि महाभारत तथा रामायण दोनों ही दु खवादी काव्य हैं और रामायण के अनुकरण पर इस देश मे भी बहुत से काव्य प्राय आदर्श और चरित्र क आधार पर ग्रथित हुए हैं। महाभारत अवश्य ही यथार्थवादी बना रह गया है।[२१] इसका कारण यही है कि श्रव्य काव्य म विवेकवाद की प्रधानता रही है और मुक्तकों म तो बड़े प्रयत्न के पश्चात् ही रस की सिद्धि मानी गई है। श्रव्य तथा दृश्य का यही अन्तर है कि श्रव्य म महत्ता की ओर ध्यान दिया गया है और दृश्य ने लघुता को भी अपना लिया है। "नाटक म, जिसम कि आनन्द पथ का, साधारणीकरण का, सिद्धात था, लघुतम क लिये भी स्थान था। प्रकरण इत्यादि म जन साधारण का अवतरण किया जा सकता था, परन्तु विवेक-परम्परा क महाकाव्यों म महानों की ही चर्चा आवश्यक थी।[२२]" इस विवेक-परम्परा पर ध्यान रखा जाय तो सहज ही आज की कविताओं पर लगाये जानेवाले इस आरोप का कि उनमे बौद्धिकता की प्रधानता है रस की नहीं, समाधान हो सकता है। छायावाद काल म ही प्रसाद

२०—वही, पृ० ८५–८६। २१—वही, पृ० १११। २२—वही, पृ० ११४।

जी ने जो बात कही है वह मानो नई कविता को भी समेटकर। उनका कथन है "जहां नाट्य में अभ्यन्तर की प्रधानता होती है, वहां श्रव्य में बाह्यवर्णन की ही मुख्यता अपेक्षित है। वह बुद्धिवाद से अधिक सम्पर्क रखनेवाली वस्तु बनती है, क्योंकि आनन्द से अधिक उसमें दुःखानुभूति की व्यापकता होती है और वह सुनाया जाता था, जनवर्ग को अधिकाधिक कष्टसहिष्णु, जीवन संघर्ष में पटु तथा दुःख के प्रभाव से परिचित होने के लिये। नाटकों की तरह रसात्मक अनुभूति, आनन्द का साधारणीकरण उसमें न था। घटनात्मक विवेचनाओं की प्रभावशालिनी परम्परा में उत्थान और पतन की कड़ियां जोड़कर महाकाव्यों की सृष्टि हुई थी, विवेकवाद को पुष्ट करने के लिये।[२३] "

प्रसाद जी के इस समस्त विवेचन पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी दृष्टि अत्यन्त निर्मल थी और वह सन्तुलित तथा पूर्वग्रह हीन होकर सच्चे समालोचक का काम कर रहे थे। उन्होंने पाश्चात्य दृष्टि और पौरस्त्य दृष्टि में से न तो किसी को गलत रूप से देखा है, न उन्होंने अटपटा समन्वय प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

२३—वही, पृ० ११२।

"प्रसाद" के एकांकियों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि

डा० रामचरण महेन्द्र एम० ए०, पी एच० डी०

जहाँ नाटककार "प्रसाद" की प्रतिभा बड़े नाटकों और कविता में देखी जाती है, वहाँ वह उनके एकांकियों में भी प्रकट हुई है। जिन दिनों "प्रसाद" अपने एकांकियों की रचना कर रहे थे, हिन्दी एकांकीकारों के सम्मुख कोई स्पष्ट आदर्श न था। वह संक्रान्ति काल था। कुछ तो पारसी रंगमंच का प्रभाव था, कुछ संस्कृत के नाटकों का स्वर सुन पड़ता था। "प्रसाद" जी ने हिन्दी एकांकी को भी एक नये प्रयोग के रूप में शुरू किया था। यदि हम यह मान लें कि हिन्दी नाटक की नींव बाबू हरिश्चन्द्र ने रखी थी, तो हमें यह मानना होगा कि "प्रसाद" जी ने हिन्दी नाटक को पुष्पित और फलित किया, कई प्रकार (Styles) के एकांकियों की रचनाकर एकांकी के नए रूप प्रस्तुत किये। उनके चारों एकांकी—१—सज्जन २—करुणालय (गीति एकांकी) ३ प्रायश्चित और ४—'एक घूँट" अपने ढंग के सर्वथा नवीन थे। शैली, की दृष्टि से ये नवीन दिशा के पथ प्रदर्शक बने। नई एकांकी शैली का वास्तविक प्रारम्भ प्रसाद जी के 'एक घूँट" (१९२६) से होता है। वर्त्तमान एकांकी की टेकनीक का प्रयोग पहला बार हमें इस बड़े एकांकी में देखने को मिलता है। वैसे प्रसाद जी के अन्य नाटकों की भाँति इस पर भी संस्कृत नाट्य प्रणाली का प्रभाव है। पर इसमें प्रसादत्व का रंग भी गहरा है।

"प्रसाद" की सर्वतोमुखी प्रतिभा का रंग उनके नाटकों में विशेष रूप से देखा जाता है। भारतेन्दु युग से चलकर प्रसाद-युग तक आते आते हिन्दी एकांकी में पर्य्याप्त परिपक्वता आई है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि भारतेन्दु जी के एकांकियों के आदर्शों का अत्यन्त विकसित और समृद्धिशाली रूप प्रसाद-कालीन एकांकी साहित्य में उपलब्ध हुआ है। भारतेन्दु-युगीन एकांकी के अनेक अभावों का निराकरण प्रसाद जी के एकांकियों में हुआ है। संक्षेप में प्रसाद के एकांकियों की विशेषताएँ कुछ इस प्रकार अंकित की जा सकती हैं:—

इनकी शैली कुछ तो संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार है, और कुछ

द्विजेन्द्रलालराय की परम्परा से प्रभावित हैं। प्रारम्भ में नान्दी दिया हुआ है। इसके बाद हिन्दी के पुराने नाटकों की तरह सूत्रधार स्टेज पर प्रवेश करता है और यहीं से नाटक के अभिनय का आग्रह करता है। इस प्रारम्भिक वार्तालाप में नाटक के विषय में सूचना दे दी जाती है, अभिनय होना निश्चित होता है। अनेक दृश्यों में कथावस्तु बँटकर फैल जाती है। अन्त में भरत वाक्य का प्रयोग किया जाता है। पद्यों का प्रचुर प्रयोग है।

जिन एकांकियों में पद्यों का प्रयोग है या जो गीति एकांकी हैं, उनमें प्रायः संस्कृत के छन्दों को अपनाया गया है। प्राचीन संस्कृत नाटकों में जो पद्य प्रयुक्त हुआ करते थे उनका उपयोग इन नाटकों में भी पाया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन गद्य पद्यमय एकांकियों के प्रति "प्रसाद" जी की सहानुभूति थी। या तो इसका कारण तत्कालीन परिपाटी थी, अथवा जनता की रुचि का तकाजा था। खड़ी बोली गद्य के भीतर पद्य ब्रजभाषा में रख दिये गए हैं। पात्रों के कथोपकथन भी कहीं कहीं पद्य में आ गए हैं। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि प्रसाद जी नई शैली के प्रयोग कर रहे थे, किन्तु पुरानी परिपाटी से मुक्त नहीं हो पाये थे।

इनमें प्राकृतिक वर्णन काफी है। प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति प्रसाद जी का ममत्व रहा है। कुछ पद्यों में उन्होंने प्रकृति का वर्णन संस्कृत में कालीदास और हिन्दी में तुलसीदास की शैली पर किया है। छन्द में सर्वत्र मधुरता है।

कथानकों के प्रति नाटककार "प्रसाद" के मन में कोई ममत्व प्रतीत नहीं होता। कथानक गठे हुए या चुस्त नहीं हैं। कथा गति में तीव्रता कम है।

कुछ तत्त्व ऐसे भी हैं जिनमें "प्रसाद" जी पुरानी संस्कृत परिपाटी से पृथक् हुए हैं और नवीनता का सूत्रपात कर सके हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत नाटक शास्त्र के विरुद्ध इन एकांकियों में कहीं कहीं वर्जित दृश्य भी आ गये हैं। जैसे "प्रायश्चित' (१९१४) एकांकी में जयचन्द से आत्म हत्या कराई गई है। भाषा शुद्ध मजी हुई है।

"प्रसाद" जी का "सज्जन" एकांकी उनके प्रयास काल (सन् १९१५ ई० तथा पूर्व) की रचना है। इसका निर्माण काल संवत् १९६७ (सन् १९१०) है। 'सज्जन" उनका प्रथम मौलिक एकांकी नाटक है, जिसमें प्राचीन और नवीन दोनों नाट्य शैलियों का सम्मिश्रण पाया जाता है। इस एकांकी से हम उनके

प्राचीन से अर्वाचीन की ओर उत्तरोत्तर विकास की प्रथम अवस्था का परिचय मिलता है।

"सज्जन" लगभग बीस पृष्ठों का एकांकी रूपक है। शैली की दृष्टि से यह रचना संस्कृत तथा पुरानी हिन्दी नाटकीय पद्धति पर है। इस रूपक का प्रारम्भ नान्दी से होता है। पुराने हिन्दी नाटकों की तरह सूत्रधार स्टेज पर आता है और नटी से नाटक के अभिनय का आग्रह करता है। दोनों के कथोपकथन में सज्जनता का प्रसंग आ जाता है। सज्जनता क्या है ? सज्जनता का आदर्श कैसा होना चाहिए ?—इसका संकेत हो जाने पर वह अपनी पत्नी से "सज्जन' नाटक का खेलना तय होता है। इसके अनन्तर दुर्योधन की सभा दृष्टिगोचर होती है और नाटक चलने लगता है। पारसी प्रणाली के नाटकों की भाँति 'सज्जन' रूपक में प्रसाद जी ने पद्यों का पर्याप्त प्रयोग किया है। जहां पात्र आवेशमय स्थिति में होता है, वहां वह गद्य में बोलना छोड़कर पद्य में बोलने लगता है। पद्यों की शैली बहुत कुछ संस्कृत परिपाटी की है। उस युग के अनेक नाटक आदर्शवाद से बोझिल हैं। उसी प्रकार के नीति के तत्व निकालने की चेष्टा "सज्जन" के प्राकृतिक वर्णनों में पाई जाती है। पुरानी परिपाटी के हिन्दी एकांकियों में जैसे खड़ी बोली गद्य के भीतर पद्य ब्रजभाषा में होते हैं, ऐसे कुछ प्रयोग "सज्जन" में पाये जाते हैं। इस रूपक के कथोपकथन सरल, सादे और सहित हैं, कार्य व्यापार (Action) की न्यूनता नहीं है। यह प्रारम्भिक रचना एक प्रयोग मात्र ही समझनी चाहिए। एकांकी के विकास की दृष्टि से यह भी हमें नवीनता की ओर संकेत करती हुई प्रतीत होती है। अभिनय की उद्भावना और कथोपकथनों की चुस्ती आधुनिकता की सूचक है।

आगे के एकांकियों में उनकी एकांकी-कला का कुछ और विकास हुआ है। नान्दी का कार्य प्रथम दृश्य से लेना प्रारम्भ कर दिया है। प्रसाद जी का दूसरा एकांकी "करुणालय" संवत् १९६९ (सन् १९१२) में रचा गया था यह एक गीति एकांकी (Lyrical one act play) है विषय तथा समस्या की दृष्टि से इसे हम वैदिक काल की विशृंखल कर्म भावना पर एक करुण व्यंग्य कह सकते हैं। आकार की दृष्टि से यह एक छोटा सा दृश्य नाट्य है, जो तुकान्त विहीन मात्रिक छन्दों में लिखा गया है। कथानक हरिश्चन्द्र और उनके पुत्र रोहित से सम्बन्धित है। नाटक का संघर्षमय स्थल वह है, जहां महाराज हरिश्चन्द्र के मन में कर्त्तव्य भावना और पुत्र स्नेह में संघर्ष होता है।

एक आलोचक ने "करुणालय" के विषय में सत्य ही लिखा है कि 'इस नाटक में गीतिनाट्य के प्राण तत्त्व—मानसिक संघर्ष—का बड़ा दुर्बल प्रयोग है। हरिश्चन्द्र की कर्त्तव्य भावनाओं और पुत्र प्रेम के बीच संघर्ष बड़ा शिथिल है। लगभग नहीं के बराबर है। हाँ, रोहित की जीवन-लालसा और पिता के प्रति कर्त्तव्य के मध्य जो संघर्ष हुआ है, उसमें कुछ दम है, विद्रोह की शक्ति है शास्त्रीय दृष्टि से प्रभाव एक्य ढूँढ भी निकाला जाय, परन्तु वह भी बड़ा क्षीण है। फिर भी नाटक कवित्व से शून्य नहीं है। प्रथम दृश्य में ही प्राकृतिक सौन्दर्य की कोमल अभिव्यञ्जना मिलती है। भाषा मजी हुई तथा शुद्ध है, छन्द की गति में सर्वत्र ही मन्थरता है। इस गीति नाट्य में कविवर "प्रसाद" के प्रसादत्व की झलक भर है।"

"चित्राधार" के एकाकी प्रसाद जी ने बीस वर्ष की आयु में लिखे थे। इन पर भी उनकी उदीयमान प्रतिभा की छाप है, पर वह उतनी सफल रचनाएँ नहीं हैं, जितनी उनकी बाद की रचनाएँ रही हैं। "एक घूँट" नामक एकाकी ही ऐसी रचना है, जिसे हम एक नई शैली का अग्रदूत मान सकते हैं। 'एक घूँट' का स्थान महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि हिन्दी एकाकी के विकास की दृष्टि से यह एकाकी अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। एकाकी की टेकनीक का पूर्ण निर्वाह "एक घूँट" में पाया जाता है।

प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी के शब्दों में, "एक घूँट" एक साहित्यिक पुष्प है, जिसका रसास्वादन विद्वान, तर्कशील, और गम्भीर पाठक ही कर सकते हैं। चूँकि प्रसाद जी के नाटक विद्वानों के लिए विशेषरूप से लिखे गए मालूम होते हैं, उन पर दुरूहता का आरोप लगाना व्यर्थ सा प्रतीत होता है। अभिनय के अनुपयुक्त होने पर भी स्थान स्थान पर अभिनय का पूर्व आयोजन "एक घूँट" एकाकी में है।" डाक्टर सत्येन्द्र के अनुसार "प्रसाद" का "एक घूँट" हिन्दी एकाकियों के विकास की द्वितीय अवस्था का अग्रणी है। यह अवस्था संवत् १९८६ सन् (१९२९) से प्रारम्भ हो कर १९३८ तक मानी जानी चाहिये। प्रसाद का "एक घूँट" संवत् १९८६ में प्रकाशित हुआ था हिन्दी एकाकी की दूसरी अवस्था इसी से प्रारम्भ हुई, मानी जानी चाहिए।

"एक घूँट" समस्या प्रधान एकाकी है। इसमें प्रेम समस्या का निदान है। नाटककार एक प्रश्न ले कर चलता है। वह प्रश्न है, सच्चा प्रेम कितनों से हो सकता है? इसका उत्तर जो अन्त में स्पष्ट हो जाता है, वह यह है, "प्रेम

के अखण्ड स्रोत को एक ही दिशा में बहाकर एक ही केन्द्र तक पहुँचाकर प्रेम कृत कार्य होना है। सर्वोन्मुखी प्रेम को एकोन्मुखी बनाना साधु धर्म की उपासना भावना की चरम सीमा तो है ही, समाज धर्म का भी इससे पूर्ण प्रतिष्ठा होती है।" प्रमुख पात्री बनलता पति क उपेक्षा मात्र से व्यथित है, किन्तु फिर भी आनद के इस उपदेश को कि "विश्व का समस्त अभिव्यक्ति को समान भाव से प्रेम करो" वह निस्सार देखती है। प्रेम को अपने पति में केन्द्रित करने से उसे बडा कष्ट है, किन्तु आनद के तर्कों को वह मिथ्या हो पाती है। एकांकी के अन्त में हृदय की विजय होती है। और प्रेम की विशेषोन्मुखता म ही सुख शान्ति है, प्रमाणित हो जाता है। इसी दार्शनिक और सामाजिक गुत्थी को सुलझाने क लिए दोनों पक्षों क तर्क उपस्थित कर दिये गए हैं।

चरित्र चित्रण की दृष्टि म भी 'एक घूँट' सफल है। नाटककार ने आठ पात्र लिए हैं। आनद प्रमुख पात्र है। वह विचारों का पुलन्दा है। वसुधैव कुटुंबकम् नामक दलील में विश्वास करता है, विद्वान वाद विवाद पटु, विचारशील, गंभीर युवक है, स्वच्छन्द प्रेम का प्रचार उसका ध्येय है। उसका तार्किक बुद्धि के समक्ष सब हारते जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों स्वय "प्रसाद" जी का बौद्धिक और तार्किक रूप आनद के माध्यम से प्रकट हो गया है। इस पात्र को उन्होंने बडी कुशलता से गढा है। आनद के मुख से जो जो सिद्धान्त वाक्य, या वाद विवाद कराये गए हैं, वे बडे मार्मिक बन पडे हैं, कुछ नवीन तर्कों पर भी प्रकाश डाला गया है। उदाहरण के लिए एक स्थल लीजिए। इससे आनद की बुद्धि, विवेक, और चिन्तन शक्ति स्पष्ट है —

आनद – विश्व-चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम जीवन है। जीवन का लक्ष्य सौन्दर्य है, क्योंकि आनदमयी प्रेरणा, जो उस चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य है, अपने आत्म भाव में निर्विरोध रूप से, रहने पर सफल हो सकती है। दृढ निश्चय कर लेने पर उसका सरलता न रहेगी। अपने मोह-मूलक अधिकार के लिए वह झगडेगी।"

आनद की कुछ उक्तियों में कवित्व का छटा भी है। चूँकि एक दार्शनिक जैसा उसका व्यक्तित्व है, इसलिए उसे गंभीर बातें तो कहनी ही चाहिए, पर फिर भी उनमें कवित्व का अंश है, देखिए:—

अपने काल्पनिक अभाव, शोक, ग्लानि और दुख क काजल आँखों के आँसू में घोल कर सृष्टि के सुन्दर कपोलों को क्यों कलुषित करें!

अथवा

"यह जो तुमुल नाद का पचड़ा सब धर्मों ने, दार्शनिकों ने गाया है, उसका रहस्य क्या है ? डर उत्पन्न करना। विभीषिका फैलाना, जिससे स्निग्ध-गंभीर जल में अबोध गति से तैरने वाली मछली सी विश्व सागर की मानवता चारों ओर जल ही जल देखे, उसे जल न दिखाई पड़े। वह डरी हुई संकुचित सी, अपने लिए सदैव कोई रक्षा की जगह खोजती रहे। सबसे भयभीत सबसे सशंक !"

अन्य पात्रों में प्रेमलता आश्रम की अविवाहित बालिका है। वनलता आश्रम के कवि रसाल की गृहिणी है। उसका प्रेम रसाल के प्रति बड़ा गम्भीर है, किन्तु रसाल अपने काव्य में इतना डूबा रहता है कि उसे प्रेम से कोई प्रयोजन नहीं, वनलता विरह से व्यथित होकर भी कुछ कुछ विनोद प्रिय है व्यंग्य का भी प्रयोग करती है। चँदुला विदूषक है। उसका विनोद जन-साधारण का मन बहलाव करता है। इस प्रकार कई प्रकार के पात्रों का विश्लेषण इस एकांकी में प्रस्तुत किया गया है।

प्रसाद जी मूलतः एक कवि हैं। उनके कवि हृदय की झलक इस एकांकी में भी स्थान स्थान पर फूट पड़ी है। इस एकांकी में भी कवित्व की छाप है। गीतों का बाहुल्य इस एकांकी का एक आकर्षण है। यह कवि हृदय की सरसता और रसात्मकता का परिचय देता है। "एक घूँट" का प्रारम्भ ही एक मधुर गीत से होता है, जो एकांकी की मूल समस्या पर प्रकाश डालता है—

"खोल तू अब भी आँखें खोल
जीवन उदधि हिलोरें लेता, उठती लहरें लोल।
छवि की किरनों से खिल जा तू,
अमृत झड़ी सुख से मिल जा तू,
इस अनन्त स्वर मे मिल जा तू, वाणी मे मधु घोल।

इस गीत के अर्थ पर यह नाटक चलता है। सांकेतिक रूप में इस गीत में बन्धनों को खोल देने की ओर संकेत है। इसी प्रकार 'एक घूँट' के अन्य मधुर गीत जैसे 'जीवन वन में उजियाली है" तथा "जलधर की माला" भी सांकेतिक हैं। इनमें प्रसाद जी के काव्य में पाई जाने वाली रहस्यवाद की झलक है। यह रहस्यवाद कभी कभी गीत के भाव में दुरूहता उत्पन्न कर देता है और

साधारण पाठक के लिए गीत को अबोध और कठिन बना देता है। रस परिपाक में दुरुहता आ जाती है जैसे :—

"जलधर की माला
घुमड रही जीवन घाटी पर—जलधर की माला
आशा लतिका कपती थर-थर—
गिरे कामना कुंज हहर कर
अंचल में हैं उपल रही भर—यह करुणा वाला
यौवन से आलोक किरन की,
डूब रही अभिलाषा मन की,

नाटक का अन्त भी एक गीत द्वारा ही होता है, जिसमें नाटक का लक्ष्य स्पष्ट किया गया है—"प्रेम के अखण्ड स्रोत को एक ही दिशा में बहाकर, एक ही केन्द्र तक पहुँचा कर, प्रेम कृतकार्य होता है।" गीत की अन्तिम पंति देखिए—

तरु लतिका मिलते गले
सकते कभी न छूट।
उसी स्निग्ध छाया तले,
पी लो न एक घूँट॥

तात्पर्य यह है "प्रसाद" जी का "एक घूँट" एकांकी एक उच्चकोटि का साहित्यिक नाटक है। यहाँ जीवन की विनोद और कान्तिपूर्ण झाँकी मिलती है और उत्कृष्ट कोटि के हलके रेखाचित्र। नई शैली के वास्तविक हिन्दी-एकांकी का प्रारम्भ प्रसाद जी के इसी एकांकी से होता है यद्यपि संस्कृत शैली का प्रभाव भी है। वर्तमान टेकनीक का इस एकांकी में पूरा निर्वाह हो गया है और इसी कारण यह एक नई दिशा का अग्रदूत है।

जिस युग में 'प्रसाद' जी ने एकांकियों के प्रयोग किये थे, हिन्दी नाटक पर बंगाली नाट्यकार द्विजेन्द्रलाल राय के अंग्रेजी से प्रभावित नाटकों का प्रभाव बहुत अधिक पड़ चुका था। प्रसाद जी ने अपने कई नाटकों में द्विजेन्द्रलालराय की रचना पद्धति, कृत्रिम भावात्मकता, अस्वाभाविक वाहिरंग, स्वगत में अति रंजित भावावेश और कुछ असम्भावनाओं का भी अनुकरण किया है। उन पर द्विजेन्द्र के माध्यम द्वारा शेक्सपीयर का प्रभाव स्पष्ट है।

———

प्रसाद के नाटकों का सौष्ठव

—डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा एम० ए०, डी० लिट

'प्रसाद' में जब आधुनिक नाटककार का रूप अपने को सवार-सजा रहा था, जब उसमें नाट्य रचना की स्फूर्ति उत्पन्न हो रही थी और जब भावी श्रेष्ठ नाटककार का जन्म हो रहा था, उस समय की नाटकीय रचनाओं को प्रभावित करने वाली समस्त वस्तु-स्थिति का आकलन आवश्यक है—यदि प्रसाद के नाट्य रचना-विधान का सौष्ठव समझना अभीष्ट हो। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में भारतेन्दु कालीन नाटकों की चर्चा फैली हुई थी और उस युग के कुछ प्रतिनिधि इस समय भी रचना म प्रवृत्त थे। राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी, अम्बिकादत्त व्यास, बालकृष्ण भट्ट, अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि ऐसे विशिष्ट लेखकों के नाटकों का प्रणयन चल रहा था। इसमें मूलतः नूतन उद्भावना का अभाव सा ही मानना चाहिए। विषय ग्रहण और रचना विधान के विचार से। जो पद्धति भारतेन्दु युग में सुगठित और गृहीत हो चुकी थी उसी का विलास और विहार इस समय तक चला आ रहा था। इसकी समाप्ति वस्तुतः उस समय से माननी चाहिए जब से जयशंकर प्रसाद की नाट्य कृतियों की ओर लोग आकृष्ट होने लगे-यों तो राधाकृष्णदास का महाराणाप्रताप नाटक नूतन युग का संकेत दे चुका था। परन्तु वह केवल सूचना मात्र था।

प्रसाद के आरम्भिक दिनों की साहित्यिक वस्तुस्थिति की यदि परीक्षा की जाय तो कुछ ऐसी विशेषताएँ दिखाई पड़ेगी जिनका स्पष्ट प्रभाव प्रसाद के नाटकों पर लक्षित होता है। संक्षेप में उनका कथन यदि किया जाय तो तीन प्रमुख बातें मिलेंगी। (१) भारतेन्दु काल का प्रभाव—इसके भीतर विषय चयन की सकीर्णता थी, अर्थात् कुछ चुने हुए विषयों पर ही उस समय नाटक लिखे गए थे। उनके रचना विधान म प्राचीन मान्यताओं के साथ नए प्रयोगों का भी पर्याप्त स्वागत था। इस स्वागत की प्रेरणा के स्रोत थे नवागत बंगला के नाटक, यदाकदा अनुदित होने वाले विलायती नाटक और रंगमंच पर दिखाई जाने वाली कुछ कृतियाँ—जिनकी उस समय तक अधिकता तो नहीं थी पर प्रयोग

अवश्य आरम्भ हो चुका था। (२) संस्कृत के प्राचीन नाटककारों और शास्त्र निर्माताओं का प्रभाव निरन्तर अध्ययनशील प्रसाद में जिस सांस्कृतिक चेतना का संगठन हुआ था और जिस प्रकार के काव्य-सर्जना में उनकी आन्तरिक अनुरक्ति गुम्फित हुई थी, वह मूलतः संस्कृत की परम्परा थी। आरम्भ की यथार्थ स्थिति यह थी कि एक ओर प्रसाद नाट्य शास्त्र सम्बन्धी संस्कृत के ग्रन्थों का अध्ययन करते चलते थे उनके व्यवहार पक्ष का पूर्ण आभोग करने वाले प्राचीन नाटककारों की विविध प्रकार की कृतियों का निरन्तर अनुशीलन करते रहते थे, दूसरी ओर अपने समय तक लिखी गई हिन्दी की नाट्य रचनाओं की ओर भी उनकी तत्पर जागरूकता आकर्षित थी, साथ ही समय-समय पर रंगमंच पर अवतरित होने वाले नाटकों को भी वे देख लेते थे। इस प्रकार अपने भीतर निर्मित होने वाले नाटककार के स्वरूप को प्रसाद जी निरन्तर अद्यतन बनाने में सचेष्ट थे और यही कारण है कि उनमें युग निर्माता की सम्पूर्ण सम्पन्नता पूर्णतया स्फुटित मिलती है। (३) अपने युग की सामूहिक चेतना का प्रभाव— भारतेन्दु के जीवन काल से पूर्व ही भारतवर्ष में अभारतीय विदेशी शासन-सत्ता के विरुद्ध असंतोष और आशंका फैल चली थी और समय समय पर प्रत्यक्ष एवं प्रच्छन्न दोनों ढंग के विरोध सामने आने लगे थे। सन् १८५७ का प्रथम स्वातंत्र्य युद्ध इसका प्रत्यक्ष रूप था। प्रच्छन्न-पद्धति तो उस समय के सभी लेखकों की रचनाओं में समान रूप से प्राप्त होती है। अंगरेजी राज के स्वार्थलिप्सा और भारत विरोधी नीति की निरन्तर भर्त्सना साहित्य के माध्यम से होती रही। आगे चलकर सन् १८८५ में तो फिर कांग्रेस का जन्म हो ही गया था और सन् १९०५ तक आते आते बंगभंग आंदोलन के रूप में उक्त विरोध की सक्रिय अभिव्यक्ति सामने आ ही गई। युग द्रष्टा महाकवि प्रसाद पर इस उद्‌बुद्ध राष्ट्रीय-चेतना का पूरा प्रभाव पड़ा था। भारतीय संस्कृति से प्रति अगाध श्रद्धा और नवोदित राष्ट्र भावना के प्रति अप्रतिहत विश्वास ने प्रसाद के साहित्य स्रष्टा-रूप का परिष्कार पूर्ण कर दिया था। इसका प्रभाव उनकी आरम्भिक कृतियों में सर्वत्र दिखाई पड़ता है।

प्रथम प्रभाव का परिणाम प्रसाद की प्रारम्भिक कृतियों पर यह पड़ा कि *भारतेन्दुकालीन विषय-चयन की परिमिति के बाहर निकलकर उन्होंने सुदूर* अतीत की ओर देखा, प्राचीन भारत की झलक को नूतन परिधान के साथ नूतन फलक पर उतारा। भारतीय जीवन की भव्यता, सांस्कृतिक गठन की गरिमा, और आध्यात्मिक जागृति की अनन्यता उनकी कविता में और नाटक

आदि रचनाओं में सर्वत्र मिलती है। उनके नाटकों में तो यह मूल प्रेरणा का कारण बन गया है। भारतेन्दु कालीन नाट्य रचना विधान के अनिश्चित क्रम का भी परिष्कार प्रसाद ने किया है। कथाविधानक सौष्ठव के विचार से तो प्रसाद प्रथम श्रेष्ठ कलाकार थे जिन्होंने उसके कलात्मक जटिल और शास्त्र सम्मतस्वरूप को सुनिर्दिष्ट ढंग से अलङ्कृत किया। इस प्रकार काव्य सर्जना के क्षेत्र में सुधार-परिष्कार सम्बन्धी अनेक सफल प्रयास प्रसाद ने प्रस्तुत किए। साथ ही अपने युग की त्रयी विदेशी विभिन्न साहित्यिक गतिविधि और भिन्न भिन्न रचनाओं से प्राप्त प्रभावों को भी उन्होंने अपने में एकत्र कर लिया था। उनमें कुछ तो स्वस्थ प्रभाव थे जैसे—त्रियोग, जटिल वस्तु विन्यास, व्यक्ति वैलक्षण्य से आपूर्ण पात्रों की सृष्टि, संवाद सौन्दर्य आदि। इसी तरह कुछ अस्वस्थ प्रभाव भी उनमें प्रवेश कर गये थे जैसे—आत्महत्याओं की बाढ़, स्वगत भाषण की प्रवृति आदि।

द्वितीय प्रभाव जिसने अत्यधिक रंगीनी उत्पन्न की थी, प्रसाद की कृतियों में वह था संस्कृत-साहित्य का। संस्कृत के श्रेष्ठ काव्यों में सामान्यतया प्राप्त पदावली, उक्ति भंगिमा और आलंकारिता से प्रसाद बहुत प्रभावित थे। निरन्तर उन्हीं का अनुशीलन करते रहने से उनकी कथन प्रणाली और उक्तियों की छाया प्रसाद पर पड़ी है इसका विवरण और प्रमाण उनकी कविताओं में बराबर मिलता है। उनके नाटकों में व्याप्त स्वच्छन्द काव्यत्व की अधिकता का भी मुख्यत यही कारण था। संस्कृत के नाटकों की तरह प्रसाद में क्लिष्ट अलङ्कृत पद विन्यास का बाहुल्य कुछ असंस्कृत लोगों को बहुत खटकता है। इन लोगों को प्रसाद का न तो अमृत के सरोवर में स्वर्ण कमल खिलना पसन्द है न अतीन्द्रिय जगत् की नक्षत्र मालिनि निशा का विहार। पर वस्तुत परम सत्य यही है कि संस्कृत नाटकों की काव्य पद्धति ही प्रसाद की अधिकारिक भित्ति है। उसी में प्रसाद का प्रसादत्व निवास करता है और वही उनके नाटकों में प्राण का संचार करती है। यदि उसे हटा दिया जाय तो इन कृतियों का जैसे सारसर्वस्व ही अपहृत हो जायगा और वे आभूषण परिधान विहिन सुन्दरी की तरह अरुचिकर प्रतीत होंगी। काव्यतत्व के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र विषयक बोध का पर्याप्त प्रभाव प्रसाद पर था। साधारण रूप में तो इसकी अभिव्यक्ति उनके विविध नाट्य तत्वों के संयोजन में सर्वत्र ही दिखाई पड़ता है पर सविधानक सौष्ठव में उनका सूक्ष्म विहार विशेष रूप में दिखाई पड़ता है। उनके वस्तु प्रसार के भीतर विविध कार्यावस्थाओं, अर्थ प्रकृतियों, सन्धियों, कार्योपातकों

आदि की सिद्धि इस बात का बलिष्ट प्रमाण है। ये अनजान में और आकस्मिक रूप से आ गई हों—ऐसी बात नहीं स्वीकार की जा सकती। निश्चय ही इनकी स्थापना बड़ी मार्मिकता से की गई है और इनका प्रयोग विधिवत् एवं सोद्देश्य है।

तीसरा प्रभाव युग धर्म सम्बन्धी है, जिसका स्वरूप प्रसाद की समस्त कृतियों में समान रूप से दिखाई पड़ता है। चाहे नाटकों में देखें चाहे कविता के क्षेत्र में—प्रसाद सर्वत्र अपने युग की आकांक्षाओं और प्रेम श्रेय दोनों की अभिव्यक्ति करते चले हैं। इनमें युग धर्म के प्रति प्रसाद की सचाई और श्रद्धा का पूरा पता लग जाता है। अपने इस गुण के द्वारा ही कवि और साहित्यकार अपने युग का प्रतिनिधित्व कर सकने में पूर्णतया सक्षम बनता है। साथ ही अपने युगानुरूप भावनाओं एवं आदर्शों को अतीत के अंतराल में बिखरा दिखाकर वह एक ओर तो सिद्ध करता है कि हमारी परम्परा सुस्थिर और विकासोन्मुख है और दूसरी ओर वह यह भी दिखाता चलता है कि मूल मानव-वृत्तियां आधारित रूप में विभिन्न युगों में एक सी मुखरित होती हैं और काल भेद से ऊपर हैं। इन चिरन्तन वृत्तियों के यथार्थ स्वरूप को पहचानना और काव्य की व्यवहार भूमि में उन्हें उचित रूप में सुसज्जित करके सहृदय के अन्तःकरण में प्रेरणा का संचार करना स्रष्टा या कवि कर्म का प्रधान लक्ष्य है। इस विचार से प्रसाद की कृतियां एक-से एक सुन्दर और महत्वपूर्ण हैं। अतीत की पृष्ठभूमि पर सामयिक समस्याओं का चित्रण उसमें बड़ी सफलता से हुआ है।

यहाँ इस विषय के दो उदाहरण यथेष्ट होंगे। 'कामायनी' के संघर्ष सर्ग की पूरी स्थापना के भीतर से बीसवीं शताब्दी का वातावरण झाँकता मालूम पड़ता है। शासक और शासित का, व्यक्ति और समष्टि का जो संघर्ष आज हमारे सामने आया है वह अपने में सनातन और सत्य है। जहाँ एक से दो और दो से तीन हुए कि संघर्ष और द्वन्द्व का योग सघटित हुआ। इसी द्वन्द्वात्मकता और संघर्ष से तो संसृति की गतिशीलता अक्षुण्ण बनती है। उस सर्ग में समस्त आधुनिक बुद्धिवादी विकृतियों का प्रतिबिम्ब मिलता है और आज के यान्त्रिक जीवन की विषम परिस्थितियों का भी चित्रण यथाक्रम आ गया है। 'कामायनी' के भीतर के ये सभी विवरण उसके रचना काल का पूर्ण अभिज्ञान करा सकते हैं। इसी तरह 'चन्द्रगुप्त' नाटक में चाणक्य अपने शिष्यों को उपदेश देता है कि वे मालव-मागध की संकुचित भूमि से ऊपर उठकर भारतवर्ष को एक राष्ट्र और अपना राष्ट्र

मानकर चलें तभी उद्धार हो सकेगा। इसी तरह नन्द की धर्मनीति की जो मतसना की गई वहा मिलती है, इसमें अंगरेजों की भेद नीति का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। नन्द बौद्धो और वैदिकों में भेद-बुद्धि उत्पन्न कर अपना राष्ट्र उल्लू सीधा करता दिखाया गया है वैसे अंगरेज यहाँ हिंदू और मुसलमानों को लड़ाकर अपना पक्ष दृढ बनाते रहे। देश को जगाने के लिए अलका का हाथ में झण्डा लेकर समवेत स्वर से उद्बोधन गीत गाते चलना भी ई० सन् १९३१ राष्ट्रीय आन्दोलन का जीवित रूप ही है। इन्हीं दृष्टांतों की तरह अन्य अनेक बातें कह कर यह सिद्ध किया जा सकता है कि प्रसाद में उत्तम काटि की युगानुरूपता विद्यमान थी। इस प्रकार स्वीकार करना होगा कि अतीत की पृष्ठभूमि पर आधुनिकता की स्थापना का क्रम प्रसाद साहित्य में बड़ी सजीवता से हुआ है।

प्रसाद के नाटक और रंगमंच

डॉ० राजकुमारी शिवपुरी एम० ए०, पी एच० डी०

विचारान्तर्गत प्रसग क दो मुख्य पहलू हैं—(I) प्रसाद के नाटक हिन्दी रगमच की दृष्टि से कहाँ तक सफल अथवा असफल कहे जा सकते हैं ? (II) रगमच पर सफलतापूर्वक खेले जाने वाले नाटकों में प्रसाद के नाटकों की गणना हो सकती है अथवा नहीं।

प्रथम प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। हिन्दी रगमच नाम का कोई रगमच है ही नहीं। भारतीय रगमच के उद्भव और विकास को सक्षेप म तीन भागों म विभाजित किया जा सकता है (अ) वह रगमच जो सस्कृत नाटको के अभिनय का रगमंच था और जिसकी सीमायें राजपरिवारों अथवा विशिष्ट अभिजात वर्ग तक अन्तर्निहित थीं। गुप्त साम्राज्य के समय यह रगमच अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुका था और मुसलमानों के राज्य तक लगभग सभी रूपों में यह विनष्ट हो गया। (आ) यह जन साधारण का लोक रगमच था। जो मुसलमानों के राज्य काल में उनकी धार्मिक कट्टरता के कारण नगरों से प्राय दूर बस्तियों में सामान्य जनता के मनोरंजनार्थ रामलीला, रास लीला अथवा नौटकी आदि के रूप में विकसित होता रहा। इस रगमच ने लोकप्रिय रास, ख्याल, साग, यात्रा आदि ही दिये, साहित्यिक योग-दान से यह वचित रहा। (इ) अंग्रेजों के राज्य-काल म तीसरे रगमच का प्रादुर्भाव कलकत्ते म हुआ। इसी के फल स्वरूप पारसी रगमच का भी अभ्युदय हुआ जो प्रधानत व्यवसायिक था तथा गम्भीर रुचि के विकसित करने में असमर्थ था। सस्ते, प्रहसन, लच्छेदार खिचड़ी भाषा, उत्तेजक नाच गीत तथा चमकते दमकते पर्दे और वेश भूषा इसके प्रधान लक्षण थे।

भारतेन्दु ने इसी रगमच के विरोध मे हिन्दी रगमच की स्थापना का प्रयत्न किया। सन् १८६१ में 'बनारस थियेटर्स' में शीतलाप्रसाद लिखित 'जानकी मगल' नाटक खेला भी गया, स्वय भारतेन्दु लिखित 'हरिश्चन्द्र' तथा अन्य नाटकों का अनेक बार अभिनय हुआ परन्तु उसका सतत् प्रयत्न सफल नहीं हुआ। आज भी हिन्दी रगमच की वही स्थिति है।

अतएव किसी रंगमंच के आधार पर प्रथम प्रश्न का उत्तर दिया जाय ? स्वयं प्रसाद जी के सामने भी यही प्रश्न रहा होगा और वस्तु स्थिति को समझते हुए भी उन्होंने क्रम पूर्वक अपने नाटकों का रचना स्थगित नहीं की। हिन्दी रंगमंच के इस दारिद्र्य के कारण यह प्रश्न निरर्थक हो जाता है और विनम्रतापूर्वक कहा जा सकता है कि वर्तमान अस्थिर रंगमंच को हिन्दी का रंगमंच मानकर जो विवेचक इस प्रश्न का उत्तर देते हैं तथा प्रसाद जी के नाटकों को असफल कह देते हैं, उनका निर्णय न्याय संगत नहीं है।

अब दूसरा प्रश्न लीजिये। रंगमंच तो तीन ओर से परिवेष्टित प्रकोष्ठ जैसी वस्तु है जो लगभग २०, २२ फुट लम्बा और १८, २० फुट चौड़ा होता है। इसमें सामने का भाग खुला और शेष दीवारों से घिरा रहता है। यदि प्रकोष्ठ जिस समय परिकल्पिक (Designer) द्वारा रंगशिल्प की योजनाओं से परिपूर्ण हो जाता है और अभिनेय नाटक की कथा वस्तु तथा घटना चक्र के विकास के अनुसार दृश्य रचना (Settnig) एवं दृश्य बंधों (Sets) से युक्त होकर दृश्य परिकल्पना में अंतरंग एवं बहिरंग के सामंजस्य को प्रस्तुत करता है तभी उसे रंगमंच की संज्ञा प्रदान की जाती है। यह निर्विवाद है कि दृश्य रचना नाटकीय व्यापार की पृष्ठ भूमि है। वह अभिनेता के कार्य व्यापार तथा भाव व्यंजना में सहायक हो इसी में उसकी सार्थकता है। रंगमंच पर व्यवस्थित प्रकोष्ठ का द्वार किधर है वातायन का मुख किस ओर है ? प्रस्थान और प्रवेश मार्ग कौन कौन से हैं ? इस सब सूक्ष्मताओं की स्थिर व्यवस्था नहीं की जा सकती। ये तो नाटक के अनुकूल परिवर्तित होते रहते हैं। संक्षेप में संकेतात्मक प्रतिनिधान प्रत्येक नाटक के प्रधान अंग है दृश्यों की भौतिक रूप रेखा के पश्चात् ही रंगमंच पर दृश्य रचना का काम आरम्भ होना चाहिये। ये दृश्य रचनायें चाहे जटिल हों और चाहे सरल, चाहुरंगा हों अथवा एकरंगी उनका जुगाना प्रक्षेपक (Director) के लिये अनिवार्य हो जाता है। यह व्यवहारिक बात है कि अनेक टुकड़ों को जोड़कर बनाये हुए ऐसे प्रतिनिधान केवल एक ही नाटक में नहीं कई नाटकों के लिये उपयोगी होते हैं और इस प्रकार दीखने में अस्थायी होते हुए भी स्थायी बन जाते हैं। ईंट पत्थर की इमारत अथवा प्रकाश प्रभाव के लिये आवश्यक सामग्री तथा ध्वनि संगीत यन्त्रों की स्थायी व्यवस्था को छोड़कर शेष अस्थायी वस्तुएँ भी स्थायी बन जाती हैं। यदि रंगमंच के स्थायित्व का कोई अर्थ है तो वह इसी प्रकार है अन्य नहीं। तो इससे सिद्ध हुआ कि रंगमंच नाटक खेलने के उपयुक्त बनाया जाता

है। ऐसा नहीं है कि नाटक रंगमंच के लिये बनाया जाय। जो विद्वान इन तथ्यों को ध्यान में रखे बिना किसी नाटक की सफलता अथवा असफलता का निर्णय दे देते हैं वे भी उचित नहीं करते।

भरतमुनि ने अभिनय की सफलता के लिये जहाँ रंगमंच की आवश्यकता स्वीकार की है वहीं अन्य बातों का होना भी आवश्यक बताया है। अभिनय का लक्षण बताते हुए भरत ने कहा है कि नाटक के प्रयोग में शाखा अंग और उपांग से युक्त जो प्रक्रिया कवि के आशय को सामाजिक के सम्मुख ले जाती है (लाकर रखती है) अभिनय कहलाती है।

इससे स्पष्ट है कि नाटक की अभिनेयता का अधिकांश श्रेय अभिनेता को है, कोरा रंगमंच उसे सफल या असफल नहीं बना सकता। आचार्य अभिनव गुप्त के गुरु भट्ट तोत ने इस लक्षण को थोड़ा और विस्तृत किया। उनके मतानुसार जो कला सामाजिक का ध्यान सभी ओर से हटाकर केवल रंगमंच पर होने वाले दृश्य की ओर निरन्तर लगाये रहे वह अभिनय-कला है।

भरतमुनि ने अभिनय के अंगों में वाचिक (गीत प्रबन्धादि) आंगिक (अंग प्रक्षेपण मुद्रायें आदि) आहार्य (आभूषणादि) तथा सात्विक भाव प्रदर्शन (स्तम्भ, स्वेद, रोमांचादि) की गणना की है। इस चतुर्विध अभिनय के लिये ही ऐसे साधनों की आवश्यकता होती है जो सामाजिकों को सदैव अपनी ओर आकर्षित करते रहें। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि अभिनय विषयक इस विवेचन में सामाजिक की रुचि का बड़ा भाग है। सामाजिक की रुचि पर तत्कालीन संस्कृति का प्रभाव पड़ता ही है अतएव रुचि का प्रश्न कभी कभी साधारणीकरण में बाधक हो सकता है।

यह कसौटी स्थिर करने के उपरान्त हमें देखना चाहिये कि प्रसाद के नाटक अभिनय योग्य हैं अथवा नहीं! सभी नाटकों का विवेचन इस दृष्टि से सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिये उनके चन्द्रगुप्त नाटक को ले लीजिये—

कार्य व्यापार की दृष्टि से चन्द्रगुप्त चार अंकों का नाटक है—उसकी कथा वस्तु का विकास इस प्रकार हुआ है—

प्रथम अंक—दृश्य संख्या ११
द्वितीय „ — „ „ ११
तृतीय „ — „ „ ६
चतुर्थ „ — „ „ १६

कार्य व्यापार के दृष्टिकोण से—

प्रथम अंक में घटना स्थलों का समावेश तीन प्रदेशों में होता है—गांधार, मगध और पर्वतेश्वर का पंजाब प्रदेश।

यह प्रथम अंक, जैसा सभी नाटकों में होता है, परिचयात्मक है। अतएव घटना स्थलों की विविधता एवं पात्रों की बहुलता इसमें होना स्वाभाविक है। यदि समस्त ११ दृश्य पटों का विश्लेषण किया जाय तो प्रतीत होगा कि वे इस प्रकार हैं—

गांधार देश में ५ दृश्य-पट जिनमें से दो सिंधु-तट के, दो गांधार नगर (एक प्रकोष्ठ, दूसरा कानन) और एक तक्षशिला के गुरुकुल का है। इस प्रकार एक दृश्य बंध नदी तट का एक प्रकोष्ठ का और एक ऐसा जिसमें कानन और थोड़े से परिवर्तन के साथ आश्रम दिखाया जा सके—कुल मिलाकर तीन दृश्य बंध आवश्यक हुए। मगध देश में भी ५ दृश्य पट हैं जिनमें से दूसरा और चौथा एक दृश्य पट पर, पाँचवाँ तथा सातवाँ दूसरे दृश्य-पट पर तथा तीसरा दृश्य तीसरे दृश्य पट पर दिखाया जा सकता है। अतएव तीन दृश्य बंध अधिक से अधिक इसके लिये भी आवश्यक हुए।

पंजाब प्रदेश का दृश्य पृथक दृश्य बंध पर दिखाना आवश्यक नहीं है। मगध प्रदेश के ही दृश्य बंध पर दिखाया जा सकता है।

यदि इस प्रकार प्रथम अंक के दृश्य बंधों को लें तो सब मिलाकर कम से कम तीन अन्यथा चार दृश्य बंधों पर प्रथम अंक का अभिनय हो सकता है। हाँ कुछ परिवर्तन पार्श्व पट्टिकाओं (Side wings) में अवश्य करने पड़ेंगे।

दूसरे अंक में भी कार्य-व्यापार के स्थल वही तक्षशिला और पंजाब प्रदेश हैं। मालव प्रदेश और अधिक आ गया है परन्तु मालव प्रदेश के दृश्यपट अधिकांश नदी तट हैं अथवा एक दृश्य स्कंधावार का है जो कानन-पट पर सुगमता से प्रदर्शित किया जा सकता है।

सूक्ष्मताओं में जाने पर प्रतीत होगा कि दूसरे अंक के लिये अधिक से अधिक एक अन्य छोटे से दृश्य बंध की भले ही आवश्यकता पड़ जाय अन्यथा प्रथम अंक के दृश्य बंधों से ही काम चल सकेगा।

इस प्रकार चन्द्रगुप्त नाटक के अभिनय के लिये प्रथम दो अंकों को दृष्टि में रखते हुए रंगमंच पर जिस सामग्री की आवश्यकता है वह बहुत अधिक तथा जटिल नहीं कही जा सकती। फिर यह भूलना न चाहिये कि नाटक ऐतिहासिक नाटक है। ऐतिहासिक वातावरण उपस्थित करने के लिये अन्य विषय के नाटक

की उपेक्षा उसकी आवश्यकतायें वैसे भी अधिक होती हैं। विज्ञ पाठक देखें उस दृष्टि से चन्द्रगुप्त सफल नाटक है या नहीं ? हमने केवल दो अंकों का विश्लेषण मात्र करके शेष सामग्री इसलिये नहीं दी है कि ऐसा करने से लेख का कलेवर बहुत बढ़ जायगा।

एक दूसरा दोष जो प्रसाद के ऊपर लगाया जाता है वह उनके पात्रों की भाषा। कहा जाता है कि प्रसाद की भाषा कठिन और दार्शनिक है। अतएव जन साधारण के समझने योग्य नहीं। इस सम्बन्ध में इतना निवेदन है कि भाषा पात्र की स्थिति, चरित्र और मनोविकास के अनुकूल हुआ करता है। प्रसाद के सामान्य पात्र कहीं भी क्लिष्ट भाषा का प्रयोग नहीं करते। उनके तर्कयुक्त संवादों में तर्क वितर्क की भाषा है। चाणक्य का सारा चरित्र राजनीतिक गवेषणा और देश की सुव्यवस्था की चिन्ताओं से भरा हुआ है। अलका और मालविका जिस कोमल प्रदेश की राष्ट्र प्रेमी महिलायें हैं उनके अनुकूल ही उनकी भाव व्यंजना है। राजस और सुवासिनी के समर्पण प्रेम सरोवर में विचरने वाली पखुरियों के समान मधुर और आकर्षण हैं। कल्याणी की भाषा नंदवंश की राजकन्या के सर्वथा अनुकूल है और चन्द्रगुप्त चाणक्य का आज्ञानुवर्ती होते हुए भी स्वतंत्र व्यक्तित्व रखता है। अतएव भाषा की दुरूहता का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यदि भावाभिव्यंजना में अस्पष्टता हो तो वह लेखक का दोष माना जा सकता है।

इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि प्रसाद के सभी पात्रों की भाषा एक सी है। पता नहीं चलता ऐसा कहने वाले इस विषय में क्या दृष्टिकोण रखते हैं। क्या वे चाहते हैं कि विभिन्न प्रदेश के पात्रों की भाषा उनकी प्रादेशिक भाषा रहे और उसी का प्रयोग नाटक में किया जाय। ऐसा करने से नाटक भाषा कोष नहीं तो भाषा चित्र प्रदर्शक तो अवश्य ही बन जायगी और जब सामाजिक एक भाषा नहीं समझ सकेंगे तो विभिन्न भाषाओं को समझ कर रस प्राप्ति एवं मनोरंजन में किस प्रकार समर्थ होंगे ?

वास्तव में नाटक की भाषा वह होना चाहिये जिसमें सबसे अधिक नाटकीय तत्त्व वहन करने की क्षमता हो। भाषा का माधुर्य उसकी गम्भीरता, उसका गौरव और उसके शब्द गुम्फन की रमणीयता उसके प्रवाह की मनोरमता आदि ही ऐसे गुण हैं जो लौह हृदय को भी आकर्षित कर लेते हैं। शेक्सपियर के नाटकों का ध्यान आते ही कौनसा पाठक है जो दया विषयक भावों का समर्पण याद

नहीं करता अथवा जिसके हृदय पर जूलियस सीजर में दिया गया एन्टोनी का भाषण प्रभाव प्रभाव नहीं डालता ?

इसी प्रकार प्रसाद के नाटकों में अनेकों सवाद ऐसे हैं जो स्मृति-पटल पर अंकित होकर सामाजिक को आनंद से विभोर कर डालते हैं।

प्रसाद के कुछ नाटकों में गीतों के विषय में भी यही दोषारोपण किया जाता है। उनके प्रधान नाटकों के परिशिष्ट भाग में गीतों की स्वरलिपि दे दी गई है। इसके कारण संगीत की राग रागनियों में बिठाकर गाने की सुगमता मिल जाती है। हां उनमें यौवन की उदात्त भावनाओं का संगीत है, वे कोरी सस्ती भावुकता के बाजारू गीत नहीं हैं। इस विचार से यदि उन्हें अनुपयुक्त कहा जाता हो तो बात दूसरी है।

संक्षेप में जैसा ऊपर कहा जा चुका है प्रसाद के नाटकों के विषय में उनके अनभिनेय होने की धारणा उचित नहीं है। क्या रंगमंच क्या अभिनेयता क्या भाषा, क्या भाव और क्या घटना चक्र एवं कार्य व्यापार ये नाटक उत्कृष्ट हैं। आवश्यकता है समझदार प्रक्षेपक की जो उनका अध्ययन कर उन्हें हिन्दी जनता के सामने प्रस्तुत कर सके।

प्रसाद के नाटकों में द्वन्द्व-युद्ध

—डा० जगदीश चन्द्र जोशी एम० ए०, पी एच० डी०

एक ओर गौतम बुद्ध, दूसरी हर्ष, प्रसाद के नाटकों की दो ऐतिहासिक सीमाएँ हैं। प्रसाद के प्राय सभी नाटकों से ऐसा ज्ञात होता है कि इस सुदूर ऐतिहासिक काल में भारतवर्ष में द्वन्द्व-युद्ध की प्रथा प्रचलित थी, द्वन्द्व युद्ध का साधारण अर्थ है, 'दो व्यक्तियों में युद्ध किन्तु पाश्चात्य संसार के मध्य-युग में इस प्रकार के युद्ध एक स्वतन्त्र प्रथा के रूप में निश्चित नियमों के अनुसार लड़े जाते रहे हैं। प्रश्न यह है कि किन्हीं दो व्यक्तियों में लड़े गये युद्ध को ही प्रसाद 'द्वन्द्व युद्ध' कहते हैं अथवा द्वन्द्व-युद्ध को उन्होंने विशेष अर्थ में लिया है, और यदि प्रसाद ने इसका विशिष्ट अर्थ लिया है तो फिर यह प्रश्न होता है, क्या इस तरह के द्वन्द्व युद्ध भारत में उपर्युक्त काल में अथवा इससे प्रचलित थे ?

इन नाटकों में द्वन्द्व-युद्ध सम्बन्धी उल्लेख जहाँ कहीं भी हुए हैं उनसे निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं :—

(१) द्वन्द्व युद्ध का आह्वान किया जाता था, अर्थात् एक व्यक्ति अन्य व्यक्ति को युद्ध के लिए निमंत्रित करता था और उसके स्वीकार करने पर वह युद्ध लड़ा जाता था।[1]

(२) यह कोई आवश्यक नहीं था कि द्वन्द्व युद्ध तुरन्त ही लड़ा जाय। उसके लिए कालान्तर में भी कोई समय व स्थान निश्चित किया जा सकता था।[2]

(३) इन द्वन्द्व-युद्धों का कारण प्राय आत्मसम्मान अथवा प्रतिष्ठा की भावना पर आघात प्रतीत होता है, चाहे वह किसी प्रेयसी के कारण हो,

अथवा अपनी पुत्री या माता के सम्मान की रक्षा के लिये। वाजिरा[3], कार्नेलिया[4] और अलका के[5] निमित्त जिन द्वन्द्व-युद्धों का आह्वान हुआ है, वे प्रथम कोटि के द्वन्द्व-युद्ध हैं। यावार राज द्वारा अलका के निमित्त आम्भीक को

१. चन्द्रगुप्त को फिलिप्स द्वारा दिया गया द्वन्द्व का आह्वान—चन्द्रगुप्त २. वही पृष्ठ
३ अजातशत्रु पृ० ११६ ४. चन्द्रगुप्त पृ० १६१ ५. चन्द्रगुप्त पृ० १३६

दी गई चुनौती[1] और अपनी माता की रक्षा के लिए स्वयं गुप्त द्वारा भटार्क से लड़ा गया द्वन्द्व[2] दूसरी कोटि के द्वन्द्व युद्ध हैं। राक्षस और चाणक्य में यदि राक्षस के कथनानुकूल सुवासिनी के लिए संघर्ष होता[3] तो यह भी प्रथम प्रकार का द्वन्द्व कहा जाता।

(४) दो विरोधी राष्ट्रों के सैनिक अधिकारियों में यदि द्वन्द्व युद्ध होता, तो उसका राष्ट्रों से कोई सम्बन्ध नहीं समझा जाता था, यह उनकी व्यक्तिगत बात मानी जाती थी, चन्द्रगुप्त मालव-क्षुद्रकों की सेना का महाबलाधिकृत है और फिलिप्स भारत में सिकन्दर का क्षत्रप, फिलिप्स के स्वयं के एक कथन के अनुसार इन दोनों का द्वन्द्व व्यक्तिगत है, राष्ट्रों के संधि विग्रह से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।[4]

(५) द्वन्द्व-युद्ध समान शस्त्रों से लड़े जाते थे, प्रसाद के नाटकों में केवल दो ही द्वन्द्व युद्ध लड़े गये हैं। प्रथम में "खड्ग पराक्षा"[5] का स्पष्ट उल्लेख है। दूसरे में भी यह स्पष्ट संकेत[6] मिल जाता है कि दोनों स्थलों पर प्रतिद्वन्द्वी तलवारों से ही लड़े हैं।

(६) द्वन्द्व युद्ध सुरक्षित रंगशालाओं में भी लड़े जाते थे, चन्द्रगुप्त और फिलिप्स का द्वन्द्व युद्ध प्रमुख यवन और आर्य-गण की उपस्थिति में रंगशाला में हुआ था, सिंहरण उस रंगशाला की रक्षा में नियुक्त था[7] अन्यथा स्कन्द व भटार्क के द्वन्द्व की तरह यह कहीं भी लड़ा जा सकता था।

उपर्युक्त बातों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रसाद ने 'द्वन्द्व' को साधारण युद्ध के अर्थ में न लेकर एक विशिष्ट अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। देखना यह है कि प्राचीन भारत में क्या इस विशिष्ट अर्थ में द्वन्द्व-युद्ध लड़े जाते थे। महाभारत[8] में भीम और दुर्योधन के द्वन्द्व-युद्ध का उल्लेख मिलता है, इस युद्ध के कुछ नियम थे। सरस्वती के तट पर यह युद्ध गदाओं से लड़ा गया था, दोनों पक्षों के योद्धा इसके दर्शक थे। निर्णायक थे बलराम जिन्होंने इन दोनों को गदा-युद्ध की शिक्षा दी थी। कटि प्रदेश से नीचे गदा का आघात करना

१. चन्द्रगुप्त पृ० ६५ २. स्कन्दगुप्त पृ० ६६ ३. चन्द्रगुप्त पृ० ११४
४. चन्द्रगुप्त पृ० १६१ ५. ,, पृ० १७२
६. 'भटार्क दो एक हाथ चला कर घायल होकर गिर पड़ता है'—स्कन्दगुप्त पृ० ६६ ७. चन्द्रगुप्त पृ० १८२
८ महाभारत (शल्य पर्व) अध्याय ३१

अधर्म-युद्ध समझा जाता था, भीम ने इस नियम का उल्लंघन किया था और इसके लिए उसकी भर्त्सना की गई थी, इस द्वन्द्व के प्रारम्भ में ही यह शर्त कर ली गई थी कि द्वन्द्व-युद्ध के परिणाम पर ही महाभारत युद्ध की जय-पराजय का निर्णय हो जायगा। द्वन्द्व-युद्ध का यह स्वरूप बहुत कुछ यूनान और रोम के इतिहास में आये हुए हेक्टर और एचिलिस, एनियस और टर्नस, होरेटो और क्यूरेटी के द्वन्द्व-युद्धों के स्वरूप से मिलता है। दो राष्ट्रों के परस्पर संघर्ष में सामूहिक जन संहार को रोकने के लिए प्राय इस प्रकार के व्यक्ति-युद्ध (सिंगिल कौम्बैट्स) लड़े जाते थे, फिरदौसी के 'शाहनामा' में सोहराब और रुस्तम के बीच जिस द्वन्द्व का चित्रण हुआ है, उसका उद्देश्य भी दो सेनाओं के संघर्ष को बचाकर जय-पराजय का निर्णय सेनानायकों पर छोड़ देना है। महाभारत, यूनान और रोम के द्वन्द्वों में यही भावना रही है। द्वन्द्व-युद्ध का एक और स्वरूप प्राचीन 'मल्ल-युद्ध' में मिलता है। श्रीमद्भागवत[1] में भगवान श्री कृष्ण की रंगशाला में कंस के मल्लों ने ललकारा, कृष्ण ने उनसे 'मल्ल-युद्ध' किया और उसमें कंस के मल्लों का संहार कर उन्होंने विजय प्राप्त की। वस्तुतः ये मल्ल-युद्ध क्रीड़ा विनोद की वस्तु है, और शारीरिक शक्ति की परीक्षा ही इसका उद्देश्य है।

प्रसाद के नाटकों में वर्णित द्वन्द्व-युद्ध न तो राष्ट्रीय युद्ध ही कहे जा सकते हैं और न मल्ल-युद्ध ही। वे वैयक्तिक युद्ध हैं जो आत्मसम्मान और प्रणय जैसे प्रसंगों को लेकर लड़े गये हैं, साथ ही ये द्वन्द्व सामाजिक प्रथा के रूप में मान्य प्रतीत होते हैं और उनका जन्म सैनिकों एवं मल्ल-क्रीड़कों के बीच न होकर सामान्य समाज में हुआ है, चन्द्रगुप्त और फिलिप्स का युद्ध दो सैनिकों का द्वन्द्व न होकर दो प्रणयियों का द्वन्द्व है, विलसन के अनुसार इस प्रकार के द्वन्द्व-युद्ध किसी भी प्राचीन सभ्यता के इतिहास में नहीं पाये जाते[2] फलतः प्रसाद के इन द्वन्द्व युद्धों का स्वरूप हमें मध्यकालीन पाश्चात्य सभ्यता में ही ढूंढना होगा।

---

१ श्रीमद्भागवत १०—४४

२ 'दि ड्यूएल प्रोपर इज नौट फाउंड इन ऐनी औफ दि ऐंशिएंट सिविलिजेशन्स' इंसाइक्लोपीडिया औफ सोशल साइंसेज (विल्सन) वौल्यूम पृ० २६६

'इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका'[3] में लिखा है "द्वन्द्वयुद्ध (ड्यूएल) दो व्यक्तियों के उस युद्ध को कहते हैं जो वैयक्तिक वैमनस्य अथवा आत्मसम्मान के प्रश्न का निर्णय करने के लिए घातक शास्त्रों द्वारा किसी नियत प्रथा के अनुसार लड़ा जाय, और जिसके लिए स्थान और समय पहले ही निश्चित कर लिया जाय।

इस आधुनिक अर्थ में द्वन्द्व-युद्ध प्राचीन संसार में कहीं भी नहीं लड़े जाते थे, इस प्रकार के द्वन्द्व-युद्ध की चर्चा १६११ ई० में प्रकाशित कोरियेटस के 'क्रूडिटीज' ग्रन्थ में पहले पहल हुई है। इस द्वन्द्व का पूर्व रूप 'ट्यूटॅनिक' जाति के न्याय युद्धों (जुडीशियल कौम्बेटस) में पाया जाता है। मानवीय न्याय से असन्तुष्ट होने पर ईश्वरीय न्याय की आकांक्षा से दो व्यक्ति युद्ध के देवता को साक्षी कर युद्ध करते थे और यह मान लिया जाता था कि न्याय विजयी की ओर है।[1] किन्तु यह भी आधुनिक द्वन्द्व-युद्ध का सही स्वरूप नहीं है।

इस द्वन्द्व का दूसरा रूप आत्मसम्मान के द्वन्द्वों में (ड्यूएल्स ऑफ ऑनर) में पाया जाता है, जिसका विकास १६ वीं शती या उससे कुछ पूर्व काल में हुआ था[2]। इस प्रकार के द्वन्द्व-युद्ध कहीं भी और कभी भी लड़े जा सकते थे। इस कारण वैमनस्य न होकर आत्मसम्मान पर चोट होना था। 'किसी प्रकार का कटु व्यंग, काइ भ्रांति अथवा प्रेयसी के 'रिबन' के रंग या उसके पत्र के सम्बन्ध में पूछा गया कोई अवांछित प्रश्न, ये इस प्रकार के युद्ध के लिए पर्याप्त कारण होते थे[3]' द्वन्द्व युद्ध के इस आधुनिक स्वरूप को समझाने पर यह कहा जा सकता है कि प्रसाद के द्वन्द्वों का कारण वैमनस्य न होकर

१ 'ए प्रिएरेंज्ड इन्काउंटर बिटवीन टू परसंस विद डैडली वैपन इन एकौर्डेन्स विद कन्वैंशनल रूल्स, विद दि ओबजैक्ट ऑफ सैटलिंग ए परसनल क्वौरेल और ऑफ डिसाइडिंग ए पॉइंट ऑफ ऑनर।'

—इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका

वाल्यूम ■ पृ० ७११

१ जर्मेनिया (टेसीटस)—ई० ब्रिटानिका वाल्यूम ७ पृ० ७११

२ इ० ब्रिटानिका वोल्यूम ७—७११

३ 'दे फौट बाइ नाइट एन्ड डे, बाइ मूनलाइट एण्ड टौर्च लाइट, इन दि पब्लिक स्ट्रीट्स एण्ड स्क्वायर्स, ए हैस्टी वर्ड, ए मिसकंसीव्ड जैस्चर, ए क्वैश्चन ऐबाउट दि कलर ऑफ ए रिबैंड और एन इन्डीस्क्रीट लैटर वेर दि कौमनैस्ट प्रिटैक्स्ट्स फौर ए ड्यूऐल—' वही वो० ७ पृ० १११

आत्मसम्मान की भावना और प्रणय रहे हैं अजातशत्रु और दार्धनारायण के द्वन्द्व का प्रसंग प्रणय से सम्बन्धित है, और चन्द्रगुप्त और फिलिप्स के द्वन्द्व का भी यही कारण है। कालान्तर में फ्रांस और इंगलैंड में जो द्वन्द्व-युद्ध लड़े गये उनमें प्रतिद्वन्द्वी के प्राण न लेकर उसे घायल मात्र कर देना (कभी-कभी केवल खरोंच मात्र लगा देना) पर्याप्त समझा जाता था। पर प्रसाद ने जिन द्वन्द्वों की आयोजना की है उसमें से एक में तो प्रतिद्वन्द्वी के प्राण ले लिए जाते हैं, किन्तु दूसरे में उसे घायल मात्र कर दिया गया है।

इतिहास बतलाता है कि फ्रांस के राजा 'बारहवें लुई' तथा 'फ्रांसिस प्रथम' के शासन-काल में द्वन्द्व-युद्ध बड़ी धूम धाम से लड़े जाते थे, इस प्रकार के द्वन्द्वों के कुछ निश्चित नियम होते थे। इन युद्धों के दर्शकों में स्वयं सम्राट् उनके दरबारी और रूप्रात हुआ करते थे। और ये युद्ध सुसज्जित और रक्षित रंग शालाओं में लड़े जाते थे।[1] द्वन्द्व वास्तव में दो व्यक्तियों में हुआ करता था, किन्तु प्रत्येक के साथ एक या उससे अधिक सहकारी (सेकिन्ड्स) भी होते थे।[2] प्रसाद ने १६ वीं शती के फ्रांस में प्रचलित उक्त प्रथा का सम्बन्ध भारतीय और यूनानी 'वीर युद्धों' से जोड़ने का प्रयास किया है। चन्द्रगुप्त और फिलिप्स का द्वन्द्व-युद्ध इसी प्रकार का एक वैध-द्वन्द्व-युद्ध है जो एक विशाल रंगशाला में आर्यों और यूनानियों के प्रमुख वीरों के समक्ष लड़ा गया था, युद्ध की घटना के बीच एकाएक फिलिप्स के सहकारी यूडेमस का उल्लेख हमारा ध्यान उपर्युक्त प्रकार के सहकारी (सेकिन्ड्स) की ओर आकृष्ट करता है।

कुछ भी हो इस प्रकार के द्वन्द्व-युद्ध भारतीय इतिहास के किसी भी काल में नहीं लड़े गये। अतः उन्हें अनैतिहासिक और अभारतीय कहने में हमें संकोच नहीं होता।

१—'अन्डर लुई ट्वैल्फ्थ एण्ड फ्रांसिस फर्स्ट' वी फाइंड दि बिगिनिंग्स ऑफ ट्रिब्यूनल्स ऑफ ऑनर, दि लास्ट इंस्टैंस ऑफ ए ड्यूएल ऑथोराइज्ड बाइ दि मैजिस्ट्रेट्स एण्ड कन्डक्टेड एकोर्डिंग टु दि फौर्म्स ऑफ लौ वज दि फेमस वन बिटवीन फ्रैंको दि 'विवोने दि' ला शेनेनरे एण्ड गाइ शेबो दि जारनैक, दि ड्यूएल वज फौर ऑन जोलाय टेन, फिस्टीन फोर्टीसैवन इन दि कोर्टयार्ड ऑफ दी शेटो दि सेंत जर्मे ऐन ले, इन दि प्रेजेंस ऑफ दि किंग एण्ड ए लार्ज ऐसैम्बली ऑफ कोर्टियर्स'

—इ० ब्रिटानिका वौल्यूम ■ पृ० ७११

२—इं० ऑफ सोशल साइंसेज विल्सन डा वालिस वौल्यूम ५ पृ० २६६.

प्रसाद के नाटकों की अभिनेयता

—प्रोफेसर वासुदेव, एम० ए०

'प्रसाद' जी के नाटकों की अभिनेयता से सम्बन्धित विवाद आज भी बन्द नहीं हुआ है, जिसका श्रीगणेश 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' नाटकों के प्रकाशन से हुआ था। इस विवाद के अगुआ थे श्री कृष्णानन्द गुप्त, जिन्होंने अपनी पुस्तक 'प्रसाद जी के दो नाटक' में न केवल 'स्कन्दगुप्त' एवं 'चन्द्रगुप्त' पर विभिन्न आरोप लगाए वरन् 'प्रसाद' की समस्त नाट्य-कला और शिल्प विधान पर जोरदार हमले किए। उक्त पुस्तक में लेखक की तर्कपूर्ण युक्तियों का चमत्कार पढ़ते ही बनता है। सन् ३७ में प्रो० नन्ददुलारे बाजपेयी ने गुप्त जी के सभी आरोपों का खण्डन कर दिया था। फिर भी, यह विवाद चलता ही रहा, कि रंगमंच की दृष्टि से प्रसाद के नाटक अभिनय के अनुकूल नहीं हैं।

इससे पूर्व कि हम 'प्रसाद' जी के नाटकों की अभिनेयता पर विचार करें, हम उस विवाद को स्पष्ट कर देना चाहते हैं, जब कि कुछ लोग नाटकों को 'पाठ्य' और 'दृश्य' दो श्रेणियों में विभाजित कर उनका सामान्य अध्ययन और मूल्यांकन करते हैं। प्रेमचंद जी ने अपने नाटक 'कर्बला' की भूमिका में नाटक का वर्गीकरण इन्हीं दो रूपों में किया है। ऐसे लोगों का कहना है कि नाटक-लेखन-कला और अभिनय कला दो भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं। निस्संदेह अभिनय कला नाटक रचना से भिन्न है, लेकिन नाटक का रचयिता अभिनय-कला से अपरिचित नहीं होता। संसार में ऐसे ही लेखकों के नाटक रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत हुए हैं, जिन्होंने रंगमंचीय आवश्यकताओं और अभिनय सम्बन्धी सामान्य नियमों का पालन किया है। सच तो यह है कि यदि नाटककार अभिनेयता हुआ, तो फिर क्या कहना! अतएव, नाटककार के लिए अभिनय कला का ज्ञान आवश्यक है। यह समझना कि 'प्रसाद' जी नाट्य शास्त्र और अभिनय कला के ज्ञान से वंचित थे, उनके साथ अन्याय करना है। इस दिशा में वे पूर्ण निष्णात थे, लेकिन एक बात और है। अभिनय की सफलता का सारा उत्तरदायित्व नाटककार के सिर पर ही लादना न्याय संगत नहीं होगा। कारण, नाटककार अपने नाटक को जिस रूप में प्रस्तुत करता है, उसका अभिनय सदा उसी रूप में नहीं होता। रंगमंच

प्रबन्धक को उसमें काट-छाँट करने का बराबर अधिकार रहता है। इस सम्बन्ध में बिहार के एक प्रसिद्ध पत्रकार श्री विनयराव ने अपने एक निबंध 'The Stage Play' में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं—

"A stage play is not, however the offspring of the author alone It is a co operative adventure in the realm of art in which the actor the make up man, the stage-manager, the producer, the music composer, the director, the curtain lifter and scores of others and last but not the least, the audience must collaborate. Each has been allotted a role to play and the success or failure of a drama enacted on the stage defends on how each acquits himself or herself. In no other artistic product, collective effort is so surely needed as in the stage play."[1]

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि नाट्काभिनय एक मिश्रित कला है, जिसकी सफलता का दायित्व केवल नाटककार पर नहीं होता। खेद की बात है कि हमारे सभी प्रमुख नाटककारों को ऐसे लोगों का सान्निध्य या तो प्राप्त नहीं हुआ या अभिनय-कला में निष्णात अभिनेताओं निर्देशकों तथा प्रस्तुत कर्त्ताओं ने हिन्दी के नाटकों को रंगमंच पर लाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। यदि भारतेन्दु जी और प्रसाद जी को ऐसे लोगों का सम्पर्क मिला होता तो हमारे आलोचकों को शिकायत करने का अवसर ही न मिलता कि 'प्रसाद'जी के नाटक अभिनय के योग्य नहीं हैं। बंगला मराठी भाषा के नाटकों की सफलता का यही रहस्य है कि उनके प्रत्येक नाटककार को अभिनय, कलाकार बराबर मिलते रहे और वे नाटकों को रंगमंच पर उतारते रहे।

हिन्दी में ऐसी बात नहीं हुई। इसके कई कारण हैं—(१) जनता की विकृत रुचि (२) हिन्दी उर्दू का संघर्ष (३) पारसी नाटकों का दूषित प्रचार। रीतिकाव्य और 'इन्दरसभा' जैसे कुछेक नाटकों ने लोकरुचि को इतना विकृत कर दिया कि हिन्दी प्रदेश में लोग नाटक की उपयोगिता और महत्व भूल गए। इन्हें नौटंकी, स्वाँग और रास में अपेक्षाकृत अधिक आनंद आता रहा। सबसे दुर्भाग्य की बात यह हुई कि हिन्दी प्रदेश में हिन्दी उर्दू का अस्तित्व संघर्ष उन्हीं

१. the Bihar Theatre पृ० सं० ४१।

दिनों से आरम्भ हुआ, जब हिन्दी में नाटक लिखने का चलन आरम्भ हुआ। कचहरियों स्कूलों, रियासतों, ताल्लुकदारों और जमींदारों के आश्रय में उर्दू के पलने के कारण पारसी-नाटक कंपनियाँ भी उर्दू शैली में नाटक लिखाने और दिखाने लगीं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि पारसी-नाटक कंपनियों के जन्म के पूर्व उर्दू में नाटक की अपनी कोई परम्परा नहीं थी। इन कम्पनियों ने जन समाज में प्रचलित इश्क-मुहब्बत की रूमानी कहानियों को नाटक का विषय बनाया। फलतः जनता में ये नाटक बड़े लोकप्रिय हुए। ऐसी अवस्था में हिन्दी के नाटक, जो काफी अच्छी संख्या में तब तक लिखे जा चुके थे, वहीं के वहीं पड़े रहे। पारसी नाटकों की चमक दमक के सामने ये नाटक अधिक गंभीर और बोझिल मालूम हुये। 'प्रसाद' जी के नाटक भी इसके शिकार हुये। प्रसाद के समय तक पारसी कम्पनियाँ काफी समृद्ध हो चुकी थीं, पर चलचित्र के बढ़ते हुए प्रसार प्रचार के सम्मुख इन कम्पनियों का सिंहासन भी डोलने लगा।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि हिन्दी के रंगमंचीय नाटकों का इतिहास दुर्भाग्य और संघर्ष का इतिहास है, जिसका क्रम आज भी कुछ हेरफेर के साथ चल रहा है। ऐसी स्थिति में प्रसादीय नाटकों को न तो रंगमंच पर खेला गया और न लोगों ने उनकी ओर अपनी रुचि ही दिखाई। इसके विपरीत, हिन्दी के आलोचकों ने भी इन नाटकों पर जोरदार हमले किये क्योंकि इनके सामने नाटक और अभिनय का जो आदर्श था, वह अंग्रेजी और पारसी नाटक-शैली से ही प्रभावित था।

'प्रसाद' के नाटकों के आलोचकों की उक्त ऐतिहासिक दृष्टि स्पष्ट न होने के कारण प्रसादीय नाटकों की अभिनेयता पर अनेक आरोप लगाए जाते हैं। मैं यह नहीं कहता कि ये सभी आरोप निराधार हैं। इनमें से कुछ अवश्य ही विचारणीय हैं। डा० नगेन्द्र ने रंगमंच की दृष्टि से 'प्रसाद' जी के नाटकों में निम्नलिखित तीन प्रमुख दोष देखे हैं—[१]

१ "उनके नाटकों में अभिनय की त्रुटियाँ हैं—युद्ध अभियान आदि ऐसे दृश्य हैं, जो मंच पर काफी गड़बड़ करेंगे।" इसके उत्तर में मैं निवेदन करूँगा कि हिन्दी का रंगमंच जब समृद्ध हो जायेगा तब दृश्यों की योजना असम्भव और गड़बड़ करने वाली नहीं होगी। अभी हमारा रंगमंच दरिद्रता के दलदल में फँसा है। पाश्चात्य रंगमंच पर तो गोलाबारी और चलते हुए वायुयान रेलगाड़ी के

१ आधुनिक हिन्दी नाटक (प्रथम संस्करण, १९४२ ई०) पृ० सं० १७,

दृश्य भी आसानी से दिखलाये जाते हैं। इसके लिए हमें समय की प्रतीक्षा करनी होगी।

२ "उनकी अपरिवर्तनशील गंभीर भाषा में अभिनयोचित चाचल्य नहीं है।" इस वाक्य से यही ध्वनि निकलती है कि प्रसादीय नाटकों की भाषा में एक रूपता है अर्थात् उसमें इतनी गंभीरता है कि उनकी चंचलता अथवा चुलबुलाहट का कहीं अवकाश ही नहीं मेरा नम्र निवेदन है कि 'प्रसाद' जी के ऐतिहासिक नाटकों में भाषा की जैसी गम्भीरता एवं शालीनता होनी चाहिए, वह स भाग्यवश वर्तमान है। भाषा का चाचल्य पारसी और सामाजिक नाटकों में भली भाँति देखा जा सकता है।

३. "अनावश्यक दृश्यों की सख्या भी बहुत है।" 'प्रसाद' जी के दो तीन नाटक ही ऐसे हैं, जो अपेक्षाकृत अधिक लम्बे हैं, जिनमें अनेकानेक दृश्यों की योजना हुई है। शेष नाटकों में दृश्यों की सख्या नियमित है। फिर यह काम तो नाट्य निर्देशक और रगमंच प्रबंधक का है कि वे नाटक के दृश्यों को काट-छाँटकर अथवा कई दृश्यों को एक में मिलाकर अभिनयानुकूल बनायें। यदि सारे कार्य नाटककार ही पूर्ण करें तो निर्देशक के लिए कौन-सा कार्य शेष रह जाता है? पश्चिम में भी शेक्सपीयर, रॉबर्टसन, इब्सन और शॉ के नाटकों का अभिनय ज्यों-का-त्यों नहीं हुआ। इससे यह न समझना चाहिए कि नाटककार का अभिनय-संबंधी ज्ञान अधूरा है, या अपरिपक्व होता है। सच तो यह है कि नाटककार को एक साथ ही दो छोरों को स्पर्श करना पड़ता है—एक साहित्य का, दूसरा रगमंच का। जहाँ नाटककार रगमंच को स्पर्श नहीं करता या चूक जाता है, वहाँ नाट्य निर्देशक इस कमी को पूरा करता है। मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि नाटकाभिनय एक सहकारी आयोजन है। एक निकृष्ट निर्देशक हर तरह से उत्कृष्ट नाटक के प्रदर्शन को धूलि में मिला सकता है। उसके ठीक विपरीत एक उच्चकोटि का निर्देशक एक साधारण नाटक को रगमंच पर चमका सकता है। यदि 'प्रसाद' के नाटकों में अनावश्यक दृश्य आए हैं, तो निर्देशक इनकी समुचित व्यवस्था कर सकता है। साथ ही, यह भी न भूलना चाहिए कि श्रेष्ठ और सफल नाटक 'दृश्य' और 'पाठ्य' दोनों होते हैं। सपादक जोसेफ टी॰ शिपले के शब्दों में हम अपने मत को इस प्रकार दुहरा सकते हैं—

"*Probably, for best appreciation, a Play* should be seen, read, seen again & re-read."[१]

१ Dictionary of world Literature—पृ॰ १७४

डा० नगेन्द्र ने 'प्रसाद' के नाटकों में "कथावस्तु की एकता" का अभाव एवं "वस्तु विधान में कहीं कहीं बड़े भद्दे जोड़ लगे हुए जैसे कुछ दोष गिनाए हैं। अपूर्ण मनुष्य होने के नाते 'प्रसाद' जी में यदि इस प्रकार के कहीं-कहीं छिट पुट दोष पाये जायें तो कोई आश्चर्य नहीं। लेकिन रंगमंच की दृष्टि से ये दोष 'प्रमुख' नहीं हैं।

प्रसाद के नाटक ऐतिहासिक हैं जिनकी कथा-परिधि में वेदकाल से लेकर हर्षकाल तक की ऐतिहासिक कथाएँ समाहित हैं। ऐतिहासिक नाटकों का प्रदर्शन उतना आसान नहीं होता। जितना सामाजिक नाटकों का होता है। इसीलिए प्रसाद के नाटकों का रंगमंचीय प्रदर्शन आसानी से सफल नहीं होता। इसका एक कारण यह है कि इसके अनुकूल अभी हमारे पास रंगमंच का अभाव है; दूसरे इनका प्रदर्शन खर्चीला है। इसके लिए काफी साज सज्जा और दृश्यावली की आवश्यकता है। तात्पर्य यह कि हम जब तक अपने रंगमंच को हर तरह से आधुनिक, समृद्ध एवं सम्पन्न नहीं बना लेते तब तक प्रसाद के नाटकों का सफलता पूर्वक प्रदर्शन किसी भी रंगमंच पर नहीं किया जा सकता। हम यह भूल जाते हैं कि सन् ४७ के पूर्व हिन्दी रंगमंच पर हम पारसी नाटक, नौटंकी, स्वांग, कठ पुतली का नाच, ख्याल, रास, और राम लीला ही खेलते रहे हैं, जो समय के साथ पुराने पड़ चुके हैं। 'प्रसाद' के नाटकों को लोक नाट्य के मंच पर नहीं खेला जा सकता। हमारी दृष्टि बदलनी ही चाहिए। रायकृष्णदास ने 'अजात शत्रु' की भूमिका में ठीक ही कहा है कि "प्रसाद के नाटक आज के नहीं कल के हैं।" मेरा विश्वास है कि वह 'कल' अब शीघ्र ही 'आज' में परिणत होने वाला है। अब लोगों का ध्यान रंगमंच की समृद्धि की ओर जाने लगा है। निस्सदेह, इसका भविष्य उज्ज्वल है।

पर एक बात और है। जहाँ तक 'प्रसाद' के नाटकों में 'दुरूह भाषा' की शिकायत का प्रश्न है, वह धीरे धीरे आप ही दूर हो जायेगी। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रसार के साथ ही यह शिकायत भी जाती रहेगी।

'चंद्रगुप्त' नाटक में राष्ट्रीय चेतना

श्री दुर्गा प्रसाद झाला एम० ए०

छायावाद काल हिंदी साहित्य में नवीन गति-पथ के मोड़ का सूचक है। कतिपय विद्वानों ने इस मात्र पलायन शील व्यक्तित्व की अभिव्यञ्जना के रूप में ग्रहण किया है, लेकिन अब इस काल के वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा यह भ्रांति क्रमशः नष्ट होती जारही है और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसका क्रान्तिकारी महत्व स्पष्ट होता जा रहा है। छायावाद काल में निश्चय ही निराशा तथा अस्थिरता मूलक पलायन की एक सामान्य तक अभिव्यक्ति हुई है लेकिन साथ ही मानवतावादी राष्ट्रीय चेतना का भी विकसित रूप इस काल में दृष्टि-गोचर होता है। यह तो स्पष्ट ही है कि इस काल में दो धारायें साथ साथ प्रवाहित होती रहीं हैं—एक तो, निराशा मूलक प्रेम गीतों का, जिसमें कि रहस्य भावना ने भी कुछ अंशों तक वाणी प्राप्त की है, और दूसरी, राष्ट्रीय चेतना की, जिसमें देश प्रेम की उदात्त अभिव्यक्ति हुई है। स्वयं छायावाद के प्रमुख कवियों में भी ये दोनों प्रवृत्तियाँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। निराला जी की 'जागो फिर एक बार', गीतिका का प्रथम गीत वर दे वीणा वादिनी ! वर दे !' तथा 'भारति, जय-विजय करें', पंत जी का 'राष्ट्र गान' एवं प्रसाद जी की 'पेशोला की प्रतिध्वनि', 'प्रलय की छाया, 'भारत गीत'—आदि में राष्ट्रीय स्वाभिमान को ही वाणी मिली है, प्रसाद जी की यह राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना उनकी कविताओं की अपेक्षा नाटकों में अधिक मुखर हुई है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में तो उनकी यह राष्ट्रीय चेतना अपने पूर्ण विकसित रूप में दिखाई देती है। आदि से अन्त तक वह राष्ट्रीय भावना से ही आच्छन्न है। उसकी विषय-वस्तु का केन्द्र बिन्दु राष्ट्रीय तत्व ही है। इस सम्बन्ध में, डा० शम्भुनाथ पाण्डेय का निम्न कथन पूर्णत युक्ति संगत है कि— 'प्रसाद जी की राष्ट्रीय भावना जितने प्रखर रूप में 'चंद्रगुप्त मौर्य्य' में व्यक्त हुई है, उतनी अन्य किसी रचना में नहीं। हम यहाँ तक कह सकते हैं कि 'चंद्रगुप्त मौर्य्य' का प्रणयन प्रसाद जी ने राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर ही किया है। प्रसाद जी की आदर्श राष्ट्रीय भावनाएँ, इसी कृति

में कलापूर्ण ढग से व्यक्त की गई है।" (देखिये चन्द्रगुप्त : अध्ययन—पृ०—११२)

प्रसाद जी ने प्रस्तुत नाटक में इस राष्ट्रीय चेतना को प्रमुखत तीन साधनों द्वारा वाणी प्रदान की है।

प्रथमत तो प्रसाद जी ने अतीत के गौरव को ऐसे भव्य रूप में स्थापित किया है, जो कि सहज ही पाठकों का मन आकर्षित कर लेता है, और उनमें राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना को जाग्रत कर देता है। प्रसाद जी ने अपने उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये भारतीय इतिहास के उन्हीं पृष्ठों को साकार रूप प्रदान किया है, जो कि ऐसी राष्ट्रीय स्फूर्ति को उत्पन्न करने में पूर्ण सक्षम है। वस्तुत वर्तमान भविष्य को रूप प्रदान करने के लिये सदैव से ही अतीत से प्रेरणा ग्रहण करता रहा है और करता रहेगा। वह अतीत का ही बेटा है, जिसका कि पालन पोषण अतीत के ही रक्त मास से होता है।

कतिपय विद्वानों का मत है कि प्रसाद जी ने अतीत को ही अपने नाटकों की विषय वस्तु बना कर अपनी पलायनवादी मनोवृत्ति का ही परिचय दिया है। लेकिन उनकी यह धारणा मूलत भ्राति पर ही आधारित है। निश्चय ही यदि कोई लेखक वर्तमान जीवन की विभीषिकाओं से पलायन कर, अतीत की स्वप्न मरीचिकाओं में अपने को भुलाने के लिए ही शरण ले तो वह श्लाघनीय नहीं हो सकता। लेकिन अगर कोई लेखक अतीत को प्रेरणा के केन्द्र-बिन्दु के रूप में ग्रहण कर वर्तमान जीवन को गति प्रदान करने के लिये ही उसका चित्रण करे तो अवश्य ही वह स्वस्थ प्रगति का विधायक ही माना जायगा। प्रसाद जी ने अतीत कालीन कथा वस्तु का चुनाव इसी दूसरे दृष्टिकोण के आधार पर किया है। डा० सत्येन्द्र ने अपने 'हिन्दी-नाटक साहित्य' शीर्षक लेख में इस तथ्य का स्पष्ट रूप से प्रकाशन किया है। वे लिखते हैं—"इतिहास को प्राणवान करके प्रसाद ने आधुनिक युग के लिये विचार सामग्री दी, उसको दिशादर्शन कराया। समस्या नाटक उन्होंने नहीं लिखे पर समस्याओं से वे पीछे नहीं हटे। ऐसी कौनसी सामयिक समस्या थी जो उनके नाटकों में शाश्वत मानवी समस्या के धरातल पर प्रस्तुत न हुई हो।" 'विसाख' की भूमिका में अपनी कृतियों के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए प्रसाद जी ने भी लिखा है—"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यत लाभदायक होता है) ···· क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे

जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं, इसमें हमें पूरा सदेह है। ...... मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।" अतएव स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने वर्तमान को दृष्टि बिन्दु में रखकर ही प्राचीन का चित्रण किया है।

उक्त दृष्टि-कोण से प्रस्तुत नाटक का अवलोकन करने पर प्रथम दृष्टि में ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी जड़ें वर्तमान का धरती पर गहरी जमी हुई हैं और भारतवासियों में राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करना ही इसका प्रमुख उद्देश्य है। अतीत तो वर्तमान का मात्र सहायक बनकर ही उपस्थित हुआ है। यह लक्ष्य अलका के चरित्र तथा उसके द्वारा गाये हुए प्रयाण गान से तो और भी स्पष्ट हो जाता है। डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के शब्दों में "उसका (अलका के) देश प्रेम में वर्तमान राजनीतिक आन्दोलन का व्यवहारिक प्रतिनिधित्व दिखाई पड़ता है।" वह एक जन नेत्री के रूप में हमारे सामने प्रकट होती है और उसके द्वारा गाया हुआ प्रयाण गान भारतीय जन आन्दोलन की मूल भाव धारा को व्यक्त करता है। इसके अतिरिक्त चंद्रगुप्त नाटक का कथानक भी स्वयं में इतना भव्य है कि वह सहज ही भारतवासियों में राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना जगा सकता है।

द्वितीयत: प्रसाद जी ने अपने नाटक में कुछ ऐसे आदर्श पात्रों का संघटन किया है, जिनका कि उदात्त चरित्र स्वयमेव राष्ट्रीय स्वाभिमान की वस्तु बन जाता है। चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिंहरण, अलका आदि पात्र इसी कोटि के हैं, जो कि अनायास ही जन-जीवन की श्रद्धा के अधिकारी बन जाते हैं और स्वयं के साथ ही राष्ट्र को भी ऊँचा उठा देते हैं। ये सभी पात्र ऐसे देश-भक्त हैं जो कि राष्ट्र के लिए अपने तुच्छ वैयक्तिक स्वार्थों को तिलाञ्जलि देकर अपने प्राणों को हथेली पर लिए सदैव ही प्रस्तुत रहते हैं, चन्द्रगुप्त अपने राष्ट्र की रक्षा के 'मरण से भी अधिक भयानक का आलिंगन करने के लिए' सदा तैयार रहता है। चाणक्य अपने कर्त्तव्य-पथ पर सुख और दुख में समान रूप से अडिग बना रहता है। वह एक महान् कर्मयोगी है। उसके हृदय में, यद्यपि सुवासिनी के प्रति, प्रणय का बीज विद्यमान है, लेकिन वह उसे कभी विकसित होने का अवसर नहीं देता है और चन्द्रगुप्त को भी अपने लक्ष्य से विरत न होने देने के लिए इन प्रणय-व्यापारों के झमेले से सावधान करता रहता है जिस समय

चन्द्रगुप्त मालविका से रण भेरी के पहले मधुर मुरली की एक तान सुनाने का आग्रह करता है उसी समय चाणक्य प्रवेश करके उससे कहता है—'छोकरियों से बातें करने का समय नहीं है, मौर्य !" सिंहरण और अलका तो भारतीय संस्कृति के प्रतीक उदात्त पात्रों के रूप में हमारे सामने आते ही हैं। वे भारतीय संस्कृति के—उदारता, सहिष्णुता, निर्भीकता, स्वार्थ त्याग आदि श्रेष्ठतम गुणों से विभूषित हैं। जिस समय सिंहरण सिकन्दर को घायल कर देता है और मालव सैनिक प्रतिशोध लेने के लिए आतुर हो जाते हैं, उस समय पर्वतेश्वर के प्रति सिकन्दर द्वारा किये हुए उपकार को याद कर, उसका प्रत्युत्तर देने के लिए वह उसके प्राणों की रक्षा करता है। सिंहरण 'मालव वीरो' को सबोधित करके कहता है—'ठहरो मालव वीरो ! ठहरो ! यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है।" और अलका अपने देश की रक्षा के लिए भाई से विद्रोह करती है, माता पिता तथा राज्य का परित्याग करती है और कानन-पथ गामिनी बनती है। इस प्रकार प्रसाद जी ने इन आदर्श पात्रों के संघटन तथा उनके चरित्र चित्रण द्वारा भारतीय संस्कृति के उदात्त तथा महत्तम रूप को ही दिखाने का प्रयास किया है कि उनकी राष्ट्रीय भावना का ही सूचक तत्व है।

इसी प्रकार चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिंहरण अलका आदि की विभिन्न उक्तियों में तो जैसे राष्ट्रीय प्रेम की भावना छलकती जान पड़ती है। इन उक्तियों में यदि एक ओर देश भक्ति की भावना है तो दूसरी ओर सामयिक समस्याओं के विरुद्ध चाणक्य की निम्न उक्ति में कितना बल है। वह सिंहरण से कहता है— तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न ? परन्तु आत्म सम्मान इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूलकर, जब तुम आर्यावर्त्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा।" सिंहरण के निम्न कथन में भी संकुचित प्रादेशिक भावना के तिरस्कार की व्यंजना है—
" परन्तु मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है। अलका तो देश के कण कण से प्यार करती है। उसके निम्न कथन में देश प्रेम की कितनी उदात्त अभिव्यक्ति है—'मेरा देश है मेरे पहाड़ हैं मेरी नदियाँ हैं और मेरे जंगल हैं। इस भूमि के एक एक परमाणु मेरे हैं और मेरे शरीर के एक एक क्षुद्र अंश उन्हीं परमाणुओं के बने हैं।'

तृतीयतः विदेशी पात्रों के मुख से भारत भूमि की महत्ता संबंधी उक्तियाँ कहलवाकर भी प्रसाद जी ने राष्ट्रगौरव की भावना को ही व्यक्त किया है।

प्रसाद जी मत है। कि भारत ही विश्व का प्रथम ज्ञान गुरु है और वही सम्पूर्ण विश्व सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र-स्थल है। अपनी 'भारतगीत' शीर्षक कविता में उन्होंने यही भाव धारा अभिव्यञ्जित की है।

ऐसी अवस्था में भारत के अन्तर्राष्ट्रीय महत्व को चित्रित करने के लिये विदेशी पात्रों द्वारा भारत के गौरव का कथन कराना उपयुक्त ही है। कार्नेलिया को तो भारत ने कण कण से अत्यधिक प्रेम है। उसके द्वारा गाया हुआ गीत 'अरुण यह मधुमय देश हमारा!' प्रारम्भ प्रेम को प्रकट कर देता है। वह भारतवर्ष से अपनी जन्म भूमि के समान ही स्नेह करती है। भारत की महत्ता से अभिभूत होकर वह चन्द्रगुप्त से कहता है—" मुझे इस देश से, जन्म भूमि के समान स्नेह होता जा रहा है।" यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम का रंगभूमि—भारत भूमि क्या भुलाई जा सकती है? कदापि नहीं। अन्य देश मनुष्यों का जन्म भूमि हैं, यह भारत मानवता की जन्म भूमि है।" विश्व विजेता महान् सिकन्दर भी भारत में आकर उसकी गौरव-गरिमा से अभिभूत हो जाता। वीर पर्वतेश्वर के शौर्य पर मुग्ध होकर वह कहता है—"मैंने एक अलौकिक वीरता का स्वर्गीय दृश्य देखा है। होमर की कविता म पढी हुई जिस कल्पना से मेरा हृदय भरा है, उसे यहाँ प्रत्यक्ष देखा।" भारत का अभिनन्दन करता है। वह कहता है—"आर्य वीर! मैंने भारत में हरक्यूलिस, एचिलिस, की आत्माओं को भी देखा और देखा डिमास्थनीज का। समवत प्लेटो और अरस्तू भी होंगे। मैं भारत का अभिनन्दन करता हूँ।" इसी प्रकार सिकन्दर का निम्न कथन भी भारत को गौरव गरिमा का ही उद्घाटित करता है। वह चाणक्य की अभ्यर्थना करते हुए कहता है—"धन्य है आर्य, मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया—हृदय देकर जाता हूँ!"

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'चन्द्रगुप्त' में राष्ट्रीय चेतना अपने अत्यन्त ही प्रखर रूप म प्रकट हुई है। यदि एक ओर उसमें अतीत कालीन भारत की स्वर्ण झाँकी प्रस्तुत की गई है, तो दूसरी ओर, वर्तमान समस्याओं का हल भी उसमें खोजा गया है। वस्तुत चन्द्रगुप्त नाटक प्रसाद जी की ज्वलंत राष्ट्रीय चेतना का अमर स्मारक है, जो कि युगों तक भारत वासियों के हृदय म देश भक्ति की भावना को जगाता रहेगा तथा उनकी तन्द्रा और सुषुप्ति को ललकारता हुआ जागरण का स्वर गुंजित करता रहेगा।

'स्कन्दगुप्त : समीक्षा'

—प्रो० मोहनवल्लभ पंत एम० ए०

नाटक—नाटक एक दृश्यकाव्य है जिसका रस उसे रंगमंच पर अभिनय किये जाते हुए देखने पर ही मिलता है। भारतीय आचार्यों ने काव्य की अपेक्षा दृश्यकाव्य को प्रधानता दी है, क्योंकि दृश्य काव्य में रसास्वादन आँखों और कानों दोनों के सहयोग से होता है—यद्यपि आँखें इस आनन्द प्राप्ति में विशेष सहायक होती हैं। दूसरे श्रव्य काव्य केवल पठित समाज की वस्तु है, पर दृश्य काव्य जनता की वस्तु है, इसीलिये भरतमुनि ने 'नाटक' को 'सार्ववर्णिक पंचम वेद' कहा है। दृश्य काव्य को 'नाट्य', 'रूप', या 'रूपक' भी कहते हैं, जिसमें सभी प्रकार के मानवों के चरित्रों और भावों का अनुकरण किया जाय उसे 'नाट्य' कहते हैं।[1] नेत्रों का विषय होने के कारण अवस्था के इस अनुकरण को 'रूप' कहते हैं।[2] रंगमंच पर अभिनय करने के लिए अनुकर्ता (नट) अनुकार्य राम, दुष्यन्त आदि का रूप धारण करके आता है, अतएव अनुकार्य का रूप धारण करने के कारण इसे 'रूपक' भी कहते हैं। पर आज दृश्यकाव्य मात्र के लिए 'नाटक' शब्द का व्यवहार होता है और यह अंग्रेजी शब्द 'ड्रामा' का पर्याय माना जाता है। 'रूपक' के १० भेदों से प्रधान 'नाटक' ही है। नाटक की वस्तु इतिहास पुराण आदि में प्रख्यात होती है, नायक 'धीरोदात्त' होता है, शृंगार या वीर दोनों में से एक रस प्रधान होता है और अन्य रस उसके सहायक होते हैं। नाटक में नाट्यशास्त्र के सभी लक्षण पाये जाते हैं और उसमें सभी रसों का समावेश हो सकता है। इसीलिए 'नाटक' को रूपक का प्रतिनिधि कहा है। अपनी इसी व्यापकता के कारण आज हम रूपकमात्र के लिये 'नाटक' शब्द का प्रयोग करते हैं।

वस्तु—नाटक के कथानक को 'वस्तु' कहते हैं। नाटक की कथावस्तु

---

१ लोकवृत्तानुकरणं नाट्यम्—(नाट्यशास्त्र १—१०६)
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्—(ना० शा० १—१०४)

२ अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।—(दशरूपक १७)

मर्यादित होती है। उसे नियत समय के भीतर ही रंगमंच पर अभिनय करके दिखाना होता है। अतः नाटककार समस्त कथावस्तु में से केवल उन्हीं प्रसंगों को चुन लेता है जो मर्मस्पर्शी होते हैं, नायक के चरित्र चित्रण में सहायक होते हैं और जो रंगमंच पर दिखाये जा सकते हैं। शेष को वह या तो अनावश्यक समझ कर छोड़ देता है या कथावस्तु की शृंखला मिलाने के लिए उनकी सूचना भर दे देता है। नाटक में प्रायः एक से अधिक कथावस्तुएँ होती हैं। उनमें से प्रधान वस्तु को 'आधिकारिक' वस्तु कहते हैं।

वस्तु—(२) प्रासंगिक—जिसको नाटक के प्रधान फल या उद्देश्य की प्राप्ति हो वह उस फल का स्वामी या 'अधिकारी' है। वह अधिकारी या प्रधान पात्र जिस कथानक में हो वही 'आधिकारिक' वस्तु है, और जो कथानक प्रसंगतः आकर मूल वस्तु के कार्य या व्यापार के विकास में सहायक होकर उसके सौन्दर्य की वृद्धि करता है, अथवा नायक के चरित्र विकास में सहायक होता है उसे 'प्रासंगिक वस्तु' कहते हैं। आधिकारिक वस्तु समस्त नाटक में व्याप्त होती है और कोई भी अंक ऐसा नहीं होता जिसमें आधिकारिक वस्तु से सम्बन्ध रखने वाली बात न हो। पर प्रासंगिक वस्तु का वर्णन प्रत्येक अंक में होना आवश्यक नहीं। प्रासंगिक वस्तु में किसी दूसरे कार्य की सिद्धि होती है और प्रसंगतः प्रधान पात्र का कार्य भी सिद्ध होता है। रावण विजय या सीता प्राप्ति रूपी फल के अधिकारी राम के चरित्र से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने वाली कथा आधिकारिक वस्तु होगी। सुग्रीव की कथा प्रसंगतः आकर कथावस्तु को आगे बढ़ाती है—यह प्रासंगिक कथा है। इस कथा में सुग्रीव की कार्यसिद्धि तो होती ही है, पर इसमें हम हनुमान, सुग्रीव और अंगद जैसे पात्र भी मिलते हैं जो प्रधान पात्र राम की कार्यसिद्धि में सहायक होते हैं। इसलिए सुग्रीव की कथा रामकथा से सम्बद्ध है। परन्तु गंगावतरण की कथा स्वतः पूर्ण कथा है और राम-कथा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। अतः रामचरित्र को लेकर लिखे गये नाटक में यह कथा प्रसंगतः भी नहीं आ सकती।

स्कन्दगुप्त की वस्तु—स्कन्दगुप्त नाटक का मुख्य उद्देश्य है 'देश को विदेशी हूणों से मुक्त करना।' इस फल की प्राप्ति स्कन्दगुप्त को होती है। उक्त फल के अधिकारी होने से वे इस नाटक के नायक हैं। अतः स्कन्दगुप्त से सम्बन्ध रखने वाली मगध की कथा 'आधिकारिक वस्तु' है। मालव की कथा प्रासंगिक वस्तु है और आधिकारिक वस्तु से घनिष्ठ रूप से सबद्ध है। मालव की वस्तु में ही नायक को बंधुवर्मा जैसा मित्र मिलता है जिसकी सहायता से वह हूणों को भगा

कर नाटक के प्रधान उद्देश्य की सिद्धि की ओर अग्रसर होता है। इसी प्रासंगिक कथा में देवसेना भी है जिसे हम नाटक की नायिका मानेंगे। इस प्रासंगिक कथा को निकाल देने से आधिकारिक वस्तु में कुछ नहीं रह जाता—वह निर्जीव हो हो जाती है। यह कथा मूल-कथा को अग्रसर करने और नायिका के चरित्र का विकास करने में सहायक होती है।

काश्मीर-कथा—अप्रासंगिक—स्कन्दगुप्त में दूसरी प्रासंगिक वस्तु है, काश्मीर की कथा। पर इस कथा को बलात् प्रासंगिक बनाया गया है, क्योंकि आधिकारिक वस्तु से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। एक सूत्र से इस मूल कथा से जोड़ने का निष्फल प्रयास किया गया है। देवसेना की हत्या के षड्यन्त्र की सूचना समय पर देकर मातृगुप्त उसे बचाने में सहायक होता है। पर इतने से कार्य के लिये एक नवीन कथा प्रसंग को ले आने का समर्थन नहीं किया जा सकता। यह कार्य मूल या प्रासंगिक कथा के किसी पात्र द्वारा सम्पादित कराया जा सकता था। इस कथा की अवतारणा का एक ही उद्देश्य प्रतीत होता है।

क्या मातृगुप्त कालिदास है?—प्रसाद मातृगुप्त को विक्रमादित्य उपाधि धारी स्कन्दगुप्त का सभाकवि कालिदास सिद्ध करना चाहते हैं। पाश्चात्य विद्वान् और उनके मतानुयायी कालिदास को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सभाकवि मानते आये हैं, क्योंकि उनके अनुसार ई० पू० ५७ के आस पास उज्जयिनी में विक्रमादित्य नाम का कोई राजा हो नहीं हुआ, न कोई ऐसी घटना ही हुई जिसके उपलक्ष में संवत् का प्रवर्तन हो सकता था। परन्तु इस मत के विपक्ष में एक अकाट्य तर्क यह था कि कालिदास के आश्रयदाता विक्रमादित्य मालवेश या उज्जयिनी नाथ थे और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य थे मगधाधिप या पाटलिपुत्राधीश। सम्भवतः स्कन्दगुप्त का मालव में अभिषेक कराकर उसे उज्जयिनी-पति बनाने के प्रयत्न में प्रसाद ने उक्त तर्क का समाधान सा खोजने का प्रयास किया है। परन्तु एक तो इस प्रकार का राज्याभिषेक एक अनहोनी और अस्वाभाविक सी घटना है, दूसरे इतिहास में भी यह घटना सन्दिग्ध ही है, तीसरे अद्यतन पुरातत्व की खोजों से अब यह सिद्ध हो चुका है कि कालिदास के आश्रयदाता विक्रमादित्य मालव गणराज्य के मुख्य थे—सम्राट नहीं। विक्रमादित्य इनका 'नाम था, गुप्तवंशी सम्राटों के समान 'उपाधि' नहीं। इन्हीं विक्रमादित्य ने ई० पू० ५७ में तात्कालीन गणराज्यों में एकता स्थापित कर प्रथम बार शकों को पराजित कर 'मालव संवत्' चलाया था जो आगे चलकर गणमुख्य के नाम से प्रसिद्ध होकर 'विक्रम संवत्' कहलाया। कालिदास इन्हीं विक्रमादित्य के समकालीन थे

विक्रमादित्य उपाधिधारी (चन्द्रगुप्त या) स्कन्दगुप्त के समय में नहीं अत केवल अपनी किसी भ्रान्त ऐतिहासिक धारणा को प्रतिपादित करने के लिए भी मूलकथा से सर्वथा असबद्ध प्रासंगिक कथा के समावेश का समर्थन नहीं किया जा सकता। मातृगुप्त को कालिदास मान कर उसे काश्मीर का सिद्ध करने में भी प्रसाद को सफलता नहीं मिल पाई। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस कथा का आधिकारिक वस्तु से कोई सम्बन्ध ही नहीं। इस प्रकार की वस्तुओं के समावेश से प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की कथावस्तु बहुत जटिल हो गई है।

स्कन्दगुप्त में बौद्ध-धर्म का स्वरूप—प्रसाद की रचनाओं में बौद्ध साहित्य और बौद्ध दर्शन का बहुत गहरा प्रभाव है। और स्कन्दगुप्त में तो यह प्रभाव बहुत ही व्यापक है। नायक स्कन्दगुप्त और महादेवी की विचारधारा में बौद्ध-दर्शन का प्रभाव स्पष्ट है। यहाँ तक कि नाटक के अन्त में देवसेना भी इस दर्शन से प्रभावित होकर कह बैठती है—'सब क्षणिक सुखों का अन्त है, जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए।' इस नाटक में बौद्धधर्म का उज्ज्वल आदर्श और ह्रासोन्मुख रूप दोनों दिखाई पड़ते हैं। गुप्त-साम्राज्य के उत्थान के दिनों में बौद्धधर्म का क्रमशः ह्रास हो रहा था। बौद्धधर्म की सरलता उपहास्य धार्मिक आडंबर में परिणत हो गई थी। पर वह युग धर्मान्धता का नहीं था। स्कन्दगुप्त में बौद्धों और ब्राह्मणों के व्यापक वैमनस्य का जो चित्रण किया गया है वह वास्तविक नहीं है। प्रसाद अपने युग के हिन्दू-मुस्लिम कलह से प्रभावित थे। अतः उसी धारणा से उन्होंने बौद्ध ब्राह्मण कलह का चित्रण किया है। किन्तु इतिहास ऐसा नहीं कहता। एक ही परिवार में शैव और बौद्ध दोनों पाये जाते थे। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्धधर्म एक ओर पतनोन्मुख हो रहा था, दूसरी ओर उसका उन्नत और उज्ज्वल रूप भी वर्तमान था। प्रपंचबुद्धि पतनोन्मुख रूप का प्रतीक है। वह उन असद्वृत्ति के पोषक भिक्षुओं में से है जिन्होंने अपनी विकृति से बौद्धधर्म को भी कलंकित कर दिया। उसमें महानता और त्याग का सर्वथा अभाव है। धार्मिक वितंडावाद का वह पोषक ही नहीं प्रोत्साहक भी है। उसके धार्मिक सिद्धान्त स्वार्थ एवं विद्वेष-गर्भित हैं। विचारों की मलिनता से उसके कार्यों में भी मलिनता आ गई है। वह स्वयं मदिरा पीता है और पिलाता है। करुणामूर्ति गौतम का अनुयायी होकर भी वह हत्या कराने को, श्मशान में नरबलि देने को, उद्यत रहता है। अनन्तदेवी और भटार्क जैसे क्षुद्र प्रकृति के

व्यक्तियों को अपने तान्त्रिक प्रयोगों से आतंकित कर वह उनके साथ राजनीतिक प्रपंच रचता है। शर्वनाग के शब्दों में 'हत्या के द्वारा हत्या का निषेध करने वाला'—यथानाम तथा गुणा—वाला यह प्रपंचबुद्धि बौद्धधर्म का पतनोन्मुख रूप ही प्रदर्शित करता है। बौद्धधर्म के उन्नत और उज्ज्वल रूप का प्रतीक प्रख्यात कीर्ति है। उसके जीवन का ध्येय संसार में रहकर विश्व-कल्याण करना है। उन त्यागशीलों में उसकी गणना की जा सकती है जो मानव हित के लिए अपने प्राण अर्पण करने को सदा तत्पर रहते हैं। प्रलोभन और धार्मिक उन्माद उसे विचलित नहीं कर सकते। ब्राह्मण और बौद्ध पशुबलि करने एवं रोकने के लिए अकारण ही हिन्दू-मुसलमानों के समान झगड़ते हैं, तब इन धर्मवादियों की आँखें खोलने के लिए प्रख्यात कीर्ति अपने प्राणों को बाजी लगाकर त्याग का अनुपम आदर्श उपस्थित करता है। बौद्धधर्म के प्रचार के लिए विदेशियों द्वारा सहायता और धन का लोभ दिये जाने पर वह अस्वीकार कर देता है। रुपये के लोभ में वह भारत को आक्रमणकारियों के हाथ बेचने को तैयार नहीं। "सेनापति समस्त उत्तरापथ का बौद्ध संघ जो तुम्हारे उत्कोच के प्रलोभन में भूल गया था वह अब न होगा"—प्रख्यात कीर्ति की यह उक्ति उसके चरित्र की दृढ़ता सूचित करती है। ऐसे ही सच्चे श्रमणों के द्वारा समय समय पर संघ की मलिनता बहुत कुछ धुलती रही है।

स्कन्दगुप्त में—(१) नृत्य—नृत्य प्रसाद के नाटकों में अधिक नहीं हैं किंतु हैं अवश्य। जो हैं वे ठीक समयानुकूल तो नहीं कहे जा सकते, किन्तु किसी सीमा तक उचित हैं। 'अजातशत्रु' में मागधी के अतिरिक्त प्रसाद के पात्र स्वयं नृत्य नहीं करते। नृत्य केवल नर्तकियाँ करती हैं। सम्राट कुमारगुप्त पारसीक नर्तकियों का नृत्य देखते हैं। वह नृत्य सम्राट की विलासप्रियता को देखते हुए उचित ही है। दरबार में भी मनोरंजन की परिपाटी होती ही है भटार्क अपने शिविर में नर्तकियों का नृत्य देखता है। युद्धक्षेत्र संगीत के उपयुक्त स्थल तो नहीं पर इससे भटार्क के चरित्र पर—उसकी विलासिता पर—प्रकाश पड़ता है और युद्ध की भयंकरता में कोमलता का समावेश हो जाता है। इस प्रकार प्रसाद ने नर्तकियों का समावेश कर यथास्थान नृत्य का आयोजन भी कौशल से कर दिया है।

(२) गीत—संगीत का प्रयोग प्राचीन काल से दर्शकों की मनोरंजनी वृत्ति की तृप्ति के लिये होता आ रहा है। किन्तु प्रसाद ने अपने नाटकों में जो गीत दिये हैं वे किसी विशेष उद्देश्य से नहीं। इनका प्रवेश एक तो काव्य प्रकृति-वश है,

दूसरे अनुकरणमान, और तीसरे निरुद्देश्य एवं जानबूझ कर हुआ है। यह बात भी विचारणीय है कि नाटकीय प्रतिमा से उनकी काव्य प्रतिमा का विकास पहले ही हो चुका था और अच्छी तरह हो चुका था। अतः कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद अपने सुन्दर गीतों को स्थान देने के ही लिए कथावस्तु को भी उसके अनुकूल कर डालते हैं। गीत कथावस्तु के प्रवाह में सहायक होने के बदले कथा वस्तु ही गीतों के प्रवाह की ओर अग्रसर होने लगती है। उनके प्रत्येक नाटक में आए हुए कुछ गान इतने सरस, भावपूर्ण, हृदयग्राही एव तल्लीन करने वाले हैं कि हम भूल जाते हैं कि नाटक की मूल कथा से उनका कुछ सम्बन्ध भी है या नहीं। हाँ, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त नाटकों के गीत उनके उपयुक्त हैं। स्कन्दगुप्त में १६ गीत हैं। उनमें से कुछ प्रार्थनाएँ हैं, कुछ नेपथ्य से गाये जाते हैं कुछ नर्तकियों के मुख से और कुछ स्वतन्त्र। देवसेना के गीत उसकी उसी तात्कालिक मनोवृत्ति पर प्रकाश डालते हैं और उसके स्वभाव क अंग हैं। एक गीत विजया ने भी गाया है जो उसके चरित्र एव मनोवृत्ति के विपरीत एव अस्वाभाविक है। प्रसाद के कुछ गीत अत्यन्त भावपूर्ण हैं। देवसेना के गीत—'भरा नैनों में मन में रूप', 'घने प्रेम-तरु तले', और 'आह वेदना मिली विदाई', एवं देवकी देवी, का 'पालना बनें प्रलय की लहरें' इसी प्रकार के गीत हैं जो गायिका की मानसिक स्थिति पर भी प्रकाश डालते हैं। मातृगुप्त का हिमालय के आगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार', यह उद्बोधन-गीत स्थायी साहित्य की वस्तु है। पर 'संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना' ऐसे भी कुछ गीत हैं जिनका भाव न गायक (नट) ही समझ पाता है न दर्शक ही। यहाँ एक बात ध्यान देने की है। नाटक में गीतों की संख्या ४५ से अधिक होने से नाटक के कथाप्रवाह में बाधा पड़ती है, और गीत का विस्तार तो उसकी सरसता को नष्ट कर देता है।

(३) हास्य—हास्य की ओर प्रसाद की प्रवृत्ति नहीं थी। अतः इसकी सुन्दर व्यंजना इनके नाटकों में खोजना व्यर्थ है। व्यग्य की तीव्र मार्मिकता तो उनमें कहीं कहीं मिल भी जाती है, किन्तु वह व्यग्य गभीर होता है—हास्योत्पादक नहीं। हास्य का तो सर्वथा अभाव ही समझना चाहिए। हाँ कहीं कहीं शिष्ट सदाचार-पूर्ण समयोचित अकलुषित विनोद अवश्य है। हास्य में प्रायः कल्पना को स्थान नहीं मिलता। अत. कल्पना के धनी प्रसाद में यदि हास्य की रेखा क्षीण दिखाई पड़े तो आश्चर्य नहीं। स्कन्दगुप्त नाटक म प्रसाद ने जो हास्य-योजना की है वह दो पात्रों पर अवलंबित है—लङ्का के युवराज कुमार धातुसेन और विदूषक मुद्गल कुमारगुप्त की सभा में धातुसेन हँसाने का प्रयत्न करता है,

पर सफलता नहीं मिलती। कोष्ठक में 'हँसते हुए' लिखने से किसी को हँसी आ जाती हो तो बात दूसरी है। मुद्गल विदूषक है। वह परंपरा मुक्त भोजन-भट्टता, प्रेम, विवाह आदि को लेकर हँसी उत्पन्न करने की चेष्टा करता है। उसकी 'अक्षय मंजूषा' (पेट) और 'पाकशाला पर चढ़ाई' करने की बात से शायद हँसी आ भी जाय, परन्तु यहाँ भी प्रसाद की विद्वत्ता और गम्भीरता उसे आ घेरती है। 'न्याय', 'आप्त वाक्य', 'तर्क शास्त्र' का भार उस हास्य का गला दबा देता है। यह कहने में संकोच नहीं कि प्रसाद अपने नाटकों में हास्य-योजना करने में असफल ही रहे हैं।

स्कन्दगुप्त की अभिनेयता—नाटक एक दृश्य काव्य है। विश्वनाथ ने अभिनेयता को दृश्यकाव्य का प्रधान लक्षण माना है।[१] सामाजिक को रस-मग्न करने के लिए वेषभूषा, वाणी, कृत्य और मनोभाव इन चारों का अनुकरण या अभिनय आवश्यक है। अतः नाटक अभिनेय है या नहीं इस बात का विचार करने के लिए हम निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

(१) भाषा—सबसे पहले हम भाषा को लेते हैं नाटक एक सार्वजनिक वस्तु है। अतः उस नाटक के संवादों की भाषा सुबोध, भाव प्रकाशन में समर्थ और जन सामान्य की समझ में आने योग्य होनी चाहिए। नाटक में कृत्रिम और लदी हुई भाषा का सबसे बुरा परिणाम यह होता है कि उससे वस्तु और व्यापार निर्बोध हो जाते हैं और इसी कारण अभिनेता अभिनय में स्वाभाविकता नहीं ला सकता। भाषा यदि स्वाभाविक एवं व्यावहारिक होगी तो अभिनेता को भी अपना अभिनय करने में सरलता रहेगी। ऐसा न हो कि एक ओर तो रंगमंच पर पात्र अभिनय कर रहे हैं, दूसरी ओर दर्शकों को बार बार कोष टटोलना पड़ रहा है अथवा मित्रों से शब्दार्थ या भाव पूछने के लिए कानाफूँसी हो रही है। इस प्रकार दर्शक नाटकों का पर्याप्त आनन्द उठाने से वंचित रह जाता है। प्रसाद की भाषा पग पग पर क्लिष्ट एवं दुरूह है। यदि अभिनेता प्रसाद की भाषा का एक एक शब्द कंठस्थ कर लेता है तो अभिनय में कृत्रिमता आ जाती है। यदि वह अभिनय की ओर ध्यान देता है तो भाषा प्रसाद की नहीं रहने पाती। प्रसाद नाटककार के अधिकार से कह सकते हैं—'दर्शक अयोग्य है, मेरी कला को समझने की क्षमता उनमें नहीं। पर दर्शक भी यह कह सकता है—'आप कवि भले ही हैं, पर अभिनेय नाटक लिखने की क्षमता आप में नहीं,'

१. दृश्य तत्राभिनेय स्यात्—(दशरूपक)

और दर्शक का यह कहना उचित ही होगा। नाटक की भाषा में गूढ़ता नहीं होनी चाहिए[१] क्योंकि न प्राय नट ही विद्वान् होते हैं न सामान्य दर्शक ही। प्रसाद की क्लिष्ट, और पात्रानुसार न होने से अस्वाभाविक, भाषा क्रिया व्यापार हीन है। स्कदगुप्त, मातृसेन देवसेन, विजया, अनन्तदेवी आदि की बात छोड़िये—हूँमोड मुद्गल, सैनिक शर्वनाग, रामा, यहाँ तक कि विदेशी हूण खिंगिल आदि तक के मुख में भी सस्कृत-गर्भित हिन्दी ठूँसी जा रही है। स्कदगुप्त नाटक की भाषा अन्य सभी नाटकों से दुरूह है।

(२) भाव—भाषा क्लिष्टता के साथ साथ भावों की जटिलता और गभीरता से भी नाटककार को बचना चाहिए। गभीर दार्शनिक तत्वों के लिए या जटिल भावों की गुत्थी सुलझाने के लिए नाटक देखने कोई नहीं जाता। मनोरजन के निमित्त ही नाटक देखने जाता है। यदि नाटक में भी किसी गभीर तत्व को लेकर पात्र उसकी आलोचना करने लग जॉय तो दर्शकों का ऊब जाना स्वाभाविक ही है। आध्यात्मिकता का समावेश और भावों की जटिलता नाटक को नीरस बना देते हैं। प्रसाद के पात्र कभी दार्शनिक मीमासा करने लगते हैं और कभी कवित्वमय उद्गार अभिव्यक्त करने लगते हैं। मातृगुप्त का कवित्व, प्रख्यात-कीर्ति का आत्मवाद अनात्मवाद का वितडावाद, स्कदगुप्त की दार्शनिक उक्तियाँ, जयमाला का व्यष्टि समष्टिवाद का पचड़ा, आदि सामाजिक के लिए अर्थहीन एव ग्लानिकर हो जाते हैं। इन प्रसगों में क्रिया-व्यापार के अभाव में अभिनेता भी ठीक से अभिनय नहीं कर सकता।

(३) सवाद—सवाद नाटक के प्राण होते हैं। वस्तु को गतिशील बनाने और पात्रों के चरित्रचित्रण करने के लिए सवाद ही नाटककार के पास एकमात्र साधन है, और सवाद की स्वाभाविकता, सरसता और व्यावहारिकता पर ही वाचिक अभिनय की सफलता भी निर्भर है। भाषा की कृत्रिमता, भावों की जटिलता, विचारों की गहनता, एव अनावश्यक रूप से लम्बे सवाद और लम्बी लम्बी स्वगतोक्तियाँ या वक्तृताएँ व्यवहारविरुद्ध होने से नीरस एव अरुचिकर हो जाती हैं। रगमच पर एक पात्र का भाषण देते जाना और दूसरों का निश्चेष्ट सुनते जाना अखरने लगता है। स्कन्दगुप्त नाटक में ऐसे लम्बे भाषण और सवाद काफी हैं स्कदगुप्त, विजया, मातृगुप्त, धातुसेन की कुछ स्वगतोक्तियाँ, चौथे अक में ब्राह्मण, धातुसेन और प्रख्यातकीर्ति का नीरस सवाद, धातुसेन का

१. मवेदगूढशब्दार्थं। (साहित्यदर्पण)

का आवश्यकता से अधिक लम्बा भाषण—ये सब निर्व्यापार होने से अन-भिनेय हैं।

(४) कथावस्तु—अभिनेय नाटक की कथावस्तु सुस्पष्ट होनी चाहिए। दर्शक इस गुत्थी को सुलझाने में ही न लग जाँय कि 'आखिर कथा है क्या इस नाटक में,' अर्थात् नाटक में प्रासंगिक कथाएँ बहुत अधिक या दूसरी से उलझी हुई न हों। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की कथावस्तु समसामयिक प्रधान, राज्यों की घरेलू राजनीति, उनके पारस्परिक सम्बन्ध और कुचक्रों के कारण जटिल हो जाती हैं। स्कन्दगुप्त नाटक में मालव और कश्मीर के प्रासंगिक कथानकों के कारण आधिकारिक वस्तु के प्रवाह में विघ्न पड़ता है। और इस वस्तु जटिलता का एक स्वाभाविक एवं अनिवार्य परिणाम होता है पात्रबहुलता। और पाठकों एवं दर्शकों को भी बार-बार पात्रसूची उलटनी पड़ती है। पात्र-बहुलता भी नाटकों के अभिनय में एक बड़ी बाधा है।

(५) विस्तार—नाटक इतना लम्बा न हो जाय कि दर्शक ऊब जाँय। ध्रुवस्वामिनी और राज्यश्री को छोड़कर प्रसाद के सभी ऐतिहासिक नाटक लम्बे हैं। स्कन्दगुप्त नाटक के अभिनय में पाँच घंटे लग जायेंगे। पर आज के युग में नाटक देखने का समय है २ २½ घंटे, अधिक से अधिक ३ घंटे। प्राचीन नाटक १० १० अंकों तक के होते थे। किन्तु तब एक दिन में एक ही अंक खेला जाता था। आज इस संघर्ष और उद्योग के युग में न तो एक ही दिन में ५-५ घण्टे बैठ कर लम्बे नाटक देखने का अवकाश दर्शकों को है न एक ही नाटक को क्रमशः कई दिनों तक लगातार देखने का ही धैर्य उनमें हो सकता है। नाटकों का स्थान आज जो चित्रपट छीन रहे हैं, उसके कई कारणों में से एक यह भी है।

(६) दृश्य योजना—अभिनेय नाटकों में दृश्यों की समुचित योजना का भी ध्यान रखना पड़ता है। एक अंक में कई दृश्य होते हैं। उन दृश्यों की योजना के लिये पर्दों का प्रयोग किया जाता है। दृश्य दो प्रकार के होते हैं—(१) राजसभा, अन्तःपुर, न्यायालय, बन्दीगृह, कार्यालय जैसे 'विशेष' दृश्यों के केवल पर्दे के सहारे दिखाये जाते हैं। विशेष दृश्यों की योजना के पूर्व रंगमंच के अग्रभाग में सामान्य दृश्य चलते हैं और पर्दे के भीतर विशेष दृश्य तैयार किया जाता है, विशेष दृश्य पर्दा उठाकर सामने लाया जाता है और पर्दा गिरा कर इसकी समाप्ति की जाती है जिस पर पुनः एक सामान्य दृश्य का अभिनय होता है। एक

के बाद दो विशेष दृश्य दिखलाना रंगमंच की दृष्टि से सुविधाजनक नहीं हो सकता। दृश्ययोजना की दृष्टि से भी स्कंदगुप्त अभिनेय नहीं कहा जा सकता। दूसरे अंक में बन्दीगृह के दृश्य के बाद ही अवंती दुर्ग की योजना करना, तीसरे अंक में श्मशान के दृश्य के बाद पर्दा गिराते ही मगध में अनन्त की गोष्ठी का दृश्य दिखाना असुविधाजनक होगा। सामाजिक को अगले दृश्य के लिये प्रतीक्षा करनी पड़ेगी इसी चौथे अंक में प्रकोष्ठ के बाद ही न्यायाधिकरण के दृश्य का योजना करना भी विशेष सुविधाजनक न होगा। इनके अतिरिक्त कुभा का बाँध, भयंकर बाढ़ एवं दृश्यों की योजना भी संभव नहीं।

उपर्युक्त कसौटियों में कसने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि क्लिष्ट और कृत्रिम भाषा, कवित्वमय भाव, जटिल दार्शनिक विचार, क्रिया व्यापारहीन संवाद, असंबद्धवस्तु, पात्रबहुलता, नाटक का विस्तार, हास्य का अभाव एवं दृश्य-योजना की त्रुटि के कारण स्कंदगुप्त अनभिनेय है। सच तो यह है कि रंगमंच से सर्वथा अनभिज्ञ प्रसाद ने रंगमंच की दृष्टि से नाटकों का प्रणयन किया ही नहीं है।

'अजातशत्रु' में काव्य एवं दर्शन

—प्रो० इन्द्रपाल सिंह 'इन्द्र' एम० ए० (हिन्दी, सं०), 'साहित्यरत्न'

हिन्दी नाट्य साहित्य में प्रसाद का अविर्भाव माँ भारती का प्रसाद ही कहा जा सकता है। उन्होंने अपनी अन्वेषिणी प्रभा, मननशील मनीषा, चिन्तनशील मेधा, प्रभविनी प्रतिभा एवं भावुकतामयी कल्पना द्वारा अतीत के अन्तस में पैठकर भारतीय संस्कृति रत्न को खोज निकाला और उससे माँ भारती का अभिषेक किया। उन्होंने नाटकों द्वारा न केवल सांस्कृतिक चेतना को उन्मेषित किया अपितु वर्तमान के लिए जागरण का संदेश भी दिया। अपनी नाट्य कला में पौर्वात्य और पाश्चात्य का संतुलित समन्वय करके हिन्दी को अपनी कला का वरदान दिया। उनके नाटकों में जहाँ इतिहास की यथार्थता, संस्कृति की भव्यता, चरित्रों की आदर्शमयता एवं शैली की सुष्ठुता दृष्टिगत होती है, वहाँ काव्य की सरसता और दर्शन की गम्भीरता भी है। उनके नाटककार के साथ उनका कवि तथा दार्शनिक भी सजग रहा है। यदि यह कहा जाय कि प्रसाद यथार्थतः कवि हैं और उसके अनन्तर नाटकार तो अत्युक्ति न होगी। नाटकार में कवि और दार्शनिक सामञ्जस्य आलोचकों को उनका दोष प्रतीत हुआ है, किन्तु यही वास्तव में उनका गुण है। इन्हीं के कारण प्रसाद के नाटककार का अपना वैशिष्ट्य है, जो उन्हें अन्य नाटकारों से पृथक् करके शीर्ष विन्दु पर अधिष्ठित करता है। प्रस्तुत निबन्ध में हम उनके अजातशत्रु में इन्हीं दोनों तत्वों को देखना है।

भारतीय नाट्याचार्यों के अनुसार नाटक के तीन तत्वों में से 'रस' का प्रमुख स्थान है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में रस का विस्तृत विवेचन किया है। नाटककार पात्रों के चरित्र चित्रण द्वारा परिस्थितियों के परिवेश में रस सञ्चार की चेष्टा करता है। किन्तु वहाँ उसका कवि सांकेतिक रूप से नहीं। 'अजातशत्रु' में प्रसाद का कवि प्रच्छन्न होकर अधिक मुखर है। यद्यपि चरित्राङ्कन द्वारा भी रस-परिपाक करने की दृष्टि से प्रसाद पूर्ण सफल हैं तथापि उन्होंने रस की धारा प्रवाहित करने के निमित्त अपने कवि को जागरूक रक्खा है। 'अजातशत्रु' में बिम्बसार, गौतम और वासवी का चरित्र शान्त रस में सामाजिक को निमग्न

करता है तो मल्लिका का चरित्र करुणाप्लुत करता है। यदि अजातशत्रु और विरुद्धक के चरित्र में वीर रसाभास है तो बन्धुल के चरित्र में वीर रस की ओज स्विनी धारा है। यदि मागन्धी के चरित्र में शृंगार का वासना जनित कलुष है तो पद्मावती के चरित्र में प्रेम की पावनता और पतिव्रत की दिव्य आभा है। यदि प्रसेनजित के क्रोध में रौद्र की व्यञ्जना है तो वसन्तक की उक्तियाँ हास्य से ओत प्रोत हैं। समग्र रूप से दृष्टिपात करने पर हम देखते हैं कि 'अजातशत्रु' में वीर शान्त एव करुण रस की त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है। नाटक क अन्त में पाठक या दर्शक को करुणा की भूमिका में शान्त रस के आनन्द की अनुभूति होती है। प्रभाव की दृष्टि से 'अजातशत्रु' का अगी रस शा त ही प्रतीत होता है। किन्तु नाट्याचार्यों ने नाटक म अगी रस के रूप म वीर, शृंगार और करुणा की स्थिति को ही स्वीकार किया है और इ हीं रसों में साधारणीकरण की क्षमता सिद्ध की है। किन्तु प्रसाद के नाटक अभिनेय की अपेक्षा पाठ्य अधिक हैं। 'अजातशत्रु' भी इसी कोटि का नाटक है। अतएव उसम शान्त रस को अगी रूप में स्वीकार किया जा सकता है। आलोचकों ने अजातशत्रु को नायक मानकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि नाटक का प्रधानरस वीर है। अजातशत्रु का प्रयत्न उत्साह-पूर्ण है। राज्य प्राप्ति उसका लक्ष्य है। बिम्बसार आलम्बन काशी का उपद्रव उद्दीपन, अ ातशत्रु की चेष्टायें-युद्ध सज्जा, परिषद् की कार्य वाही, वासवी और बिम्बसार पर नियन्त्रण आदि-अनुभाव हैं। इस प्रकार वीर रस की पुष्टि होती है। इस सम्बन्ध म हमारी दो आपत्तियाँ हैं। प्रथम तो यह कि अजातशत्रु के प्रयत्न में उसका स्वाभाविक उत्साह नहीं झलकता। उसके मूल में देवदत्त की दुरभि सन्धि और छलना की अवाञ्छनीय राज्यलिप्सा है। अतएव अजातशत्रु का यह कार्य अशिष्टता और उद्दण्डता की सीमा में आ जाता है। इसी कारण वह सामाजिकों की सहानुभूति अर्जित नहीं कर पाता। सामाजिकों का सहानुभूति निरन्तर बिम्बसार और वासवी के प्रति रहती है। अत अजातशत्रु के उत्साह म साधारणीकरण का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। उसके विपरीत एक क्षोभ ही होता है। दूसरी आपत्ति यह है कि अजातशत्रु का प्रयत्न तो द्वितीय अंक में ही समाप्त हो जाता है। तृतीय अंक में तो उसके उत्साह का ह्रास ही दिखाई पड़ता है और उसका वीरोत्साह शृंगार का संचारी बन जाता है। अत एव वीर रस को अगी रस कैसे माना जा सकता है। वास्तव में प्रसाद ने 'अजातशत्रु' में पाश्चात्य नाट्य प्रणाली के अनुसार अन्तर्द्वन्द्व को प्रमुखता

प्रदान की है। इस कारण रस परिपाक की ओर उनका ध्यान कम गया है और वे रस की स्पष्ट और निर्दोष धारा प्रवाहित नहीं कर सके हैं।

यद्यपि 'अजातशत्रु' की रस योजना में एक रसता एवं प्रभाव की समन्विति का अभाव है तथापि प्रसाद का कवि उसमें अपनी पूर्ण सरसता के साथ अभिव्यक्त हुआ है। 'अजातशत्रु' के गीतों में हृदय को स्पर्श करने की पूर्ण क्षमता है और उनमें जो रस की धारा प्रवाहित होती है वह किसी भी मुक्त प्रगीत काव्य से कम नहीं है। उदयन की उदासीनता और अपनी अवहेलना से व्यथित पद्मावती के इस गीत में पीड़ा की कैसी कसक है—

> मीड़ मत खिंचे बीन के तार !
> निर्दय उँगली ! अरी ठहर जा,
> पल भर अनुकम्पा से भर जा,
> यह मूर्छित मूर्छना आह सी—
> निकलेगी निस्सार।

गीत के एक एक शब्द से वेदना टपकती है और सामाजिक के हृदय में एक टीस सी उठती है। इसी प्रकार असफलताओं के भार से आक्रान्त तथा मल्लिका की परिचर्या से भ्रान्त विरुद्धक की मनोदशा को व्यंजित करने वाले इस गीत में आशा का मरघना झलकती है—

> "अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलम्ब,
> सुखी सो रहे थे इतने दिन, कैसे हे नीरद, निकुरम्ब,
> बरस पड़े क्यों आज अचानक सरसिज कानन का संकोच
> अरे जलद में भी यह ज्वाला ! झुके हुए क्यों इसका सोच ?"

और यदि प्रकृति के माध्यम से प्रेम की मादकता का आस्वादन करना हो तो इस गीत की स्वर लहरी में अवगाहन कीजिये।—

> "चला है मथर गति से पवन रसीला नन्दन कानन का।
> नन्दन कानन का, रसीला नन्दन कानन का ॥
> फूलों पर आनन्द भैरवी गाते मधुकर वृन्द,
> बिखर रही है किस यौवन की किरण, खिला अरविन्द
> ध्यान है किसके आनन का।
> नन्दन कानन का रसीला नन्दन कानन का ॥"

कहने का तात्पर्य यह है कि अजातशत्रु के गीतों में माधुर्य प्रवाह एवं सर

मता की त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है और वे किसी भी उत्तम कोटि के गीतिकाव्य की श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

गीतों में ही नहीं, अपितु नाटक के गद्यमय संवादों में भी प्रसाद के कवि की झाँकी मिलती है। पात्र जहाँ कहीं भी भावावेश में आता है, वहीं कविता का स्फुरण हो जाता है। उस समय पात्र स्वाभाविक वार्तालाप का परित्याग करके इस भूतल से उठकर कल्पना लोक में पहुँच जाता है और उसकी वाणी काव्य की जननी बन जाती है। मागन्धी के प्रेम में उन्मत्त विलासी उदयन की इस युक्ति में शृंगार की रसमयता देखिये—'मुझे अपने मुख चन्द्र को निर्निमेष देखने दो कि मैं एक अतीन्द्रिय जगत की नक्षत्र मालिनी निशा को प्रकाशित करने वाले शरतचन्द्र की कल्पना करता हुआ भावना की सीमा को लाँघ जाऊँ, और तुम्हारा सुरभि-निःश्वास मेरी कल्पना का आलिंगन करने लगे।'

कहीं कहीं कवि ने संवादों में काव्य-तत्व का इतना अधिक समावेश किया है कि उनमें गद्य काव्य का सा आनन्द प्राप्त होता है। विरुद्धक के इस कथन में प्रतीकात्मकता शैली में कवि ने अपनी प्रतिभा एवं कल्याण शक्ति द्वारा काव्य की अजस्र धारा प्रवाहित की है—"मैंने अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्धरात्रि के आलोकपूर्ण नक्षत्र लोक से कोमल हीरक कुसुम के रूप में आते देखा। विश्व के असंख्य कोमल कण्ठ की रसीली तानें पुकार बनकर तुम्हारा अभिनन्दन करने, तुम्हें सँभालकर उतारने के लिये, नक्षत्र लोक को गई थीं। शिशिर कणों से सिक्त पवन तुम्हारे उतरने की सीढ़ी बना था, उषा ने स्वागत किया, चाटुकार मलयानिल परिमल की इच्छा से परिचारक बन गया, और बरजोरी मल्लिक के एक कोमल वृन्त का आसन देकर तुम्हारी सेवा करने लगा।" 'अजातशत्रु' में केवल उद्धृत अंशों में ही काव्य नहीं अपितु अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ कवि की भावुकता झलकती है। श्यामा के कथन में वासना का उद्दाम वेग है तथा वाजिरा के कथन में प्रेम की मन्दाकिनी प्रवाहित हो रही है और मल्लिका के कथन में ओज की स्फूर्ति और करुणा की शीतल धार है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'अजातशत्रु' में प्रसाद का कवि उनके नाटककार की अपेक्षा अधिक मुखर है।

कवि की ही भाँति उनका दार्शनिक भी 'अजातशत्रु' में अपनी प्रज्ञा के साथ अधिष्ठित है। प्रसादजी का जीवन ही दर्शन की गम्भीरता से पूर्ण था। वैसे तो उन्होंने सभी दर्शनों का अध्ययन किया था और उपनिषदों का मंथन किया था, जिनसे वे 'कामायनी' जैसा रत्न खोज लाये किन्तु उनको बौद्ध दर्शन

का तथा शैवों के प्रत्यभिज्ञादर्शन ने अधिक प्रभावित किया था। बौद्ध दर्शन की करुणा और शैवदर्शन की आनन्द भावना के ताने बाने से ही प्रसाद के साहित्य का निर्माण हुआ है। अजातशत्रु में उनकी दोनों ही दार्शनिक भावनाओं का स्वरूप दृष्टिगत होता है। अजातशत्रु का कथानक बौद्ध युगीन घटनाओं पर आधारित है। इसी कारण उसमें बौद्ध की करुणा का प्रसार ही अधिक है। गौतम के शब्दों में भू से गगन तक करुणा का ही साम्राज्य है। गोधूली की राग रंजित, लालिमा उषा की स्निग्ध स्मिति शिशु की मधुर मुसकान तारागणों की निर्निमेष उज्ज्वलता में करुणा ही की विभूति निहित है। वास्तव में करुणा मानव जीवन का दिव्य वरदान है जो व्यक्तियों के जीवन का पाथेय है मुक्तियों के सन्तोष का सम्बल है। मानव के अन्तस को द्रवित करके उसे प्रेम की पावन धारा में परिवर्तित करके विश्व मैत्री के सागर में विलीन करने वाली करुणा ही तो है। इसीलिए अजातशत्रु में स्थान स्थान पर करुणा का सन्देश मिलता है। करुणा के अवतार गौतम ही नहीं अपितु नाटक के अन्य पात्र भी करुणा को महत्व प्रदान करते हैं। प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में ही पद्मावती कुणीक की निष्ठुरता को लक्षित करते हुए कहती है 'मानवी सृष्टि करुणा के लिये है, यों तो क्रूरता के निदर्शन हिंस्र पशु, जगत में क्या कम हैं" मल्लिका का तो समस्त चरित्र ही करुणा की भावभूमि पर आधारित है। करुणा उसे वैधव्य की वेदना को वहन करने की शक्ति देती है, आतिथ्य के कर्तव्य की प्रेरणा देती है, पीड़ितों की सेवा का धैर्य देती है और विरोधियों को भी अपने स्नेहाञ्चल की छाया देने का बल देती है। करुणा की उस मूर्ति के सम्पर्क में आते ही निष्ठुरतम मानव का कलुष भी धुल जाता है। अजात को उसकी यह शिक्षा पद्मा के शब्दों की पुनरावृत्ति होने पर भी परिस्थिति की अनुकूलता के कारण महत्वपूर्ण है—' उपकार, करुणा, समवेदना और पवित्रता मानव हृदय के लिये ही बने हैं।" प्रेममयी वाजिरा जिसके यौवन का अभी प्रभात ही है, करुणा की छाया में ही अपने प्रेम वृन्त का विकास चाहती है। उसका स्वगत गीत इसी भावना पर केन्द्रित है।—

"हमारे जीवन का उल्लास, हमारे जीवनधन का रोष।
हमारी करुणा के दो बूंद, मिले एकत्र, हुआ सन्तोष।"

यही नहीं, अपितु वह स्पष्ट कहती है—, "बस तुम हमें एक करुण दृष्टि से देखो और मैं कृतज्ञता के फूल तुम्हारे चरणों पर चढ़ाकर चला जाया करूँगी।" इस प्रकार 'अजातशत्रु' में यही करुणा सर्वत्र दिखाई देती है और

अन्त में गौतम का अभय हाथ करुणा का ही प्रतीक है, जिसकी छाया में दुख भी सुख हो जाता है।

करुणा की भावना को बल मिलता है दृश्यों की नश्वरता से। इसी से प्रसाद की दार्शनिक भावना का मूल है जगत का मिथ्यात्व। किन्तु प्रसाद का मिथ्यात्व शंकर का मायावाद नहीं है। वह केवल भौतिक सुखों की निस्सारता को ही उद्घोषित करने वाला है और जगत के माध्यम से ही आत्म-तत्व के बोध की प्रेरणा देता है। यदि ऐसा न होता तो वह करुणा और सहानुभूति का जनक न बनकर विराग का कारण होता। इस मिथ्यात्व की घोषणा भी हमें 'अजातशत्रु' में स्थान स्थान पर मिलती है। प्रथम अंक में द्वितीय दृश्य में बिम्बसार की यह उक्ति इसी मिथ्यात्व पर केन्द्रित है। प्रसाद की दार्शनिकता का यह उत्कृष्ट निदर्शन है—'आह, जीवन की क्षणभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे हुए अदृष्ट के लेख जब धीरे धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है जीवन संग्राम में प्रवृत्त होकर अनेक अकाण्ड-ताण्डव करता है। फिर भी प्रकृति उसे अंधकार की गुफा में ले जाकर उसका शान्तिमय, रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है।' बिम्बसार का समस्त-जीवन इसी भावना से पूरा है। यद्यपि उस में अधिकार के प्रति मोह भी है, तथापि जगत की क्षणिकता उसे मननशील बना देती है और वह सम्राट होने की अपेक्षा किसी विनम्रलता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल' होना श्रेयकर समझते हैं। दृश्यों की यही नश्वरता मल्लिका के मोह को समाप्त कर देती है और उसके कर्त्तव्य को सुझाती है। वह स्वयं कहती है—'पतित-पावन की अमोघ वाणी ने दृश्यों की नश्वरता की घोषणा की। अब मुझे वह मोह की दुर्बलता-सी दिखाई देती है।"

प्रसाद के दार्शनिक विचारों में नियति का प्रमुख स्थान है। किन्तु प्रसाद की नियतिवादिता अकर्मण्य नहीं बनाती, प्रत्युत कार्य की प्रेरणा देती है। नियति तत्त्व को प्रसाद ने तन्त्रों से ग्रहण किया है, जहाँ उसका अर्थ है 'नियमन हेतु' अर्थात् जीव की स्वातन्त्र्य शक्ति को तिरस्कृत कर उसे निश्चित नियम-पथ पर चलाने वाली शक्ति नियति है। शैवागमों में—जिनसे कि प्रसाद जी अधिक प्रभावित हैं, नियति को माया की सन्तति कहा गया है और माया है शिव की कर्तृत्व शक्ति। अतः परम्परया नियति की उत्पत्ति शिव से ही है। वह कर्म फल-दात्री शिव शक्ति है। इसलिये वह कर्तव्य को प्रेरणा देती है और सफलता तथा

असफलता दोनों ही दशाओं में आनन्द का विधान करती है। 'अजातशत्रु' में भी नियतिवादिता का समावेश प्रसाद ने किया है। इस नाटक में भी नियति प्रेरक शक्ति के रूप में आई है। महाराज बिम्बसार से जीवक स्पष्ट कहता है—"अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियति की डोरी पकड़ कर मैं निर्भय कर्म कूप में कूद सकता हूँ। क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है, वह तो होगा ही, फिर कायर क्यों बनूं—कर्म से क्यों विरत रहूं।"

प्रत्यभिज्ञादर्शन के समरसता के सिद्धान्त को प्रसाद जी ने इस नाटक के अन्त में स्थान दिया है, जहाँ समस्त संघर्षों का अवसान आनन्द में होता है। एक ओर उल्लास के अतिरेक से बिम्बसार की शान्तिमय मृत्यु होती है, दूसरी ओर गौतम का अभय हस्त मंगल का विधान करता है। यही है प्रसाद की समरसता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अजातशत्रु में प्रसाद ने नाटककार को उनके कवि एवं दार्शनिक ने आच्छादित नहीं किया अपितु अधिक चमका दिया है।



'ध्रुवस्वामिनी'

प्रो० सत्येन्द्र चतुर्वेदी एम० ए०

"आज जितने सुधार या समाजशास्त्र के परीक्षात्मक प्रयोग देखे या सुने जाते हैं, उन्हें अचिन्तित या नवीन समझ कर हम बहुत शीघ्र अभारतीय कह सकते हैं; किन्तु मेरा ऐसा विश्वास है कि प्राचीन आर्यावर्त ने समाज की दीर्घकालदायिनी परम्परा में प्रायः प्रत्येक विधान का परीक्षात्मक प्रयोग किया है। तात्कालिक कल्याणकारी परिवर्तन भी हुए हैं।"

प्रसाद जी के उपर्युक्त कथन का आशय यही है कि आज के जमाने की अनेकों समस्यायें जो हम नितान्त नवीन और शतप्रतिशत वर्तमानकाल की देन मालूम पड़ती हैं, सर्वथा नई नहीं है, वरन समाज में किसी न किसी रूप में सदैव विद्यमान रही हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक, उसमें वर्णित समस्याएँ और अन्त में उनका हल इस कथन की पुष्टि करता है।* इस नाटक का कथानक भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग गुप्तकाल का होते हुए भी उन सब समस्याओं पर पर्याप्त प्रकाश डालता है जो अपना युग ढूँढने के लिए आज के भारतीय समाज के समक्ष मुँह बाये खड़े हैं; पर अभी तक उनका कोई सन्तोषजनक निर्णय नहीं हो सका है।

नर नारी अथवा स्त्री पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या सृष्टि के आदि काल से जब से मानव ने होश सँभाला है—यथापूर्व बनी हुई है और पता नहीं रहस्य की यह गूढ़तम गुत्थी कभी सुलझेगी भी या नहीं, पर एक बात स्पष्ट है कि नारी की अतिभावुकतामयी प्रवृत्ति का अनुचित लाभ उठा कर सदैव पुरुष प्रधान समाज ने सभी देशों में—विशेषतः भारतवर्ष में, उनके स्नेह, निश्छलत्याग और निस्वार्थ प्रेम का कोई मूल्य न करके एक प्रकार के उपेक्षा भाव से उसे सदैव लाञ्छित और तिरस्कृत किया है और उसके प्रकृतिदत्त अत्यन्त लज्जा तथा संकोचमय स्वभाव के कारण वह भी पुरुष के इस निर्मम व्यवहार को चुपचाप शान्त भाव से सहन करती आई है, यदा कदा कभी उसने अगर इन अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाई है तो उन्मुक्त और स्वेच्छाचारी पुरुष ने उसकी सहज वृत्तियों का नो विरोध किया ही है, साथ ही उसके भौतिक

अधिकारों का भी दमन किया है। परन्तु भारतीय नारी के धैर्य और सहनशीलता को धन्य है कि उसने उफ तक न की और नित नये प्रतिबन्धों का शिकार बनती रही है। परन्तु प्रत्येक वस्तु और परिस्थिति की कोई न्याय सगत सीमा भी होती है जिसका उल्लघन होने पर उसमें परिवर्तन अवश्यम्भावी हो जाता है। तदनुसार भारतीय नारी भी यह सोचने के लिए विवश हो गई कि चिरकाल से वह पुरुष की इच्छाओं की चेरी और उसके भोगविलास का उपकरणमात्र रही है, परन्तु प्रतिफल उसे क्या मिला? क्या चिरप्रतारणा और पुरुष की कुटिलतापूर्ण मुस्कराहट के लिये ही उसे जीवन प्रदान किया गया है? धीरे-धीरे पुरुष जाति म उसकी आस्था डगमगाने लगी और अन्त म अपनी अधिकार रक्षा के लिये वह स्वय सतर्क और सबद्ध हो गई, पूर्णरूपेण न सही—इस दिशा म सोचने का प्रयास क्या युगों से शोषित नारी के लिए कम साहस पूर्ण कदम है?

कुछ कुछ ऐसी ही स्थिति आज हमें भारतीय समाज म दृष्टिगोचर होती है। हम नारी को अपने म नैसर्गिक, विवेक तथा न्यायसगत अधिकारों के लिए आवाज उठाता हुआ देखते हैं, सदियों के बाद उसे अपनी हीनावस्था का आभास हुआ है और उसने इस स्थिति के निराकरणार्थ करवट बदली है।

काल भेद से यही स्वर हम 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक म सुनाई पड़ता है। नाटक की नायिका और चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता पत्नी ध्रुवस्वामिनी का विवाह शिखरस्वामी के छलकपट से मद्यप और विलासी रामगुप्त के साथ हो जाता है, परन्तु वह सदैव सुरा सुन्दरी में लिप्त नाच गान में मस्त तथा नपुसक, बौने और कुबड़ों की सगति में जीवनयापन करता है। ध्रुवस्वामिनी के सामान्य तर्क से वह घबड़ाता है, उस हीन पौरुष व्यक्ति में अपनी पत्नी के पास ठहरने का साहस ही नहीं, बातें करना तो दूर रहा। सर्वप्रथम रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी से उसे शकराज के पास भेजने के सम्बन्ध में वार्तालाप करता है जबकि वह इस प्रथम सम्भाषण के लिए कृतज्ञता प्रकट करती है, परन्तु इस कुत्सित प्रस्ताव का वह जो उत्तर देती है वह मानो चिरउपेक्षित और चिरतिरस्कृत नारी की पुरुष वर्ग को चुनौती है—"मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशुसम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अवलम्बन बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं

सकते'' ''ध्रुवस्वामिनी का यह कथन आज की अधिकांश भारतीय नारियों की मनोवैज्ञानिक स्थिति का परिचायक है।

परन्तु नारी की रग रग में तो आत्म समर्पण और उत्सर्ग का भाव कूट-कूट कर भरा है। रामगुप्त की भर्त्सना करने के बाद भी वह पुनः उससे याचना करती है कि वह उसे शकराज की शैय्या को सुशोभित करने न भेजे क्योंकि एक स्त्री के दो पति होने के नाते उसका यह प्रथम और परम कर्त्तव्य है कि वह अपनी पत्नी की सदैव प्रत्येक मूल्य पर रक्षा करे। परन्तु निरुद्यमी और शक्तिहीन रामगुप्त में तो उसकी बातें तक सुनने का साहस नहीं है। एक स्थल पर देखते भी हैं कि वह शिखर स्वामी के प्रस्थान करने पर उसके साथ ही जाने को उद्यत होता है, पर ध्रुवस्वामिनी उसका हाथ पकड़ कर उसे बैठा लेती है और उसके पैरों को पकड़ रक्षा की अकिंचन भिक्षा के लिये उसके आगे आँचल पसारती है; साथ ही पुरुषों की वासनापूर्ण स्वार्थमय प्रवृत्ति पर एक बहुत कड़ी चोट करती है—"राज्य और सम्पत्ति होने पर राजा को—पुरुष को बहुत सी रानियाँ और स्त्रियां मिल सकती हैं, किन्तु व्यक्ति का मान नष्ट होने पर फिर नहीं मिलता।" अन्त में ध्रुवस्वामिनी निरुपाय होकर अपनी रक्षा के लिये स्वयं उद्यत होने का संकल्प करती है।

नारी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने पर उसके स्वभाव में हम एक विशेष बात पायेंगे। प्रायः नारी सदैव अपने पति को बल-पौरुष साहसी और उद्यमी व्यक्ति के रूप में देखना चाहती है, न कि सुकुमार, अहर्निश भोगविलास में लिप्त रहने वाले हीन पौरुष व्यक्ति के रूप में। उसकी सदैव यह आकांक्षा रहती है और इसी में वह गर्व का भी अनुभव करती है कि उसका स्वामी स्त्रैण नहीं वरन् पर्याप्त शक्तिशाली, यथेष्ट बलिष्ठ और सब प्रकार की बाधाओं से जूझने में समर्थ है—केवल ऐसा व्यक्ति ही उसके सच्चे प्रेम का अधिकारी हो सकता है, अन्यथा विलासी व्यक्ति से तो वह हृदय के अन्तरतम से घृणा करती है—चाहे परिस्थितियोंवश वैसा प्रत्यक्ष में न कर सके—प्रस्तुत नाटक में भी यही स्थिति दृष्टिगत होती है। ध्रुवस्वामिनी के चन्द्रगुप्त के प्रति सहज स्नेह के अन्याय कारणों में यह भी एक प्रमुख कारण है कि उसका आराध्य अदम्य साहसी, पौरुष का जीवित प्रतीक और शक्ति का पुंज है कठिन परिस्थितियों और दुर्दमनीय कष्टों का हंसते हंसते सामना करने की उसमें सामर्थ्य है, तभी तो ध्रुवस्वामिनी उसके विश्वासपूर्ण मुखमण्डल, को प्रशंसाभाव से स्मरण करती है। अन्य उच्च और उदात्त वृत्तियों के अतिरिक्त

चन्द्रगुप्त जो वह सदैव उसकी रक्षा करने में सर्वथा सशक्त और समर्थ पाती है—उच्च भावनाओं तथा अपने परम्परागत मर्यादा, गौरव और प्रतिष्ठा को अक्षुण बनाए रखने को उसके अन्दर बलवती इच्छा देखती है। एक स्थल पर जब आँखों में आँसू भरकर ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त से उसे शकशिविर में पहुँचाने का अनुरोध करती है—चन्द्रगुप्त का वीरसुलभ स्वभाव उत्तेजित हो जाता है आवेश में वह कहता है—ऐसा नहीं हो सकता महादेवी! जिसे मर्यादा के लिये, मैंने राजदण्ड ग्रहण करके अपना दिया हुआ अधिकार छोड़ दिया उसका यह अपमान। मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पददलित न होना पड़ेगा ' !" और आगे हम देखते भी हैं कि अपने इस दृढ और पुनीत संकल्प की उसने अपने बाहुबल से रक्षा की और अपने अपूर्व साहस का परिचय देते हुए कामलोलुप शकराजको सहज में ही मृत्यु के मुँख में पहुँचा दिया और पर पुरुष की अकगामिनि बनने से ध्रुवस्वामिनी की रक्षा की। अन्यत्र भी जब मद्यप और अकर्मण्य रामगुप्त के आदेश से उसके सैनिक चन्द्रगुप्त को अकारण ही बन्दी बना लेते हैं और ध्रुवस्वामिनी उससे इस निरर्थक दण्ड का प्रतिवाद करने के लिये आग्रह करती है, वह तुरन्त ही ऐसा नहीं करती—स्थिति की अनुकूलता और अवसर की प्रतीक्षा करने के लिये उसके पास पर्याप्त धैर्य्य है, परन्तु रामगुप्त जब सैनिकों को ध्रुवस्वामिनी को बन्दी बनाने के लिये आदेश देता है तथा ऐसा जघन्य कृत्य कर मन्दाकिनी के शब्दों में वह पुरुषार्थ का प्रहसन तथा अबला पर अत्याचार' करने को उद्यत होता है चन्द्रगुप्त के धैर्य्य का बांध टूट जाता है। आवेश में आकर वह लोह शृंखला को एक झटके में ही तोड़ डालता है और अपने आपको शकराज के समस्त अधिकारों का स्वामी घोषित करता है। अन्य बन्दी सामंत कुमारों को भी मुक्त करने के लिये वह सैनिकों को डपटकर आज्ञा देता है, यह सब देखकर रामगुप्त भयातुर बाहर चला जाता है। इस स्थल पर भी हम चन्द्रगुप्त का दृढ़ आत्मविश्वास और अपूर्व बलशाली व्यक्ति के रूप में परिचय पाते हैं। ध्रुवस्वामिनी का चन्द्रगुप्त की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था, एक तो उसने उसकी पवित्रता की रक्षा की द्वितीय आचरण हीन रामगुप्त से उसे मुक्ति दिलाई। वह देखती है और अनुभव करती है एक ओर उसका पति रामगुप्त शक्तिहीन और कापुरुष जो अपनी पत्नी की रक्षा करने में नितांत असमर्थ दूसरी ओर बल पौरुष से युक्त साहसी चन्द्रगुप्त जिसे किसी भी प्रकार की विपत्ति विचलित नहीं कर सकती फिर क्यों न इस झूठे बन्धन को

तोड़कर रामगुप्त से मोक्ष प्राप्त करने का प्रयास करे और अपनी हृदयगंत भावना के अनुसार कुमार चन्द्रगुप्त के साथ स्नेह-बन्धन में आबद्ध हो जाय। शास्त्र के मुख, पुरोहित भी अपनी शास्त्रीय व्यवस्था ध्रुवस्वामिनि के पक्ष में देते हैं—'यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राज—किल्विषी क्लीव है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस अधिकार प्राप्ति के लिए भारतीय नारी भीषण आन्दोलन और भागीरथ प्रयास कर रही है, उसकी प्रगति प्रसाद जी ने गुप्तकाल के उदाहरण द्वारा कर, यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इतिहास के उस प्राचीन युग गुप्त काल में भी मोक्ष-पति-त्याग वैध और शास्त्र सम्मत समझा जाता था और आज भी थोथी आदर्शवादिता को क्षण भर दूर रख कर पूर्ण निष्पक्ष और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सोचने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि नारी का यह अधिकार पूर्णत उचित, विवेक संगत और व्यवहारिक है। पुरुष वर्ग अपनी स्वेच्छाचारिता की पाशविक वृत्त का हनन अपनी आँखों के सामने होते देख नारी के अधिकारों का चाहे कितना ही विरोध क्यों न करे पर अन्याय प्रकार से पीड़ित और प्रताड़ित भारतीय नारी आज ध्रुवस्वामिनी के स्वर में बोलने लगी है, पुरुष की दमन वृत्ति ने उसे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक तथा सचेष्ट कर दिया है।

मुद्रक—राकेशचन्द उपाध्याय, आगरा पॉपूलर प्रेस, मोतीकटरा, आगरा।